श्रमण भगवान् महावीर

कर्ता

पुरातत्त्ववेत्ता पं० कल्याणविजयजी गणी

प्रकाशक

श्रीक० वि० शास्त्रसंग्रहसमिति, जालोर

विक्रम संवत् १९९८ । वीर संवत् २४६८

प्रथमावृत्ति प्रति २०००

मूल्य ३)

प्रकाशक
मंत्री श्री क० वि० शास्त्रसंग्रह समिति
जालोर (मारवाड़)

मुद्रक
ओमप्रकाश कपूर
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस

प्रकाशकीय निवेदन

"श्रमण भगवान् महावीर" ग्रन्थ के प्रकाशन के संबन्ध में दो शब्द लिखते हुए हम एक प्रकार के गौरव का अनुभव करते हैं, क्योंकि कई वर्षों से अनेक विद्वान् और पाठकगण इस ग्रन्थ के दर्शन और पठन के लिये उत्सुक थे। कई जैनसभा सोसाइटियों और जैन जैनेतर पुस्तक प्रकाशकों ने ग्रन्थकार पर पत्र लिखकर इस ग्रन्थ को अपनी तरफ से प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की थी, परन्तु सर्व प्राथमिक हमारी प्रार्थना को ध्यान में रखकर पूज्य ग्रन्थकार ने यह गौरव हमको प्रदान किया यह हमारे लिये कम हर्ष की बात नहीं है।

"श्रमण भगवान् महावीर" इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान् पूज्यपाद पंन्यासजी श्रीकल्याणविजयजी महाराज की एक अनुपम कृति है। इसमें आपने अपना दीर्घकालीन अनुभव और आगम तथा इतिहास विषयक उच्च ज्ञान किस प्रकार दिल खोलकर भरा है इसका वर्णन करना हमारा कर्तव्य नहीं। पाठकगण स्वयं इसका निर्णय कर लेंगे।

ग्रन्थ का मुद्रण संबन्धी कार्य पूज्य ग्रन्थकर्ता की संमति से काशी-हिन्दू विश्व-विद्यालय के एक ग्रेज्युएट जैन विद्वान् को सौंपा गया था जिससे मुद्रणकार्य सत्वर संपन्न हो गया, परन्तु ग्रन्थकार के स्वयं प्रूफ न देखने के परिणामस्वरूप कुछ अशुद्धियाँ रह गई थीं जिनका शुद्धिपत्र लगाकर परिमार्जन किया गया है पाठक इसका उपयोग करें।

युद्धकालीन परिस्थिति को देखते हुए हम इस ग्रन्थ का प्रकाशन कुछ विलंब में डाल देते पर हमारे सहायकगण ने हमें इस प्रमाद से बचा लिया, फलस्वरूप हमने इस कागज के दुष्काल में भी इसे छपाने का साहस किया और वर्षभर में ग्रन्थ छप कर तैयार भी हो गया।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में हमें जिन सज्जनों ने अग्रसहायक और अग्रग्राहक बनकर सहायता दी है उनकी शुभनामावली इसके साथ जोड़ दी गई है।

अन्त में पूज्यग्रन्थकार तथा सहायकगण का हम हृदय से आभार मानते हैं जिन्होंने कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन का सुयोग हमें प्रदान किया है।

निवेदक

सा० सुखराज नवलमलजी

सा० वसतिमल्ल चमनाजी

मंत्री श्रीक० वि० शास्त्रसंग्रहसमिति

जालोर (मारवाड़)

अग्रसहायक तथा अग्रग्राहक सद्गृहस्थों की

शुभ नामावली

५००) सा० हांसाजी मगाजी की धर्मपत्नी बाई धनी, हस्ते सा० लक्ष्मीचंदजी कस्तुरचंदजी मगाजी, जालोर।

४००) वोरा वैजराजजी चोथमलजी, जालोर, (अपनी माता केशीबाई के ज्ञानभक्त्यर्थ)।

२५०) सा० वछाजी नरसिंहजी की धर्मपत्नी बाई धापु की तरफ से, हस्ते ट्रस्टी सा० नवलमलजी, लक्ष्मीचंदजी, कस्तुरचंदजी, जालोर।

२५०) जालोर निवासी सा० जेताजी भगवान्जी की धर्मपत्नी बाई-धनी की तरफ से, हस्ते ट्रस्टी सा० नवलमलजी गोराजी, लक्ष्मीचंदजी मगाजी, जालोर, तथा सा० जवानमलजी दलाजी, तखतगढ़।

१५०) सा० नवलमलजी मूलचंदजी हनादरावाले, जालोर।

१०१) सा० सरूपजी गुलाबचंदजी की धर्मपत्नी बाई कसुंबी की तरफ से, हस्ते सा० समर्थमलजी हीराजी, जालोर।

१००) सा० पूनमचंदजी रुघनाथजी की धर्मपत्नी बाई धनां की तरफ से, हस्ते ट्रस्टी सा० नवलमलजी मूलचंदजी हनादरावाले, जालोर।

५०) सा० नवलमलजी गोराजी, जालोर।

५०) सा० कस्तुरचंदजी मगाजी, जालोर।

५००) स्वर्गीय भंडारी चोथमलजी, जवानमलजी, भानमलजी, नवलाजी मासिंगजी के श्रेयोऽर्थ भंडारी देवीचंदजी चोथमलजी तथा भंडारी मिश्रीमलजी जवानमलजी, वास-लेटा।

२००) भंडारी खुमाजी चूनीलालजी, वास-लेटा।

७५) भंडारी ताराचंदजी धनाजी, वास-लेटा।

२०१) श्रीजैनसंघ, मांडोणी (सिरोहि स्टेट)

१०१) सा० धर्मचंदजी गणेशमलजी बनाजी, मांडोणी।

१००) सा० कुन्दनमलजी गेनाजी, हरजी।

५०) सा० सेसमलजी, भभुतमलजी देवाजी, अगवरी।

५०) सा० तिलोकचंदजी शेराजी, अगवरी।

श्रीजालोर (मारवाड़) की प्रसिद्ध संस्था

श्रीवर्धमान जैन विद्याभवन को

याद कीजिये

इस संस्था में जैन बालकों को धार्मिक और व्यावहारिक शिक्षण मिल रहा है। दुष्कालों और वर्तमान युद्ध के कारण संस्था की आर्थिक स्थिति अभी नहीं सुधरी। अतः श्रीमान् दानवीर इस तरफ लक्ष्य देकर संस्था को निम्नलिखित रीति से सहायता प्रदान करें।

(१) ७५१) रु० देकर दोनों टाइम मीठे भोजन की स्थायी मिति,

(२) ५०१) में एक टाइम मीठे अथवा दो टाइम सादे भोजन की स्थायी मिति,

(३) ३०१) में एक टाइम सादा भोजन की स्थायी मिति लिखवाकर।

(४) ४०१), ५०१), १००१), २५०१), ५००१) और ६००१) की लागत के मकानों में से किसी एक पर अपने नाम का शिला-लेख खुदवाकर।

(५) संस्था में बरतन, कपड़ा, पुस्तक, स्टेशनरी, फर्निचर आदि सामान भेंट देकर।

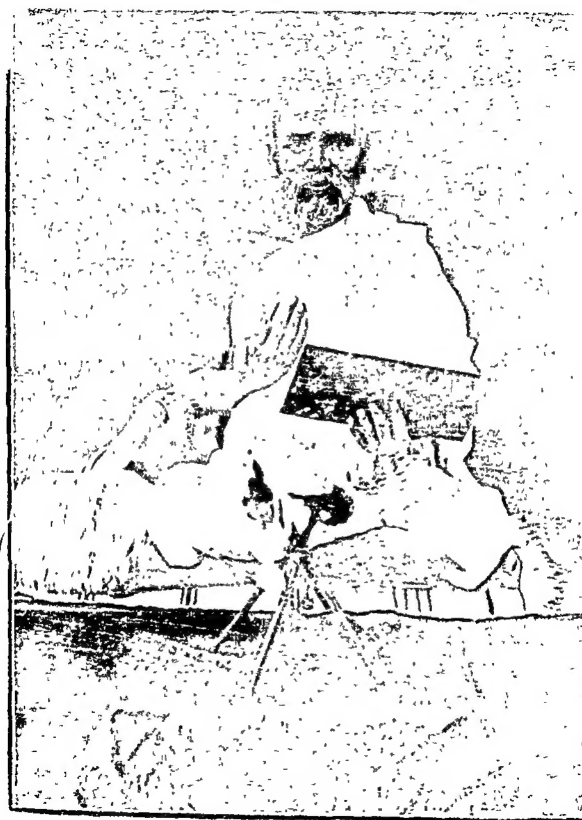
(६) किसी एक अध्यापक को अपनी तरफ से वेतन देकर।

उपर्युक्त उपायों में से किसी भी एक उपाय से आप संस्था को सहायता कर सहायक बन सकते हैं।

निवेदक—

मंत्री श्रीवर्धमान जैन विद्याभवन,
जालोर (मारवाड़)

इस ग्रंथ के लेखक



प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पंन्यास श्री कल्याण विजयजी महाराज

प्रस्तावना



१ प्राक्कथन—

प्रस्तुत ग्रन्थ 'श्रमण भगवान् महावीर' के निर्माण का संकल्प हमने आज से बीस वर्ष पहले किया था।

संवत् १९७६ का हमारा वर्षाचातुर्मास्य पालीताना (काठियावाड़) में था। उस समय पण्डित बेचरदासजी दोशी ने अपने एक भाषण में देवद्रव्य की अशास्त्रीयता बताई जिससे जैनसंघ में देवद्रव्य की चर्चा चल पड़ी। हमने एक विस्तृत लेख लिख कर पण्डितजी को उनकी बातों का उत्तर दिया।

हमारे लेख ने जैनसमाज में पर्याप्त जागृति उत्पन्न की। कई प्रसिद्ध जैन साधुओं और विद्वानों ने उस लेख की प्रशंसा करने के साथ उसकी पाँच हजार कॉपियाँ पुस्तकाकार छपवा कर प्रचार करने का भी अनुरोध किया। ठीक उसी प्रसंग पर कई जैन गृहस्थों ने भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र लिखने की हमें प्रार्थना की और इसके लिये यथाशक्ति सहायता देने के वचन दिये। हमने यथाशक्य प्रयत्न करने का विश्वास दिलाया और मानसिक संकल्प किया कि जैसे भी होगा श्रमण भगवान् के संबन्ध में अवश्य लिखा जायगा।

सम्वत् १९७८ के पालणपुर के चातुर्मास्य में उक्त संकल्पानुसार भगवान् का जीवन-चरित्र लिखना प्रारंभ किया और स्वास्थ्य ठीक न होने पर भी थोड़ा बहुत लिखा।

पालणपुर से मारवाड़ में आये। हमारे लिये मारवाड़ महान् प्रवृत्तिमय क्षेत्र है। वर्षाकाल के दो तीन महीनों के अतिरिक्त यहाँ हमें साहित्यिक प्रवृत्ति के लिये समय नहीं मिलता। चातुर्मास्य में भी जब-जब इस कार्य को हाथ में लेते तब-तब बहुत-सी बातें जानने की आवश्यकता उपस्थित होती। यद्यपि सामग्री की न्यूनता न थी फिर

भी कई वार नये ग्रन्थ मँगाने पड़ते। इस प्रकार बहुत सी पुस्तकें मँगानी और पढ़नी पड़ीं।

संवत् १९८५ के वर्ष में गुजराती भाषा में महावीर-चरित्र तैयार हो गया, पर तब तक हमारे विचारों में खासा परिवर्तन हो चुका था। हमें इस कार्य की प्रेरणा गुजरात से मिली थी और विहार भी तब गुजरात में कर रहे थे अतः ग्रन्थ गुजराती भाषा में बनाना था। परन्तु बाद में तुरन्त मारवाड़ आना हुआ और संयोग बदल गये।

दूसरा एक और भी कारण था। हमने जो गुजराती में चरित लिखा था उसकी पद्धति प्राचीन चरित्रों से अधिक मिलती थी परन्तु बाद में यह पद्धति हमें ठीक नहीं जँची, क्योंकि इस पद्धति के चरित्र अनेक बन चुके थे जिनका जैनसमाज ने उचित आदर नहीं किया। इसलिये हमने उस गुजराती चरित्र को बिलकुल रद्द करके नये सिरे से हिन्दी में लिखना आरंभ किया जो वर्षाकाल के दिनों में थोड़ा-थोड़ा चलता और कभी-कभी वर्षाकाल में भी अन्यान्य तत्कालिक कार्यों के उपस्थित होने पर बन्द रहता। इस प्रकार अति मन्दगति से चलता हुआ हमारा काम अब पूरा हुआ।

२ सामग्री—

अवकाशाभाव के अतिरिक्त एक और भी विलंब का कारण था और वह था मौलिक साधनों की अव्यवस्थितता।

भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र की मौलिक सामग्री का निर्देश करते समय हम सर्वप्रथम आचाराङ्ग, कल्पसूत्र और आवश्यकनिर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि तथा टीका पर दृष्टिपात करेंगे। क्योंकि मौलिकरूप से इन्हीं सूत्रों में श्रमण भगवान् के जीवन-चरित्र संबन्धी वृत्तान्त उपलब्ध होते हैं।

उक्त सूत्रों के अतिरिक्त आचार्य श्री नेमिचन्द्र, गुणचन्द्र तथा हेमचन्द्रसूरिकृत मध्यकालीन 'महावीर-चरितों' में भी भगवान् के जीवन-चरित्र के 'कुछ अंश' संगृहीत हैं।

हमारे इस 'कुछ अंश' का तात्पर्य यह है कि इन सभी ग्रन्थों में व्यवस्थितरूप से भगवान् की छद्मस्थावस्था की ही चर्चा है। केवलि-

जीवन के ३० वर्ष का लंबा समय भगवान् ने कहाँ व्यतीत किया, कौन-सा वर्षाचातुर्मास्य किस स्थान में किया और वहाँ क्या-क्या धर्म-कार्य हुए, कौन-कौन प्रतिबोध पाये इत्यादि बातों का कहीं भी निरूपण नहीं मिलता। पिछले चरित्रों में भगवान् के केवलि-जीवन के कतिपय प्रसंगों का वर्णन अवश्य दिया है, परन्तु उनमें भी काल-क्रम न होने से चरित्र की दृष्टि से वे महत्त्वहीन हो गये हैं। यह सब होते हुए भी हमने इन चरित्रों का उपयोग किया है। आगे हम इनका क्रमशः 'क' 'ख' और 'ग' चरित्र के नाम से उल्लेख करेंगे।

हमारी शिकायत केवल चरित्रों के संबन्ध में ही नहीं वल्कि मौलिक सामग्री की अव्यवस्था के सम्बन्ध में भी है। आचाराङ्गसूत्रकार भगवान् के तप के संवन्ध में लिखते हैं—

"छट्ठेणं एगया भुंजे अहवा अट्ठमेणं दसमेणं दुवालसमेणं एगया भुंजे।"

अर्थात्—'वे कभी दो उपवास के बाद भोजन करते हैं, कभी तीन, कभी चार और कभी पाँच उपवास के अन्त में भोजन करते हैं।'

अब आवश्यक-निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णिकार का मत देखिये। इन ग्रन्थों में महावीर के सम्पूर्ण तप और पारणा के दिन गिनाये गये हैं, जिनमें चार और पाँच उपवास के तप का उल्लेख नहीं है।

इसी प्रकार आवश्यक में महावीर की छद्मस्थावस्था का समय बराबर १२ वर्ष ६ मास और १५ दिन का माना है और इसी हिसाब से उनके तप और पारणों की दिन-संख्या मिलाई है; परन्तु महावीर ने मार्गशीर्ष कृष्णा १०मी को दीक्षा ली और तेरहवें वर्ष वैशाख शुक्ला १०मी को केवलज्ञान पाया। यह छद्मस्थकाल सौर वर्ष की गणना से १२ वर्ष और साढ़े पाँच मास, प्रकर्म संवतसर की गणना से १२ वर्ष साढ़े सात मास और चान्द्र संवतसर की गणना से १२ वर्ष साढ़े नौ मास होता है। आवश्यककार की कही हुई १२ वर्ष साढ़े छः मास की संख्या किसी भी व्यावहारिक गणना से सिद्ध नहीं होती।

सामग्री की इस अव्यवस्थितता ने हमारे मार्ग में कठिन समस्या उपस्थित की। जिस सामग्री के भरोसे हमने कार्य प्रारंभ किया था

उस की अपूर्णता से हमारा उत्साह यद्यपि कुछ समय के लिये मन्द हो गया तो भी हमारा निश्चय नहीं बदला। 'भले ही विलम्ब हो पर चरित्र तो अवश्य ही लिखा जायगा' हमारे इस संकल्प ने हमें विशेष साहित्य के अनुशीलन की तरफ प्रवृत्त किया और यथाशक्य सब आगमों का अवलोकन करने के साथ उनमें से जो जो चरितांश मिले और हमें ठीक लगे उनका संग्रह कर घटनाक्रम से योजना की जिसका सारांश नीचे लिखे मुजब है।

(१) भगवान् का छद्मस्थजीवन—

भगवान् का छद्मस्थजीवन सब ग्रन्थों में एक-सा व्यवस्थित है अतः इस विषय में हमें अधिक परिश्रम नहीं उठाना पड़ा। इस चरित भाग को हमने कल्पसूत्र तथा आवश्यकचूर्णि के ऊपर से संक्षेप रूप में लिख कर लगभग साढ़े बारह वर्ष की जीवनी थोड़े से पृष्ठों में रख दी है।

(२) केवलि-जीवन का रेखाचित्र—

हम ऊपर कह आये हैं कि सूत्र और चरित्र ग्रन्थों में भगवान् का केवलि-जीवन नहीं लिखा, इसलिए इस के लिखने और व्यवस्थित करने में हमें पर्याप्त श्रम उठाना पड़ा। इस भाग की हमने जिस ढंग पर योजना की है उसका ठीक स्वरूप तो ग्रन्थ के पढ़ने से ही ज्ञात होगा तथापि संक्षेप में आभास कराने के लिए हम उसका रेखाचित्र दिखाते हैं।

श्रमणजीवन का १३ वाँ वर्ष (वि० पू० ५००-४९९)—ऋजुवालुका के तटपर केवलज्ञान। रातभर में पावामध्यमा के महासेन उद्यान में पहुँचना। महासेन के द्वितीय समवसरण में संघस्थापना। वहाँ से विहारक्रम से राजगृह जाना। राजगृह के समवसरण में मेघकुमार, नन्दीषेण आदि की प्रव्रज्यायें। सुलसा, अभय कुमार आदि का गृहस्थ-धर्म-स्वीकार। श्रेणिक को सम्यक्त्वप्राप्ति। वर्षावास राजगृह में किया।

१४ वाँ वर्ष (वि० पू० ४९९-४९८)—वर्षा काल के बाद विदेह की

तरफ विहार। ब्राह्मण-कुण्ड में ऋषभदत्त आदि की दीक्षायें। वर्षावास वैशाली में किया।

१५ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६८-४६७)—चातुर्मास्य के समाप्त होने पर वत्सभूमि की तरफ विहार। कौशाम्बी के उद्यान में जयन्ती की धर्मचर्चा और दीक्षा। वहीं से कोशल की तरफ प्रयाण। श्रावस्ती में सुमनोभद्र, सुप्रतिष्ठ की दीक्षायें। विदेह को विहार। वाणिज्यग्राम में गाथापति आनन्द और उसकी पत्नी शिवानन्दा का निर्ग्रन्थ-प्रवचन-स्वीकार और श्राद्धधर्म के द्वादश व्रतों का लेना। वर्षावास वाणिज्य-ग्राम में किया।

१६ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६७-४६६)—वाणिज्यग्राम से मगध की तरफ विहार। राजगृह में समवसरण। कालविषयक प्ररूपण। धन्य, शालिभद्र आदि की दीक्षायें। वर्षावास राजगृह में।

१७ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६६-४६५)—वर्षा ऋतु के बाद चम्पा की तरफ विहार। चम्पा में महचन्द्र आदि की दीक्षायें। कामदेव आदि का गृहस्थधर्म-स्वीकार। उदायन के मानसिक अभिप्राय को जान कर वीतभय की तरफ विहार। उदायन की दीक्षा। फिर विदेह की तरफ विहार। बीच में भूख-प्यास से श्रमणों को कष्ट। वर्षावास वाणिज्य-ग्राम में।

१८ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६५-४६४)—बनारस आलभिकादि नगरों में होते हुए राजगृह की तरफ प्रयाण। बनारस में चूलनीपिता और सुरादेव का निर्ग्रन्थप्रवचन स्वीकार, आलभिया में पोग्गल परिव्राजक को प्रतिबोध, चुल्लशतक का श्रमणोपासक होना, राजगृह में समवसरण, मंकाती अर्जुन काश्यप आदि अनेक गृहस्थों की दीक्षायें। वर्षावास राजगृह में।

१९ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६४-४६३)—मगध भूमि में ही विहार, आर्द्रक मुनि के सामने गोशालक के महावीर पर आक्षेप, राजगृह में अभयकुमार, जालि, दीर्घसेनादि २१ राजकुमारों और श्रेणिक की नन्दा आदि १३ रानियों की दीक्षायें। वर्षावास राजगृह में।

२० वाँ वर्ष (वि० पू० ४६३-४६२)—वत्सदेश की तरफ विहार, बीच में आलभिया में समवसरण, ऋषिभद्र श्रमणोपासक की बात का समर्थन, कौशाम्बी में मृगावती और चण्डप्रद्योत की रानियों की दीक्षा, विदेह की तरफ विहार। वर्षावास वैशाली में।

२१ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६२-४६१)—वर्षाकाल के बाद मिथिला की तरफ प्रयाण, वहाँ से काकन्दी, श्रावस्ती हो कर पश्चिम के जनपदों में विहार। अहिच्छत्र, राजपुर, काम्पिल्य, पोलासपुर आदि नगरों में समवसरण, काकन्दी में धन्य, सुनक्षत्र आदि की दीक्षायें, काम्पिल्य में कुण्डकौलिक और पोलासपुर में सद्दालपुत्र का निर्ग्रन्थ-प्रवचन-स्वीकार। वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

२२ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६१-४६०)—मगधभूमि की तरफ विहार, राजगृह में महाशतक का श्रावकधर्म-स्वीकार। पार्श्वापत्यों के प्रश्नोत्तर और महावीर की सर्वज्ञता का स्वीकर। वर्षावास राजगृह में।

२३ वाँ वर्ष (वि० पू० ४६०-४८६)—पश्चिम दिशा में विहार। कचंगला में स्कन्धक कात्यायन को प्रतिबोध, श्रावस्ती में नन्दीपिता और सालिहीपिता का श्राद्धधर्म-स्वीकार। वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

२४ वाँ वर्ष (वि० पू० ४८६-४८८)—ब्राह्मणकुण्ड के बहुसाल चैत्य में समवसरण, जमालि का शिष्यपरिवार के साथ भगवान् से पृथक् होना, वत्सभूमि की तरफ विहार। चन्द्र सूर्य का अवतरण। मगध की तरफ प्रयाण। राजगृह में समवसरण। पार्श्वापत्यों की देशना का समर्थन। अभयकुमार आदि का अनशन। वर्षावास राजगृह में।

२५ वाँ वर्ष (वि० पू० ४८८-४८७)—चम्पा की तरफ विहार। चम्पा में श्रेणिकपौत्र पद्म, महापद्मादि दस राजकुमार तथा जिन-पालितादि अनेक गृहस्थों की दीक्षायें। पालितादि गृहस्थों का श्राद्धधर्म-स्वीकार। वहाँ से विदेहमिथिला की तरफ विहार। काकन्दी में क्षेमक, धृतिधर आदि की दीक्षायें, वर्षावास मिथिला में।

२६ वाँ वर्ष (वि० पू० ४८७-४८६)—अंगदेश की तरफ प्रयाण, चम्पा में श्रेणिक की काली आदि दस विधवा रानियों की दीक्षायें। पुनः मिथिला को विहार। वर्षावास मिथिला में।

२७वाँ वर्ष (वि० पू० ४८६-४८५)—मिथिला से वैशाली के निकट होकर श्रावस्ती की तरफ विहार, बीच में वेहास (हल्ल) वेहल्ल राजकुमारों की दीक्षायें। श्रावस्ती के उद्यान में गोशालक मंखलिपुत्र का उपद्रव। जमालि का निह्नवत्व। मेंढियग्राम के सालकोष्ठक चैत्य में भगवान् की सख्त बीमारी और रेवती के औषध से उसकी शान्ति। वर्षावास मिथिला में।

२८वाँ वर्ष (वि० पू० ४८५-४८४)—कोशल-पाञ्चाल की तरफ विहार। श्रावस्ती, अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर, मोकानगरी, आदि नगरों में समवसरण। श्रावस्ती में गौतम और केशीकुमार श्रमण की धर्मचर्चा। हस्तिनापुर में शिवराजर्षि, पुट्टिल आदि की दीक्षायें। वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

२९वाँ वर्ष (वि० पू० ४८४-४८३)—वर्षाऋतु के बाद राजगृह की तरफ विहार। राजगृह में आजीवकों के प्रश्न। अनेक मुनियों के अनशन। वर्षावास राजगृह में।

३०वाँ वर्ष (वि० पू० ४८३-४८२)—चम्पा की तरफ प्रयाण। कामदेव के धैर्य की प्रशंसा। पृष्ठचम्पा में साल महासाल की दीक्षायें। दशार्ण देश की तरफ विहार। दशार्णभद्र राजा की दीक्षा। विदेह की तरफ गमन। वाणिज्यग्राम में सोमिल ब्राह्मण का निर्ग्रन्थप्रवचन-स्वीकार। वर्षावास वाणिज्यग्राम में।

३१वाँ वर्ष (वि० पू० ४८२-४८१)—कोशल-पाञ्चाल की तरफ विहार। साकेत, श्रावस्ती, काम्पिल्य आदि में समवसरण। काम्पिल्यपुर में अम्बड परिव्राजक का निर्ग्रन्थप्रवचन-स्वीकार। वर्षावास वैशाली में।

३२वाँ वर्ष (वि० पू० ४८१-४८०)—विदेह, कोशल, काशी के प्रदेशों में विहार। वाणिज्यग्राम में गांगेय के प्रश्नोत्तर। वर्षावास वैशाली में।

३३वाँ वर्ष (वि० पू० ४८०-४७९)—शीतकाल में मगध की तरफ विहार। राजगृह में समवसरण। चम्पा को विहार। दर्मियान पृष्ठचम्पा में पिठर, गागलि आदि की दीक्षायें। वर्षावास राजगृह में।

३४वाँ वर्ष (वि० पू० ४७९-४७८)—गुणशील चैत्य में कालोदायी

को प्रतिबोध । नालन्दा में गौतम और पेढालपुत्र का संवाद । जालि, मयालि आदि मुनियों के विपुलाचल पर अनशन । वर्षावास नालन्दा में ।

३५ वाँ वर्ष (वि० पू० ४७८-४७७)—विदेह की तरफ प्रयाण । वाणिज्यग्राम के समवसरण में सुदर्शनश्रेष्ठि को प्रतिबोध । वाणिज्यग्राम के पास कोल्लाग सन्निवेश में आनन्द श्रमणोपासक के साथ इन्द्रभूति गौतम का अवधिज्ञानविषयक वार्तालाप । वर्षावास वैशाली में ।

३६ वाँ वर्ष (वि० पू० ४७७-४७६)—कोशल, पाञ्चाल, सूरसेनादि देशों में विहार । साकेत में कोटिवर्ष नगर के किरातराज की दीक्षा । कांपिल्य, सौर्यपुर, मथुरा, नन्दीपुर आदि नगरों में समवसरण । पुनः विदेह में विहार । वर्षावास मिथिला में ।

३७ वाँ वर्ष (वि० पू० ४७६-४७५)—मगध की तरफ विहार । राजगृह में समवसरण । अन्यतीर्थिकों के आक्षेपक प्रश्न, कालोदायी के प्रश्न । अनेक दीक्षायें । गणधर प्रभास तथा अनेक मुनियों का निर्वाण । वर्षावास राजगृह में ।

३८ वाँ वर्ष (वि० पू० ४७५-४७४)—मगधभूमि में ही विहार । राजगृह के समवसरण में अन्यतीर्थिकों की क्रियाकाल निष्ठाकालादि विषयक मान्यताओं के संबन्ध में गौतम के अनेक प्रश्नोत्तर । गणधर अचलभ्राता और मेतार्य का निर्वाण । वर्षावास नालन्दा में ।

३९ वाँ वर्ष (वि० पू० ४७४-४७३)—विदेहभूमि की तरफ विहार । मिथिला के माणिभद्र चैत्य में ज्योतिषशास्त्र की प्ररूपणा । वर्षावास मिथिला में ।

४० वाँ वर्ष (वि० पू० ४७३-४७२)—विदेहभूमि में ही विहार, अनेक दीक्षायें । वर्षावास मिथिला में ।

४१ वाँ वर्ष (वि० पू० ४७२-४७१)—मगध की तरफ विहार । राजगृह में समवसरण । महाशतक श्रमणोपासक को हित-संदेश । उष्ण जलह्रद, आयुष्यकर्म, मनुष्य लोक की मानववसति, दुःखमान, एकान्त दुःख वेदना आदि के संबन्ध में प्रश्नोत्तर । अग्निभूति और वायुभूति का निर्वाण । वर्षावास राजगृह में ।

४२वाँ वर्ष (वि० पू० ४७१-४७०)—वर्षा ऋतु के बाद भी अधिक समय तक राजगृह में स्थिरता। छठे आरे के भारत और उसके मनुष्यों का वर्णन, अव्यक्त, मण्डित, मौर्यपुत्र और अकम्पिक नामक गणधरो के निर्वाण। पावामध्यमा की तरफ विहार। पावा के राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा में वर्षावास। अन्तिम उपदेश। कार्तिक अमावस्या की रात्रि में निर्वाण और गौतम गणधर को केवल-ज्ञान-प्राप्ति।

३ उपपत्ति—

भगवान् महावीर के केवलिजीवन संबन्धी जो सालवार विहार-क्रम हमने ऊपर दिया है उसकी उपपत्ति निम्नलिखित विवरण से ज्ञात होगी।

(१) 'क' और 'ग' चरित्रों के लेखानुसार भगवान् मध्यमा से विहार कर राजगृह गये थे। जल्दी से जल्दी भगवान् मध्यमा से ज्येष्ठ के कृष्णपक्ष में निकले होंगे और सामान्य विहारक्रम से चलते हुए वे ज्येष्ठ के शुक्लपक्ष में राजगृह पहुँचे होंगे। पहला ही समवसरण था और अनेक दीक्षायें भी हुई थीं, इस लिए भगवान् ने वहाँ पर्याप्त समय तक स्थिरता की होगी यह निश्चित है। इस दशा में पहले वर्ष का वर्षावास भी उन्होंने राजगृह में ही किया होगा। यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है।

भगवान् महावीर के केवलि-अवस्था के वर्षावास संबन्धी केन्द्र तीन ही थे। १ राजगृह-नालन्दा, २ वैशाली-वाणिज्यग्राम और ३ मिथिला। इनमें से पिछले दो केन्द्र दूर थे, वर्षाकाल अति निकट था, श्रमणसंघ नया था और समय प्रचण्ड ग्रीष्म का था, राजगृह जैसा पूर्व परिचित क्षेत्र था। इन सब बातों का विचार करने पर भी यही हृदयंगत होता है कि वर्षावास भगवान् ने राजगृह में किया होगा।

(२) 'ख' चरित्र भगवान् का सीधा ब्राह्मणकुण्ड जाना बताता है, क्योंकि उसके मत से राजगृह के पास वाला आधुनिक 'कुण्डलपुर'

स्थान ही 'ब्राह्मणकुण्ड' था। परन्तु वास्तव में ब्राह्मणकुण्डपुर वैशाली के पास था जो राजगृह के बाद आता था। इस दशा में ब्राह्मणकुण्ड जाने का तात्पर्य हम यही समझते हैं कि राजगृह में वर्षावास पूरा होने के बाद वे विदेहभूमि में गये थे और ब्राह्मणकुण्ड क्षत्रियकुण्ड आदि में ऋषभदत्त जमालि आदि को दीक्षायें दी थीं।

(३) 'ख' के लेखानुसार भगवान् ब्राह्मणकुण्ड से क्षत्रियकुण्ड हो कर कौशाम्बी गये थे और वहाँ से फिर वाणिज्यग्राम जाकर आनन्द गाथापति को श्रमणोपासक बनाया था। विदेह से वत्सदेश और वत्स से फिर विदेह में आने के बाद उनका वर्षावास वैशाली-वाणिज्यग्राम में होना ही अवसर प्राप्त था। इसी आधार पर तीसरा वर्षावास हमने वाणिज्यग्राम में बताया है।

(४) 'ख' और 'ग' दोनों के मत से भगवान् वाणिज्यग्राम से चम्पा की तरफ विचरे थे और कामदेव गाथापति को श्रमणोपासक बनाया था, परन्तु हमारे विचार के अनुसार वे सीधे चम्पा न जाकर पहले राजगृह गये थे और वर्षावास वहीं व्यतीत करने के बाद चम्पा गये थे।

भगवतीसूत्र में भगवान् के चम्पा से वीतभय जाकर उदायन राजा को दीक्षा देने का लेख है। उदायन अभयकुमार के पहले दीक्षित हो चुके थे। यही नहीं बल्कि वे ग्यारह अंग-पाठी मुनि थे। इन बातों पर से यही मानना पड़ता है कि उदायन की दीक्षा बहुत पहले की घटना है। अतः भगवान् इसी विहार-क्रम में चम्पा से वीतभय गये होंगे, यह भी सिद्ध है। यदि वाणिज्यग्राम से चम्पा और चम्पा से वीतभय जाने की बात मानी जाय तो विहार बहुत लंबा हो जाता है। यों ही चम्पा से वीतभय एक हजार मील से भी अधिक दूर है, वाणिज्यग्राम से चम्पा हो कर वीतभय जाने में यह दूरी एक सौ पच्चीस मील के लगभग और भी बढ़ जाती है, इसलिये राजगृह से चम्पागमन मानना ही उचित प्रतीत होता है।

(५) वीतभय से भगवान् ने उसी वर्ष में अपने केन्द्रों की तरफ विहार किया था और गर्मी के कारण स्थलभूमि में उनके श्रमण

शिष्यों ने भूख-प्यास से बहुत कष्ट उठाया था। इस से ज्ञात होता है कि भगवान् ग्रीष्मकाल के निकट आने पर वीतभय से निकले होंगे और वर्षाकाल के पहले पहले वे अपने केन्द्र में पहुँच गये होंगे और इस अति दीर्घ विहार के बाद उन्होंने सब से निकट के केन्द्र वाणिज्यग्राम में ही वर्षावास किया होगा, यह कहने की शायद ही जरूरत होगी।

(६) 'ख' और 'ग' ने चम्पा से भगवान् का बनारस और आलभिका की तरफ विहार करना लिखा है, परन्तु हम देख आए हैं कि चम्पा से भगवान् वीतभय गये थे और वहाँ से वाणिज्यगाँव में वर्षा चातुर्मास्य किया था। इस दशा में चम्पा से सीधा बनारस, आलभिका आदि नगरों में जा कर चुलनीपिता आदि को प्रतिबोध देना असंभव प्रतीत होता है; अतः हमने यह कार्यक्रम वाणिज्यगाँव के वर्षावास के बाद में रक्खा है।

उक्त चरित्रों के कथनानुसार आलभिया से भगवान् का विहार काम्पिल्य की तरफ होता है, परन्तु इतने विहार के बाद आलभिया से राजगृह न जाकर भगवान् काम्पिल्य की तरफ विचरें, यह बात हृदय कबूल नहीं करता। चरित्रों का मत आनन्दादि दस ही श्रावकों का वर्णन एक सिलसिले में करने का होने से उन्होंने आलभिया के बाद भगवान् का काम्पिल्य जाना लिखा है, परन्तु वास्तव में वे आलभिया से राजगृह गये होंगे, क्योंकि एक तो अन्य केन्द्रों से वह निकट पड़ता था, दूसरे वहाँ निर्ग्रन्थ-प्रवचन का प्रचार करने का अनुकूल समय था, सपत्नीक श्रेणिक और उनके पुत्रों की भगवान् के ऊपर अनन्य श्रद्धा हो चुकी थी और पिछले दो वर्षावासों में उन्हें वहाँ पर्याप्त लाभ मिल चुका था। इन बातों पर खयाल करने से यही कहना पड़ता है कि आलभिया से भगवान् का राजगृह जाना ही युक्तिसंगत है। श्रेणिक ने भगवान् के केवलिजीवन के १० वर्ष भी पूरे नहीं देखे थे फिर भी राजगृह के अधिकांश समवसरणों के प्रसंगों में श्रेणिक का नामोल्लेख मिलता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि श्रेणिक के जीवित काल में भगवान् राजगृह में विशेष विचरे थे। इस दशा में आलभिया में चुल्लगतक

को प्रतिवोध देने के बाद भगवान् का राजगृह जाना और दो एक वर्षावास वहाँ करना विलकुल स्वाभाविक प्रतीत होता है।

(७) छठे वर्षावास के दर्मियान राजगृह में मंकाती आदि समृद्ध गृहस्थों की दीक्षाओं से तथा अपनी भावि गति के श्रवण से श्रेणिक के मन पर इतना भारी असर पड़ा था कि उसने नगरजनों को ही नहीं, अपने कुटुम्बीजनों को भी दीक्षा की आम परवानगी दे दी थी। भगवान् ने इस अवसर को लाभदायक पाया और द्वितीय वर्षावास भी राजगृह में करके अपनी उपदेशधारा चालू रक्खी थी। इसका परिणाम जो आया वह प्रत्यक्ष है। श्रेणिक के २१ पुत्रों और १३ रानियों ने एक साथ श्रमणधर्म की दीक्षा ली और अनेक नागरिकजनों ने श्रमण और गृहस्थधर्म का स्वीकार किया, यह परिणाम बताता है कि भगवान् ने राजगृह में कितनी स्थिरता की होगी।

(८) 'ग' चरित्र के अभिप्राय से भगवान् राजगृह में विहार कर कौशाम्वी गये थे और मृगावती आदि को दीक्षा दी थी। हमारे विचार से वे उपर्युक्त दो वर्षावास राजगृह में करके ही कौशाम्बी गये थे और मृगावती अंगारवती आदि को दीक्षा दे कर विदेह की तरफ विचरे थे। 'ग' के मत से यह कौशाम्बी का प्रथम समवसरण था। इसी कारण से उन्होंने आनन्दादि श्रावकों के प्रतिवोध का वर्णन इस के वाद किया है, परन्तु वास्तव में जिस समवसरण में मृगावती की दीक्षा हुई थी वह कौशाम्बी का द्वितीय समवसरण था। प्रथम समवसरण में मृगावती ने नहीं, उनकी ननद जयन्ती ने दीक्षा ली थी, ऐसा भगवतीसूत्र के लेख से सिद्ध होता है। चरित्रकारों के घटनाक्रम में से जयन्ती की दीक्षा का प्रसंग छूट जाने से यह भूल हो गई है। इस अवस्था में राजगृह आठवें वर्षावास के वाद कौशाम्बी में मृगावती की दीक्षा का प्रसंग मानना ही प्रमाणिक हो सकता है।

मगध से भगवान् वत्सभूमि में विचरे थे और वहाँ से विदेह में। 'ख' और 'ग' के लेखों में भी यही विधान है कि मृगावती की दीक्षा के वाद भगवान् विदेह में विचरे थे। इस दशा में अगला

वर्षावास भी विदेह के निकटस्थ केन्द्र वैशाली-वाणिज्यगाँव में होना ही अवसर प्राप्त है।

(९) भगवती, विपाकश्रुत, उपासकदशा आदि मौलिक सूत्र-साहित्य के वर्णनों से पाया जाता है कि भगवान् पाञ्चाल, सूरसेन कुरु आदि पश्चिम भारत के अनेक देशों में विचरे थे। इस से हमारा अनुमान है कि इसी अवसर में उन्होंने कोशल-पाञ्चालादि प्रदेशों में विहार किया और काम्पिल्य में कुण्डकौलिक और पोलासपुर में सद्दाल-पुत्र आदि को प्रतिबोध दिया और वर्षावास वैशाली-वाणिज्य ग्राम में किया था।

(१०) 'ख' और 'ग' के लेखानुसार काम्पिल्य और पोलासपुर से भगवान् राजगृह पधारे थे और महाशतक को प्रतिबोधित किया था। हमारा भी यही अभिप्राय है कि उक्त स्थानों के विहार के बाद वाणिज्य-ग्राम में वर्षावास करके भगवान् राजगृह पधारे थे और महाशतकादि को प्रतिबोध दिया था तब वर्षावास भी वहीं किया होगा क्योंकि मगध में वर्षावास का वही केन्द्र था।

(११) 'ख' और 'ग' के लेखानुसार भी महाशतक के प्रतिबोध के बाद भगवान् राजगृह से श्रावस्ती की तरफ विचरे थे और नन्दिनी-पिता आदि को प्रतिबोधित किया था। हमारे मत से बीच में कयंगला निवासी स्कन्धक कात्यायन का बोध भी इसी विहार में हुआ था और अगला वर्षावास भी निकटस्थ केन्द्र वाणिज्यग्राम में ही हुआ था।

(१२) 'ख' और 'ग' दोनों चरित्रों के अभिप्राय से श्रावस्ती के बाद भगवान् फिर कौशाम्बी गये थे और चन्द्र-सूर्य का अवतरण हुआ था। हमारे विचारानुसार श्रावस्ती से सीधे कौशाम्बी नहीं किन्तु वाणिज्यग्राम में वर्षावास पूरा करने के बाद वहाँ गए थे।

उक्त दोनों चरित्रों के मत से भगवान् कौशाम्बी से फिर श्रावस्ती गये और गोशालक का उपद्रव हुआ था, परन्तु हमारी राय में कौशाम्बी से भगवान् राजगृह गये थे और वर्षावास भी वहीं किया था, क्योंकि गोशालक का उपद्रव, समय के हिसाब से मार्गशीर्ष मास में हुआ सिद्ध हुआ है। इससे यह तो मानना ही पड़ेगा कि भगवान् कौशाम्बी

से सीधे ही श्रावस्ती नहीं गये थे। इस दशा में हमें यही मानना चाहिये कि कौशाम्बी से वे राजगृह गये होंगे और वर्षावास वहीं किया होगा।

(१३) राजगृह से मार्गशीर्ष महीने में श्रावस्ती जाकर भगवान् गोशालक के विरुद्ध व्याख्यान नहीं दे सकते थे, दूसरे गोशालकवाली घटना भगवान् के केवलिजीवन के चौदहवें वर्ष में घटी थी तब भगवान् को अभी तेरहवाँ वर्ष ही चलता था, इस दशा में राजगृह से भी भगवान् का श्रावस्ती की तरफ जाना संगत नहीं होता।

यद्यपि 'ग' चरित्र ने केवलि-अवस्था में भगवान् के मिथिला जाने का कहीं उल्लेख ही नहीं किया है, परन्तु भगवान् ने अपने केवलि-जीवन के ६ वर्षावास मिथिला में बिताये थे इस लिए यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि भगवान् महावीर मिथिला में कितने विचरे होंगे। इन सब आधारों पर से हमारा निश्चित मत है कि राजगृह के बाद भगवान् मिथिला की तरफ विचरे थे और वर्षावास भी वहीं किया था।

(१४) वर्षाकाल के बाद भगवान् मिथिला से अंगदेश की तरफ विचरे थे, क्योंकि उन दिनों वैशाली कोणिक की युद्धस्थली बनी हुई थी। राजगृह से मगध का राज्यासन चम्पा को चला जाने से उन दिनों चम्पा ही सब का लक्ष्यबिन्दु बनी हुई थी। सूत्रों में भी उल्लेख मिलते हैं कि जिस समय मगधराज कोणिक वैशालीपति चेटक के साथ घमासान युद्ध कर रहा था, भगवान् महावीर चम्पा में विचरते थे। कालकुमार आदि श्रेणिक के दस पुत्रों के युद्ध में काम आने के समाचार भगवान् के ही मुख से उनकी माताओं ने सुने थे।

यद्यपि चम्पा भी भगवान् का विहारक्षेत्र था तथापि उसकी वर्षा-वास योग्य केन्द्रों में गणना नहीं थी। इस कारण वर्षावास भगवान् ने वापस मिथिला में जाकर किया था।

(१५) वर्षावास उतरते ही भगवान् श्रावस्ती की तरफ विचरे और श्रावस्ती के कोष्ठकोद्यान में गोशालक के साथ वादविवाद हुआ था। उसके बाद में भी भगवान् उसी प्रदेश में विचरे थे। छठे महीने वे मेंढियग्राम के सालकोष्ठक में सख्त बीमार थे। मार्गशीर्ष महीने में

भगवान् पर गोशालक ने तेजोलेश्या डाली थी और उसके असर से उनके शरीर में जो दाहज्वर और वर्चोव्याधि उत्पन्न हुई थी, वह ज्येष्ठ महीने में पराकाष्ठा को पहुँची। आखिर उन्होंने सिंह अनगार द्वारा श्राविका रेवती के यहाँ से औषध मंगाकर सेवन किया और छः महीने के बाद वह रोग शान्त हुआ। कुछ समय तक उन्हें पुनः शारीरिक शक्ति प्राप्त करने के लिये भी वहाँ ठहरना पड़ा होगा जबतक कि वर्षाकाल अधिक निकट आ गया होगा। वैशाली-वाणिज्यगाँव अभी तक युद्धभूमि बने हुए थे अथवा उजड़ चुके थे। इस स्थिति में भगवान् के वर्षावास के लिये अनुकूल केन्द्र मिथिला ही हो सकता था। इस कारण उन्होंने मेंढियगाँव से मिथिला की तरफ प्रयाण किया और वर्षावास मिथिला में किया, यह निश्चित है।

(१६) मिथिला से भगवान् पश्चिम तरफ के जनपदों में विचरे। हस्तिनापुर तक चक्कर लगाकर वे लौटे थे। वैशाली का युद्ध समाप्त हो गया था परन्तु युद्ध के परिणाम स्वरूप वैशाली की जो दुर्दशा हुई थी, उसके कारण भगवान् वहाँ नहीं ठहर सके। यद्यपि युद्ध के कारण वाणिज्यग्राम भी काफी हानि उठा चुका था, तथापि उसके नागरिक जानमाल की रक्षा के लिये जो इधर-उधर बिखरे थे, लड़ाई के बाद उनमें से अधिकतर लौट गये थे। इस कारण भगवान् ने वर्षावास वाणिज्यग्राम में किया।

(१७) कई अनगारों की इच्छा विपुलगिरि पर अनशन करने की थी और मगधभूमि को छोड़े चार वर्ष जितना समय भी हो चुका था अतः १७ वाँ वर्षावास भगवान् ने मगध के केन्द्र राजगृह में किया।

(१८–१९–२०) वर्षाकाल के बाद भगवान् चम्पा की तरफ विचरे थे, दर्मियान गौतम को पृष्ठचम्पा भेज साल महासाल को प्रतिबोध करवाया। 'ग' चरित्र के अभिप्राय से भी भगवान् इसी अवसर पर चम्पा गये थे और साल महासाल को प्रतिबोधित किया था। यद्यपि 'ग' चरित्रकार कालान्तर में पिठरादि की दीक्षा का विधान और गौतम के अष्टापदगमन का निरूपण करने के बाद चम्पा से भगवान् के दशार्ण जाने की बात कहता है, परन्तु हमारे विचार से पिठर आदि की

दीक्षा के प्रतिपादन करने का यह प्रसंग नहीं था। 'ग' स्वयं कहता है कि पिठर आदि की दीक्षायें जब भगवान् दूसरे अवसर पर चम्पा गये तब हुई थीं, इस से ही सिद्ध है कि साल आदि की दीक्षा के बाद महावीर दशार्णदेश की तरफ गये थे। 'ग' चरित्र भी यही बात कहता है।

यद्यपि दशार्ण से राजगृह और वैशाली-वाणिज्यग्राम की दूरी लगभग बराबर ही थी। बल्कि वैशाली से राजगृह १०-२० मील नजदीक पड़ता था, तथापि पिछला चातुर्मास्य राजगृह में हो चुका था और पुरिमताल, बनारस आदि क्षेत्रों में विचरे खासा समय भी हो गया था। इस कारण भगवान् काशी प्रदेश में हो कर विदेह भूमि में गये। 'ग' चरित्र ने दशार्णभद्र की दीक्षा के बाद भगवान् के जनपदविहार का और कालान्तर में राजगृह जाने का लिखा है; परन्तु हमारा अनुमान है कि दशार्णभद्र की दीक्षा के बाद भगवान् लगभग ढाई-तीन वर्ष तक काशी, कोशल, विदेह, पाञ्चाल आदि जनपदों में विचरे थे और केवलिपर्याय का १८ वाँ १९ वाँ और २० वाँ वर्षावास भी वैशाली-वाणिज्यग्राम में ही किया था।

(२१) लगभग तीन वर्ष तक मध्यप्रदेशों में विचरने के बाद भगवान् ने अपने मुख्य केन्द्र की तरफ प्रयाण किया। समय भी हो गया था और कई श्रमणों की इच्छा विपुलाचल पर अनशन करने की भी थी; परन्तु राजगृह से चम्पा की तरफ विहार आगे बढ़ जाने के कारण उस साल अनशन तो अधिक नहीं हुए होंगे परन्तु दीक्षायें अनेक हुई थीं।

(२२) कई मुनियों के कारण भगवान् ने इस वर्ष भी राजगृह के आसपास ही विहार किया। स्कन्धक कात्यायन ने इसी वर्ष में विपुलाचल पर अनशन किया था, जिस समय कि भगवान् राजगृह में थे, ऐसा भगवतीसूत्र में लेख है।

(२३) राजगृह-नालंदा का वर्षावास पूरा होने पर भगवान् ने फिर विदेह की तरफ विहार किया। केवलि-जीवन के तीसरे वर्ष वाणिज्यग्राम निवासी आनन्द गाथापति ने भगवान् के निकट श्राद्धधर्म का स्वीकार किया था, यह पहले कहा जा चुका है। आनन्द ने बीस

वर्ष तक निज धर्म का आराधन करके अनशन किया था और अनशन के समय भगवान् वाणिज्यग्राम के दूतिपलास चैत्य में पधारे थे, ऐसा उपासकदशांग में लिखा है; अतः तेईसवें वर्ष भगवान् वाणिज्य-गाँव में थे, यह निश्चित है। इसलिए उस वर्ष का वर्षावास भी वहाँ अथवा वैशाली में किया हो तो इसमें कोई शक नहीं।

(२४) यह भी संभव है कि विदेह में आने के बाद भगवान् ने एक बार मध्यप्रदेश में भी विहार किया होगा। वैशाली-वाणिज्यगाँव में वर्षावास पर्याप्त हो चुके थे; अतः अगला वर्षावास भगवान् ने मिथिला में ही किया होगा।

(२५) मिथिला का वर्षावास व्यतीत करके भगवान् राजगृह गये होंगे, क्योंकि गणधर प्रभास इसी वर्ष राजगृह के गुणशील चैत्य में अनशनपूर्वक निर्वाण को प्राप्त हुए थे और भगवान् उनके पास थे। इस दशा में उस वर्ष का वर्षावास भी वहीं किया होगा, यह भी निश्चित है।

(२६) अचलभ्राता और मेतार्य, इन दो गणधरों का छब्बीस वर्ष के पर्याय में गुणशील चैत्य में निर्वाण हुआ था; अतः इस साल भी भगवान् इसी प्रदेश में विचरे थे और वर्षावास भी मगध के केन्द्र में ही किया होगा।

(२७-२८) वैशाली-वाणिज्यगाँव में वर्षावास पर्याप्त हो चुके थे और उन्तीसवें तथा तीसवें वर्ष उनकी स्थिरता राजगृह में हुई थी, यह भी निश्चित है, क्योंकि इन्हीं दो वर्षों में भगवान् के छः गणधर राजगृह के गुणशील वन में मोक्ष को प्राप्त हुए थे और उस समय भगवान् का वहाँ होना अवश्यंभावी है। अतः सत्ताईसवाँ तथा अट्ठाईसवाँ, ये दो वर्षावास भगवान् ने मिथिला में ही किये होंगे, यह स्वतः सिद्ध है।

(२९) यह वर्षावास राजगृह में हुआ था, यह ऊपर के विवेचन में कहा जा चुका है।

(३०) इस वर्ष में भगवान् मगध में ही विचरे और वर्षावास पावामध्यमा में किया, ऐसा कल्पसूत्र से सिद्ध है।

४ आधारस्तंभ—

ऊपर हमने भगवान् महावीर के केवलि-विहार का विवरण दिया है और उसके यथासंभव कारण भी सूचित किये हैं हम उन्हीं बातों के समर्थन के लिये अपनी मान्यता के आधार-स्तंभ और कतिपय हेतुओं का स्वतंत्र उल्लेख करेंगे जिस से कि पाठकगण के लिए हमारा अभिप्राय सुगम हो जाय और हमारी कहीं भूल हो तो पकड़ी भी जा सके।

(१) यों तो भगवान् महावीर ने हजारों स्थानों में विहार किया होगा, परन्तु सूत्रों में उनके भ्रमण-स्थानों के जो नाम उपलब्ध होते हैं, उनकी संख्या भी एक सौ के ऊपर है। इन में से बराबर आधे स्थान समूचे उत्तर-भारत में पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए थे। इन स्थानों में पहुँचने के लिये भगवान् ने पर्याप्त भ्रमण किया होगा, यह निश्चित है।

(२) श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् मगध की राजधानी चम्पा में चली गई थी और कोणिक ने अपने भाइयों की सहायता से वैशाली पर चढ़ाई कर चेटक के साथ घोर संग्राम किया था, जिसका नाम भगवती-सूत्र में 'महाशिलाकंटक' लिखा है। गोशालक मंखलिपुत्र ने अपनी मृत्यु के समय जिन आठ चरिमों की प्ररूपणा की थी उनमें 'महाशिलाकंटक' सातवाँ चरिम बताया है। इस से सिद्ध है कि वैशाली का वह ऐतिहासिक युद्ध गोशालक की जीवितावस्था में हो चुका था अथवा समाप्त होने को था।

(३) गोशालक के साथ वादविवाद के समय भगवान् महावीर अपने जीवन के सोलह वर्ष शेष रहे बताते हैं। इससे सिद्ध होता है कि गोशालक वाली घटना भगवान् के केवलिजीवन के चौदहवें वर्ष मार्गशीर्ष महीने में घटी थी।

(४) श्रेणिक की मृत्यु के बाद उनके स्मारकों को देख-देख कर कोणिक का अपने पिता की मृत्यु के दुःख से दुखित रहना और इसी कारण राजधानी का वहाँ से हटा कर चम्पा में ले जाना, हल्ल विहल्ल के सुखविहार से कोणिक की पट्टरानी की ईर्ष्या, बहुत समय तक उपेक्षा

करने के बाद कोणिक का मोहठ के वश होना, हल्ल विहल्ल से सेचनक हाथी का माँगना, हल्ल विहल्ल का वैशाली जाना, कोणिक का चेटक के पास तीन बार दूत भेजने के अनन्तर युद्ध का निश्चय, कालादि दस भाइयों को अपनी अपनी सेनायें तैयार कर एकत्र होने की आज्ञा, ससैन्य सब का वैशाली पहुँचना और बहुकालपर्यन्त लड़ने के उपरान्त उसका 'महा-शिलाकंटक युद्ध' यह नाम प्रसिद्ध होना; इन सब कार्यों के संपन्न होने में कम से कम चार वर्ष अवश्य लगे होंगे, ऐसा हमारा अनुमान है। यदि हमारा यह अनुमान गलत न हो तो इसका अर्थ यह होता है कि राजा श्रेणिक ने भगवान् महावीर का केवलिजीवन दस वर्ष के लगभग अधिक नहीं देखा।

५ सामान्य हेतुसंग्रह—

उक्त चार बातें हमारे केवलिविहारक्रम के मुख्य स्तंभ हैं। इन्हीं के आधार पर हमने भगवान् के जीवन-चरित्र की अनेक घटनाओं को व्यवस्थित किया है, परन्तु केवल इन्हीं आधारों पर हमारी सम्पूर्ण इमारत निर्भर नहीं रह सकती, इसलिये हमें अन्य भी अनेक आधार-भूत सामान्य हेतुओं का सहारा लेना पड़ा है, जो नीचे की तालिका से ज्ञात होंगे—

(१) मेघकुमार की दीक्षा राजगृह के प्रथम समवसरण में हुई थी और बारह वर्ष के बाद उन्होंने राजगृह के विपुल पर्वत पर अनशन किया। उस समय भी भगवान् राजगृह में थे।

(२) अभयकुमार जब गृहस्थाश्रम में था तब वीतभय के राजा उदायन की दीक्षा हो चुकी थी।

(३) उदायन की दीक्षा के लिये भगवान् ने चम्पा से वीतभय की तरफ विहार किया था।

(४) जालि आदि तथा दीर्घसेन आदि की दीक्षायें श्रेणिक के जीवित-काल में हुई थीं और उनमें से अधिकांश के अनशन काल में भगवान् राजगृह में थे।

(५) आर्द्रकुमार और गोशालक का संवाद श्रेणिक के राज्यकाल की घटना है ।

(६) प्रसन्नचन्द्र को केवलज्ञान श्रेणिक की विद्यमानता में हुआ था ।

(७) महाशतक ने श्रेणिक के राज्यकाल में महावीर के पास गृहस्थ-धर्म स्वीकार किया था ।

(८) धन्य शालिभद्र का अनशन श्रेणिक के राज्यकाल में हुआ था और उस समय भगवान् राजगृह में थे ।

(९) धन्य काकन्दी का अनशन भी श्रेणिक के राज्यकाल में हुआ था और उस समय भी भगवान् महावीर राजगृह में थे ।

(१०) मंकाती आदि गृहस्थों की दीक्षायें श्रेणिक के जीवितकाल में हुई थीं ।

(११) चम्पा में महचंद्र आदि की दीक्षायें हुईं तब-तक कोणिक का वहाँ राज्य नहीं हुआ था ।

(१२) जिस समय वैशाली में कोणिक का युद्ध प्रारम्भ हुआ, उस समय भगवान् महावीर चम्पा में थे ।

(१३) वैशाली के युद्धकाल में राजगृह में हलचल थी और वैशाली वाणिज्यग्राम युद्धस्थल बने हुए थे अतः उन वर्षों में वर्षावास भगवान् ने मिथिला में किये होंगे ।

(१४) राजगृह से विहार करके भगवान् श्रावस्ती के निकटवर्ती कचंगला में गये थे और स्कन्धक कात्यायन को प्रव्रज्या दी थी ।

(१५) बारह वर्ष के श्रमणपर्याय में स्कन्धक ने विपुल पर्वत पर अनशन किया, उस समय भगवान् राजगृह में थे ।

(१६) राजगृह से चम्पा जाते पृष्ठचम्पा बीच में पड़ती थी ।

(१७) आनन्द गाथापति ने गृहस्थ-धर्म स्वीकार किया, उस समय और उसके बाद बीसवें वर्ष भगवान् वाणिज्य-ग्राम के दूतिपलास चैत्य में थे ।

(१८) कामदेव ने गृहस्थ-धर्म अंगीकार किया, उसके चौदहवें वर्ष भगवान् चम्पा नगरी में थे ।

(१९) महाशतक के धर्मस्वीकार के वाद बीसवें वर्ष भगवान् राजगृह में थे।

(२०) भगवान् के केवलज्ञान के चौवीसवें वर्ष में प्रभास, छब्बीसवें वर्ष में अचलभ्राता तथा मेतार्य, अट्ठाईसवें वर्ष में अग्निभूति तथा वायुभूति और तीसवें वर्ष में व्यक्त, मंडित, मौर्यपुत्र तथा अकंपिक गणधर राजगृह के गुणशील चैत्य में निर्वाण को प्राप्त हुए थे अतः उस समय भगवान् महावीर वहीं होंगे, यह निश्चित है।

६ रेखाचित्र की आवश्यकता—

भगवान् के केवलिजीवन का रेखाचित्र, इसकी उपपत्ति, आधारस्तंभ और सामान्य-हेतुसंग्रह का सविस्तर निरूपण करके हम पाठकगण को नीरस विषय की चर्चा में नहीं खींचते। पर हमारी कृति के इस विभाग की योजना विलकुल नवीन है। इसमें त्रुटि अथवा असंगति का होना संभव है और इसमें ऐसा कुछ भी हो तो तुरंत दूर किया जाए, ऐसी लेखक की इच्छा है। रही हुई त्रुटि या असंगति का पता तभी लग सकता है जब कि इसकी रचना का मूलाधार खोल कर दिखाया जाय और उसके साधक हेतुओं का भी दिग्दर्शन कराया जाय। बस यही कारण है कि हमें इस विषय में यहाँ विस्तार से लिखना पड़ा।

७ अभ्यस्त सामग्री—

ग्रन्थनिर्माण में किस सामग्री का कहाँ उपयोग किया गया है, यह प्रायः पहले कहा जा चुका है और जो शेष है वह केवलिजीवन के संबन्ध में ही। हमने यह योजना किन-किन सूत्रों के आधार से की है, उसके उल्लेख वहीं प्रकरणों के अन्त में दी गई टिप्पणों में कर दिये गये हैं जिससे कहीं भी कुछ शंका अथवा असंगति ज्ञात होते ही उस विषय का आधार ग्रन्थ देख कर उसका निराकरण किया जा सके।

अभ्यस्त सामग्री के विषय में अधिक कहना नहीं है। हमारी श्रद्धा और रुचि का विषय मुख्यतया जैन सूत्र थे, अतः विशेपतया हमने जैन सूत्रों में ही छान-बीन की। वैदिक और बौद्ध साहित्य में भी

महावीर के संबन्ध में क्वचित् उल्लेख मिलते अवश्य हैं, पर उनकी यहाँ उपयोगिता नहीं समझी गई। आज तक छपे हुए हिन्दी, गुजराती महावीर-चरित्र भी देख लिये गये हैं पर उन सबको अभ्यास के रूप में नहीं पढ़ा। वस्तुतः उनकी शैली, भाषा अथवा वस्तु कोई भी चीज हमें अच्छी नहीं लगी, अतः आधुनिक चरित्रों का हमने इसके निर्माण में उपयोग नहीं किया।

८ हमारी पूर्वयोजना—

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना का कार्य प्रारंभ किया तब हमारी योजना कुछ भिन्न थी। उस समय हमारा विचार इस ग्रन्थ को चरित, संघ और परिशिष्ट नामक तीन खंडों में विभक्त करने का था और इस क्रम से हमने ग्रन्थ तैयार भी कर लिया था; परन्तु अन्त में हमारा विचार बदल गया। 'संघ खण्ड' को स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में छपवाने का विचार भविष्य के ऊपर छोड़ कर चरितखण्ड और परिशिष्ट खण्डात्मक प्रस्तुत ग्रन्थ को पहले छपवाना निश्चित किया। ऐसा करने के अनेक कारण थे। पहला यह कि तीनों खण्ड एक साथ छपवाने से ग्रन्थ बढ़ जाता, दूसरा समय अधिक निकल जाता और तीसरा कागजों की इस महंगी के समय में खर्च बहुत अधिक बढ़ जाता; अतः पूर्वयोजना में थोड़ा सा परिवर्तन करना पड़ा है!

९ हमारा उद्देश—

इस ग्रन्थ के निर्माण का उद्देश जैन सूत्रों में से भगवान् महावीर के जीवन प्रसंगों को चुन कर कालक्रम से रखना और इस विषय के जिज्ञासुओं की जिज्ञासापूर्ति करने के अतिरिक्त भविष्य के समर्थ लेखकों के लिये सामग्री उपस्थित करना है।

आज से बराबर चार वर्ष पहले हमने भगवान् महावीर का यह केवलि-जीवन का रेखा-चित्र 'श्री जैन सत्यप्रकाश' मासिक में प्रकाशित कराया था। उसका उद्देश यही था कि इसमें कोई भूल अथवा असंगति हो तो ज्ञात हो सके। परन्तु हमारे इस निबन्ध के ऊपर किसी ने किसी प्रकार की टीका टिप्पणी नहीं की। हाँ, श्रीसागरानन्दसूरिजी ने

अपने पाक्षिक पत्र 'सिद्धचक्र' में इसके संबन्ध में कुछ लिखना प्रारंभ अवश्य किया था परन्तु न मालूम बाद में उन्होंने भी आगे लिखना क्यों छोड़ दिया। चर्चा न होने के कारण इस विषय में हमें नवीन सूचना-सम्मति का लाभ तो नहीं मिला पर फिर भी हमारा वह रेखा-चित्र का प्रकाशन निष्फल नहीं गया।

'श्री महावीर कथा' ग्रन्थ के विद्वान् सम्पादक श्रीगोपालदास जीवाभाई पटेल ने अपने उक्त ग्रन्थ में हमारा वही केवलि-जीवन रेखाचित्र पूर्णरूप से अपना कर अपने ग्रन्थ का एक महत्त्वपूर्ण भाग व्यवस्थित किया है। यद्यपि उक्त चित्र में रंगपूर्ति आपने अपनी रुचि के अनुसार की है, तथापि उसको ज्यों का त्यों स्वीकार करके श्रीयुत पटेल ने हमारे इस ग्रन्थ का महत्त्व बढ़ाया है। हमें बहुत संतोष होगा यदि अन्य विद्वान् भी हमारी इस ग्रन्थोक्त सामग्री के आधार पर भगवान् महावीर का विशिष्ट जीवन-जीवन ग्रन्थित करने का श्रम करेंगे।

१० शैली—

हमने इस ग्रन्थ का आलेखन प्रतिपादक शैली में किया है। जिन-जिन सूत्रों में जो-जो चरितांश मिले और ठीक समझे गये उनको अपनी सादी भाषा में उतार कर यथास्थान रख दिये हैं। जहाँ तक बना सूत्रों के शब्दों में ही वृत्तान्त लिखा गया है तथापि बहुधा संक्षेप करके लिखना पड़ा है, क्योंकि सूत्र-शैली अति विस्तृत होने से अक्षरशः अनुवाद करने से भाषान्तर बढ़ जाता और पढ़नेवालों को भी नीरसता का अनुभव होता।

शैली के विषय में हमें अनेक विद्वान् मित्रों की अनेकविध सूच-नाएँ मिली थीं। किसी की सम्मति आलोचनात्मक दृष्टि से चरित्र लिखने के पक्ष में थी तो कुछ विद्वान् पुरातत्त्व की दृष्टि से वस्तु को परिष्कृत करके लिखवाना चाहते थे, परन्तु जब हमने पाठकगण की दृष्टि का विचार किया तो हमें उक्त सम्मतियाँ अच्छी होने पर भी विशेष उपयोगी प्रतीत नहीं हुईं। हमारा यह प्रयास केवल आलोचकगण

अथवा पुरातत्त्वप्रिय विद्वानों के लिये ही नहीं पर सर्व साधारण के उपयोग के लिये है अतः शैली स्वीकार के विषय में हमने अपनी ही समझ से काम लिया है। भिन्न-भिन्न शैली के अनेक चरित्र ग्रन्थ पढ़ने के उपरान्त भी हमने स्वसंमत प्रतिपादक शैली को ही योग्य समझा और उसीके अनुसार ग्रन्थ का आलेखन किया है।

११ खुलासा—

श्रमण भगवान् महावीर के जीवन प्रसंगों में से दो एक के विषय में हमने कुछ परिवर्तन किया है जिसका यहाँ पर खुलाशा करना आवश्यक है।

(१) सिद्धार्थ व्यन्तर—

आवश्यकटीका और संस्कृत-प्राकृत सभी चरित्र ग्रन्थों में सिद्धार्थ व्यन्तर और गोशालक मंखलि पुत्र का नामोल्लेख बार-बार आता है परन्तु हमने अपने इस ग्रन्थ में सिद्धार्थ व्यन्तर का उल्लेख नहीं किया। क्योंकि अन्य सूत्रों में और आवश्यकनिर्युक्तिभाष्य में भी सिद्धार्थ का नाम नहीं है। चूर्णिटीकाकारों ने सिद्धार्थ वाला प्रसंग भगवान् के जीवन के साथ किस उद्देश से जोड़ा होगा, इसका निश्चय करना कठिन है। वास्तव में भगवान् के लोकोत्तर जीवन के साथ सिद्धार्थ वाला प्रसंग एक अन्तर्गडु की तरह निरर्थक सा प्रतीत होता है। यद्यपि इन्द्र ने भगवान् के घोर उपसर्गोंको दूर करने के लिये सिद्धार्थ को उनके साथ रहने की भलावन की थी पर हम देखते हैं कि सिद्धार्थ कहीं भी उपसर्ग दूर करने में कृतकार्य नहीं हुआ। उपसर्ग हटाना तो दूर रहा, कभी-कभी तो वह उलटा भगवान् के लिये उपाधिजनक हो गया है। शूलपाणि रातभर भगवान् को सताता है, पर सिद्धार्थ का कहीं पता नहीं है और ज़ब वह थक कर भगवान् का गुणागान करता है तब सिद्धार्थ आकर उसे इन्द्र के नाम से धमकाता है। मोराक संनिवेश के बाहर भगवान् ध्यानारूढ़ होते हैं तब सिद्धार्थ उनके मुख से भविष्य वाणियाँ करके वहाँ लोगों का जमघट लगाता है! और अछन्दक के छिद्र खोलकर भगवान् के लिये असमाधिजनक परिस्थिति उत्पन्न करता है। बारह

वर्ष तक समीप रह कर भी दो चार बार भोजन विषयक भविष्य-वाणियाँ करके गोशालक को नियतिवाद की तरफ झुकाने के अतिरिक्त सिद्धार्थ ने महावीर की कुछ भी सेवा सहायता नहीं की। तब क्या आवश्यकता है कि एक भूत की तरह सिद्धार्थ को भगवान् के पीछे लगाकर उनके धीर वीर जीवन का महत्त्व घटाया जाय? कदाचित् यह कहा जा सकता है कि छद्मस्थावस्था में भगवान् मौन रहते थे, इसलिये गोशालक के साथ वार्तालाप करने वाला कोई दूसरा ही होना चाहिये। इसका भी हमारे पास उत्तर है। भगवान् छद्मस्थावस्था में मौन रहते थे, यह सत्य है, तथापि ऐकान्तिक नहीं। छद्मस्थावस्था में भी भगवान् कभी-कभी संभाषण करते थे, यह बात शास्त्र-सिद्ध है। सिद्धार्थपुर से कूर्मग्राम जाते समय तिलस्तंब के विषय में गोशालक ने जो प्रश्न किया था, उसका उत्तर भगवान् ने ही अपने मुख से दिया था। देखिये आवश्यक टीका की निम्नलिखित पंक्ति—

"ताहे भीतो पुच्छति—किह संखित्तविउलतेयलेस्सो भवति? भयवं भणइ—जे णं गोसाला छट्ठं छट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं आयावेइ" (२८७)

इत्यादि प्रमाणों को देखते हुए यह कहना कुछ अनुचित नहीं है कि भगवान् कभी-कभी भाषण अवश्य करते थे और इसी कारण से हमने इनके चरित्र में से सिद्धार्थ का प्रसंग हटाकर सिद्धार्थ से कहलाई गई बातें भगवान् के ही मुख से कहलाई हैं।

(२) भगवान् महावीर की जन्मभूमि—

दूसरा परिवर्तन हमें भगवान् महावीर की जन्मभूमि के विषय में करना पड़ा है।

प्रचलित परम्परानुसार आजकल भगवान् की जन्मभूमि पूर्व बिहार में क्यूल स्टेशन से पश्चिम की ओर आठ कोस पर अवस्थित लच्छु-आड़ गाँव माना जाता है, पर हम इसको ठीक नहीं समझते। इसके अनेक कारण हैं—

(१) सूत्रों में महावीर के लिये "विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजचे

विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहं सिकट्टु" इत्यादि जो वर्णन मिलता है, इससे यह स्वतः सिद्ध होता है कि महावीर विदेह देश में अवतीर्ण हुए और वहीं उनका संवर्धन हुआ था। यद्यपि टीकाकारों ने इन शब्दों का अर्थ और ही तरह से लगाया है, पर शब्दों से प्रथमोपस्थित 'विदेह, वैदेहदत्त, विदेहजात्य, विदेहसुकुमाल, तीस वर्ष विदेह में (पूरे) करके' इन अर्थवाले शब्दों पर विचार करने से यही ध्वनित होता है कि भगवान् महावीर विदेह जाति के लोगों में उत्तम और सुकुमार थे। एक जगह तो महावीर को 'वैशालिक' भी लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि आपका जन्मस्थान क्षत्रियकुण्डपुर वैशाली का ही एक विभाग रहा होगा।

(२) जब कि भगवान् ने राजगृह और वैशाली आदि में बहुत से वर्षा चातुर्मास्य किये थे तब क्षत्रियकुण्डपुर में एक भी वर्षाकाल नहीं बिताया। यदि क्षत्रियकुंडपुर जहाँ आज माना जाता है वहीं होता तो भगवान् के कतिपय वर्षावास भी वहाँ अवश्य ही होते, पर ऐसा नहीं हुआ। वर्षावास तो दूर रहा, दीक्षा लेने के बाद कभी क्षत्रियकुण्डपुर अथवा उसके उद्यान में भगवान् के आने जाने का भी कहीं उल्लेख नहीं है। हाँ, प्रारंभ में जब आप ब्राह्मणकुण्डपुर के बाहर बहुसाल चैत्य में पधारे थे तब क्षत्रियकुण्डपुर के लोगों का आपकी धर्मसभा में जाने और जमालि के प्रव्रज्या लेने की बात अवश्य आती है।

भगवान् महावीर बहुधा वहीं अधिक ठहरा करते थे जहाँ पर राजवंश के मनुष्यों का आपकी तरफ सद्भाव रहता। राजगृह-नालंदा में चौदह और वैशाली-वाणिज्यग्राम में बारह वर्षावास होने का यही कारण था कि वहाँ के राजकर्ताओं की आपकी तरफ अनन्य भक्ति थी। क्षत्रियकुण्ड के राजपुत्र जमालि ने अपनी जाति के पाँच सौ राजपुत्रों के साथ निर्ग्रन्थ धर्म की प्रव्रज्या ली थी। इससे भी इतना तो सिद्ध होता है कि क्षत्रियकुण्डपुर जहाँ से कि एक साथ पाँच सौ राजपुत्र निकले थे कोई बड़ा नगर रहा होगा। तब क्या कारण है कि महावीर

---

१ सचित्र कल्पसूत्र पत्र ३० (१)।

ने एक भी वर्षावास अपने जन्मस्थान में नहीं किया ? इसका उत्तर यही है कि क्षत्रियकुण्डपुर वैशाली का ही एक भाग-उपनगर था और वैशाली-वाणिज्यग्राम में बारह वर्षा चातुर्मास्य हुए ही थे जिनसे क्षत्रिय-कुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड के निवासियों को भी पर्याप्त लाभ मिल चुका था। इस परिस्थिति में क्षत्रियकुण्ड में जाने आने अथवा वर्षावास करने संबन्धी उल्लेखों का न होना अस्वाभाविक नहीं है।

(३) भगवान् की दीक्षा के दूसरे दिन कोल्लाक संनिवेश में पारणा करने का उल्लेख है। जैन सूत्रों के अनुसार कोल्लाकसंनिवेश दो थे— एक वाणिज्यगाँव के निकट और दूसरा राजगृह के समीप। यदि भगवान् का जन्म-स्थान आजकल का क्षत्रियकुण्ड होता तो दूसरे दिन कोल्लाक में पारणा होना असंभव था, क्योंकि राजगृहवाला कोल्लाक-संनिवेश वहाँ से कोई चालीस मील दूर पश्चिम में पड़ता था और वाणिज्यग्रामवाला कोल्लाक इससे भी बहुत दूर। इससे यही मानना तर्कसंगत होगा कि भगवान् ने वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रियकुण्ड के ज्ञातखण्ड वन में प्रव्रज्या ली और दूसरे दिन वाणिज्यग्राम के समीप-वर्ती कोल्लाक में पारणा किया।

(४) क्षत्रियकुण्ड में दीक्षा लेकर भगवान् ने कर्मारग्राम, कोल्लाक-संनिवेश, मोराकसंनिवेश आदि में विचरकर अस्थिकग्राम में वर्षा-चातुर्मास्य बिताया और चातुर्मास्य के बाद भी मोराक, वाचाला, कनक-खल आश्रमपद और श्वेतविका आदि स्थानों में विचरने के उपरान्त राजगृह की तरफ प्रयाण किया और दूसरा वर्षावास राजगृह में किया था।

उक्त विहार वर्णन में दो मुद्दे ऐसे हैं जो आधुनिक क्षत्रियकुण्ड असली क्षत्रियकुण्ड नहीं है, ऐसा सिद्ध करते हैं। एक तो भगवान् प्रथम चातुर्मास्य के बाद श्वेतविका नगरी की तरफ जाते हैं और दूसरा यह कि उधर से विहार करने के बाद आप गंगानदी उतर कर राजगृह जाते हैं।

श्वेतविका श्रावस्ती से कपिलवस्तु की तरफ जाते समय मार्ग में

पड़ती थी। यह भूमि-प्रदेश कोशल के पूर्वोत्तर में और विदेह के पश्चिम में पड़ता था और वहाँ से राजगृह की तरफ जाते समय बीच में गंगा पार करनी पड़ती थी, यह भी निश्चित है। आधुनिक क्षत्रियकुण्डपुर के आस-पास न तो श्वेतविका नगरी थी और न इधर से राजगृह जाते समय गंगा ही पार करनी पड़ती थी। इससे ज्ञात होता है कि भगवान् की जन्मभूमि आधुनिक क्षत्रियकुण्ड—जो आज-कल पूर्व विहार में गिद्धौर स्टेट में और पूर्वकालीन प्रादेशिक सीमानुसार अंगदेश में पड़ता है—नहीं है, किन्तु गंगा से उत्तर की ओर उत्तर विहार में कहीं थी और वह स्थान पूर्वोक्त प्रमाणों के अनुसार वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रिय-कुण्ड ही हो सकता है।

(२) भगवान् की केवलज्ञान भूमि—

भगवान् महावीर के जन्मस्थान के संबन्ध में जिस प्रकार गोल-माल हुआ है वैसे ही केवलज्ञान भूमि के विषय में भी अवश्य हुआ है।

भगवान् को जंभियगाँव के पास ऋजुपालिका अथवा ऋजुवालुका नदी के उत्तर तट पर केवलज्ञान हुआ था और वहाँ से आप रातभर चल कर मध्यमापावा पहुँचे थे, जो जंभिया से बारह योजन अर्थात् लगभग अड़तालीस कोस दूर थी।

आजकल भगवान् का केवलज्ञानोत्पत्ति-स्थान हजारीबाग से पूर्व में पार्श्वनाथ पहाड़ से दक्षिण-पूर्व में दामोदर नदी के किनारे माना जाता है, परन्तु निश्चित रूप से यही स्थान केवल-कल्याणक भूमि है, यह कहना साहस मात्र होगा; क्योंकि दामोदर नदी से पावामध्यमा की दूरी पूर्वोक्त दूरी से बहुत अधिक है।

कुछ विद्वान् आजी नदी को ऋजुवालुका का अपभ्रंश मानकर आजी के निकट स्थित जमगाँव को जंभियगाँव मानते हैं और वहाँ से मध्यमा को लगभग बारह योजन दूर होना बताते हैं, परन्तु यह बात भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि पहले तो 'आजी' यह 'ऋजुवालुका' का अपभ्रंश नहीं, पर इसी नाम की प्राचीन नदी है। जैन सूत्रों में

इसका 'आजी' और 'आदी', इन नामों से उल्लेख मिलता है[1]। दूसरा आजी के तट से मध्यमापावा की दूरी अड़तालीस कोस की नहीं, पर इससे बहुत अधिक है। इस दशा में भगवान् के केवलकल्याणक का असली स्थान निश्चित करना कठिन है।

भगवान् महावीर ने बारहवाँ वर्षाचातुर्मास्य चम्पा में व्यतीत करके चम्पा से विहार कर जँभियगाँव और वहीं से छम्माणि होकर मध्यमा नगरी पहुँचे थे और मध्यमा से फिर आप जंभियगाँव पधारे थे। इस प्रकार जंभियगाँव, जहाँ पर भगवान् को केवलज्ञान हुआ था, चम्पा और मध्यमापावा के बीच में कहीं होगा। आधुनिक पावापुरी, जो महावीर की निर्वाण भूमि मानी जाती है, वास्तव में मध्यमापावा ही है। यहाँ से पूर्व की तरफ पचास कोस से कुछ अधिक दूर चम्पा पड़ती थी। चम्पा से विहार कर भगवान् ने पहला मुकाम जंभियगाँव में किया और केवली होने के बाद वहाँ से अड़तालीस कोस के लगभग दूर अवस्थित मध्यमा पहुँचे थे। इससे हमारा अनुमान तो यह है कि महावीर की केवल-कल्याणक भूमि जंभियगाँव तथा ऋजुवालुका नदी चम्पा के पश्चिम प्रदेश में मध्यमा के रास्ते पर कहीं होनी चाहिये।

(४) महावीर की निर्वाणभूमि—

भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि के विषय में हमें कोई संदेह नहीं है। भगवान् की निर्वाण भूमि वही पावा है जो विहार नगर से आग्नेय कोण में सात मील पर पुरी अथवा पावापुरी के नाम से प्रसिद्ध जैनतीर्थ है। जैन शास्त्रों में इसको मध्यमापावा कहा है, क्योंकि पावा नामक तीन नगर थे—एक गोरखपुर जिला में कुशीनारा के पास जहाँ आज पडरौना के समीप 'पपउर' नामक गाँव है। दूसरी पावा राजगृह के निकट विहार शहर से दक्षिण-पूर्व में लगभग साढ़े तीन कोस पर अवस्थित महावीर की निर्वाण भूमि के

---

१ जंबूद्दीवेदीवे मंदरस्स पव्वयस्स दाहिणेणं गंगा महानदी पंच महानदीओ समप्पेंति तंजहा—जउणा सरऊ आदी कोसी मही। (स्थानाङ्ग २।३५१)

नाम से प्रसिद्ध पावापुरी और तीसरी पावा हजारीबाग के आसपास के प्रदेश की राजधानी थी। यह प्रदेश भंगि अथवा भग्ग नाम से प्रसिद्ध आर्य देश था, जिसकी गणना जैन ग्रन्थकारों ने साढ़े पच्चीस आर्य देशों में की है।

दूसरी पावा से पहली पावा वायव्य और तीसरी आग्नेय कोण में थी। इन दोनों के बीच में लगभग समानान्तर यह दूसरी पावा अवस्थित होने से वह मध्यमा पावा के नाम से प्रसिद्ध हो गई थी। जब कि बौद्ध ग्रन्थों में तीसरी पावा की चर्चा नहीं है तब जैन ग्रन्थों में पहली पावा का उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। यही कारण है कि संशोधक विद्वान् दो ही पावाओं का निरूपण करते हैं। जैन और बौद्ध साहित्य का समन्वय करने पर पावा तीन सिद्ध होती हैं, जो ऊपर सूचित की हैं।

१२ पाठकगण से प्रार्थना—

यद्यपि पूर्व महापुरुषों ने भगवान् श्री महावीर का जीवन चरित्र सूत्र तथा चरित्र ग्रन्थों में लिखा है, तथापि भगवान् के महत्त्वपूर्ण तीर्थंकर जीवन का शृंखलाबद्ध निरूपण उनमें नहीं था। यह एक अखरनेवाली बात थी। मुझे ही नहीं पर अनेक महावीर के भक्तों को यह बात अखरती थी, इसलिये उनकी ऐसे महावीर चरित्र की माँग थी, जिसमें भगवान् श्रीवर्धमान स्वामी के तीस वर्ष जितने तीर्थंकर जीवन का कालक्रम से निरूपण मिल सकता हो। बात अवश्य ध्यान देने योग्य थी और इसी कारण मेरा ध्यान इस तरफ स्थिर हुआ। इसकी सिद्धि के लिये जैन सिद्धान्तों का अध्ययन कर भगवान् के जीवन् प्रसंगों को चुन कर एकत्र किया और उनको यथास्थान रखकर भगवान् के केवलिजीवन को व्यवस्थित करने का यथाशक्ति परिश्रम किया है। इसमें अपूर्णता है, यह तो मैं पहले ही स्वीकार कर लेता हूँ, परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ असंगति अथवा स्खलना दृष्टिगोचर हो तो पाठकगण उसकी लेखक को सूचना करने की उदारता करें, ऐसी प्रार्थना है।

हरजी-मारवाड़
ता० २१-१०-४१

कल्याण विजय

विषय-सूची



तीसरा परिच्छेद

परिशिष्ट खण्ड

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

श्रमण भगवान् महावीर

चरित-खण्ड

प्रथम परिच्छेद

गृहस्थ जीवन

१-तत्कालीन परिस्थिति

भारतवर्ष का जन-समाज धार्मिक आडम्बरों में बहुत फँस चुका था, परन्तु धर्म के मौलिक तत्त्व प्रतिदिन तिरोहित होते जा रहे थे। मूल वैदिक धर्म 'श्रौत धर्म' के नाम से प्रसिद्ध था, उपनिषदों का अध्यात्मवाद और कपिल ऋषि का तापत्रयनिवृत्ति का उपदेश शुकपाठ की तरह रटा जाता था पर व्यवहार में इन सिद्धान्तों का बहुत कम उपयोग होता था। आडम्बरपूर्ण यज्ञक्रियाओं की विधि में ही वैदिक धर्म की परिसमाप्ति मानी जा रही थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही तत्कालीन वैदिक धर्म के अधिकारी थे और वे ही अपने लिए 'द्विज' शब्द का उपयोग कर सकते थे। शूद्र और अन्त्यज जातियाँ यद्यपि प्रतिदिन सभ्यता और धार्मिकता के निकट पहुँच रही थीं तथापि वैदिक धर्माचार्य उनके लिए दृढ़तापूर्वक धर्म के द्वार बन्द किए हुए थे[1]।

इस वैदिक क्रियाकाण्ड के युग ने जैनधर्म पर बड़ा भारी असर

---

१ "अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपु-जतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः ॥" गौतमधर्मसूत्रम् १६५।

अर्थ– वेद सुननेवाले शूद्र के कानों में सीसा और लाख भर दिये जायें। वेद का उच्चारण करने पर उसकी जीभ काट दी जाय और याद कर लेने पर उसका शरीर फाड़ डालना चाहिये।

"न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।

न चास्योपदिशेद्धर्मं न चास्य व्रतमादिशेत् ॥१४॥" वासिष्ठधर्मसूत्रम्।

अर्थ–शूद्र को बुद्धि न दे, उसे यज्ञ का प्रसाद न दे और उसे धर्म तथा व्रत का उपदेश भी न दे।

किया। २३ वें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के निर्वाण को अभी पूरे दो सौ वर्ष भी नहीं हुए थे फिर भी उनके संघ और धर्म की स्थिति शोचनीय हो गई थी। तत्कालीन वैदिकधर्म की क्रियाओं और आचरणों के भिन्न-भिन्न प्रभावों से जैन संघ किसी अंश तक प्रभावित भी हो गया था, फिर भी श्री पार्श्वनाथ की उग्रविहारी साधुसंतति अभी अहिंसा का रक्षण करने के लिये कटिबद्ध थी और उसीके उपदेश के प्रभाव से जैन अपना मौलिक स्वरूप टिकाये हुए थे।

समय धर्मभावना का था, परन्तु इस भावना के पोषक धर्माधिकारी बहुत कम रह गये थे। परिणामस्वरूप भावुक भारतवर्षीय प्रजा की धार्मिक भावनायें श्रद्धा, धर्म और सदनुष्ठान के स्थान पर अन्धविश्वास, हिंसा और रूढियों का पोषण कर रही थीं।

यद्यपि भारतवर्ष की धार्मिक प्रवृत्ति उस समय रूढि और आडम्बर का रूप धारण कर चुकी थी, तथापि इसकी तत्कालीन राष्ट्रीय स्थिति बहुत कुछ संतोषजनक थी। अंग, मगध, वत्स, दशार्ण, अवन्ती, सिन्धु आदि अनेक देश उस समय राजसत्ताक थे तथापि वहाँ की प्रजा अधिकार-संपन्न और सुखी थी।

काशी, कोसल, विदेह आदि अनेक राष्ट्र प्रजासत्ताक थे। यद्यपि इन देशों में भी कहने मात्र को राजा होते थे तथापि वहाँ की राज्य-व्यवस्था प्रत्येक जाति के उन चुने हुए नायकों के सुपुर्द होती थी जो 'गणराज' के नाम से पुकारे जाते थे।

देश के शासक प्रत्येक कार्यों में इन गणराजों की सम्मति लेते थे और युद्ध जैसे प्रसंगों में तो राजा लोग इन गणराजों की सलाह के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ते थे।

विदेह देश की राजधानी 'वैशाली' तत्कालीन प्रसिद्ध और समृद्ध नगरों में से एक थी। मिथिला की चिरसंचित समृद्धि उस समय वैशाली को प्राप्त थी। उसके निवासी वृजिक और विदेह यदि देव थे तो वैशाली उनकी अमरावती थी।

हैहय वंश के जैन राजा चेटक की छत्र-छाया में वैशाली अपनी उन्नति और ख्याति की चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी।

वैशाली के पश्चिम परिसर में गण्डकी नदी बहती थी। उसके पश्चिम-तट पर स्थित ब्राह्मणकुण्डपुर, क्षत्रियकुण्डपुर, वाणिज्यग्राम, कमरिग्राम और कोल्लाक संनिवेश जैसे अनेक रमणीय उपनगर और शाखापुर अपनी अतुल समृद्धि से वैशाली की श्रीवृद्धि कर रहे थे।

ब्राह्मणकुण्डपुर और क्षत्रियकुण्डपुर क्रमशः एक दूसरे के पूर्व और पश्चिम में थे। इन दोनों के दक्षिण और उत्तर दो-दो विभाग थे। दोनों नगर पास पास में थे। इनके बीच में एक उद्यान था जो 'बहुसाल चैत्य' के नाम से प्रसिद्ध था।

ब्राह्मणकुण्डपुर का दक्षिण-विभाग अर्थात् दक्षिण ब्राह्मणकुण्डपुर 'ब्रह्मपुरी' कहलाता था। उसमें अधिकांश बस्ती ब्राह्मणों की थी।

दक्षिण ब्राह्मणकुण्डपुर के नायक कोडालगोत्रीय ऋषभदत्त ब्राह्मण थे। इनकी स्त्री देवानन्दा जालंधरगोत्रीय ब्राह्मणी थी। ऋषभदत्त और देवानन्दा भगवान् श्रीपार्श्वनाथ के शासनानुयायी जैन श्रमणोपासक थे।

क्षत्रियकुण्डपुर में करीब ५०० घर ज्ञात-क्षत्रियों के थे जो सब क्षत्रियकुण्डपुर के उत्तर विभाग में अर्थात् उत्तर क्षत्रियकुण्डपुर में बसे हुए थे।

उत्तर क्षत्रियकुण्डपुर के नायक का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ काश्यपगोत्रीय ज्ञातक्षत्रिय थे और ज्ञातक्षत्रियों की अधिकतावाले प्रदेश के सर्वाधिकारसंपन्न स्वामी होने से 'राजा' कहलाते थे।

सिद्धार्थ की रानी त्रिशला वैशाली के महाराज चेटक की बहन वासिष्ठगोत्रीया क्षत्रियाणी थीं। राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला भी तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथ की श्रमणपरम्परा के श्रमणोपासक थे।

जिस परिस्थिति का हमने ऊपर वर्णन किया है उसका समय विक्रम के पूर्व की छठी शताब्दी है।

देवाधिदेव भगवान् महावीर प्राणत नामक कल्प (स्वर्ग) से च्युत होकर (ईसवी सन् पूर्व ६०० आषाढ़ शुक्ला षष्ठी की मध्यरात्रि के समय) ब्राह्मणकुण्डपुर में देवानन्दा की कुक्षि में अवतीर्ण हुए। क्षण भर के लिए जगत् अनिर्वचनीय प्रकाश से उद्योतित हुआ और पृथिवी हर्ष से उच्छ्वसित हो गई।

२—च्यवन और जन्म

ब्राह्मणकुल में न हुआ, न होगा। इसलिए तुम जाओ और भावी तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर को देवानन्दा की कोख से सिद्धार्थ क्षत्रिय की आर्या त्रिशला की कोख में और त्रिशला के पुत्रीरूप गर्भ को देवानन्दा की कोख में रख दो।

इन्द्र की आज्ञा पाकर हरिणैगमेषी देव ने आश्विन वदी त्रयोदशी की मध्यरात्रि में मनुष्य लोक में आकर देवानन्दा तथा त्रिशला को निद्रावश करके तथा उनके पेट चीर कर उनके गर्भों का परिवर्तन कर दिया।

स्वप्नदर्शन के अनन्तर त्रिशला तुरन्त जग पड़ीं और राजा सिद्धार्थ के पास जाकर अपने स्वप्नदर्शन की बात कही। राजा ने अपने बुद्धि-बल के अनुसार पुत्रप्राप्तिरूप फल बताया, पर वे खुद ही इन महा स्वप्नों का विशेष फल जानना चाहते थे अतः इनका आखिरी फलादेश निमित्त-वेत्ताओं के मुख से सुनने का निर्णय किया।

प्रातःकाल होते ही सिद्धार्थ ने अपने सेवकों को बुलाया और आस्थानमण्डप को सजाने तथा अष्टाङ्ग निमित्तवेत्ताओं को बुलाने का आदेश दिया।

हमेशा की अपेक्षा उस रोज राजा कुछ जल्दी उठे थे। प्रातःकाल नित्यकर्मों से निवृत्त होकर सामन्त-मन्त्रिमण्डल के साथ वे आस्थानमण्डप में आकर सिंहासन पर बैठे। सामन्त-मन्त्री आदि सभी यथास्थान बैठ गये। रानी त्रिशला भी सपरिकर आकर यवनिका के भीतर भद्रासन पर सुशोभित हुईं।

राजा का आमन्त्रण पाकर अष्टाङ्गनिमित्तशास्त्र के पारंगत आठ विद्वान् राजसभा में आये और आशीर्वाद आदि शिष्टाचार के उपरान्त योग्य आसनों पर बैठ गये।

राजा सिद्धार्थ फल-पुष्पादि से अञ्जलि भर कर उठे और बोले—"विद्वानो! गत मध्यरात्रि में सुख की नींद सोती हुई रानी गज, वृषभादि चौदह स्वप्न देख कर जग गईं और उसने शेषरात्रि बिना सोये व्यतीत की। देवानुप्रिय! इन स्वप्नदर्शन का निश्चित फल क्या होना चाहिये सो शास्त्र के आधार से कहिये।"

स्वप्नपाठकों ने स्वप्न संबन्धी संपूर्ण हकीकत सुन कर उस पर

विचार किया। देर तक एक दूसरे के साथ विचार विनिमय करके उनका मुखिया बोला—"राजन् ! बहुत ही शुभ स्वप्नदर्शन है। हमारे स्वप्नशास्त्र में कुल ७२ प्रकार के स्वप्न बताये गये हैं जिनमें से गज, वृषभादि १४ महास्वप्न वे ही भाग्यवती स्त्रियाँ देखती हैं जिनके गर्भ में भावी चक्रवर्ती राजा अथवा धर्मचक्रवर्ती तीर्थंकर का अवतार होता है। रानी ने जो ये महास्वप्न देखे हैं इससे निश्चित ही सवा नौ महीने उपरान्त इनकी कोख से किसी महान् चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर का जन्म होगा।"

यवनिका के भीतर बैठी हुई रानी त्रिशला ने यद्यपि फलादेश अच्छी तरह सुन लिया था फिर भी राजा ने उनके निकट जाकर स्वप्नपाठकों के मुख से सुना हुआ स्वप्न-फल फिर सुनाया। रानी अपने स्वप्नदर्शन का फल सुन कर परम संतुष्ट हुई और बार बार स्वप्नों का ही स्मरण करती हुई अपने स्थान पर गई। राजा ने भी स्वप्नपाठकों को विपुल दान-दक्षिणा देकर बिदा किया।

लोक में तीर्थंकरों का अवतार मति, श्रुत तथा अवधि इन तीनों ज्ञानों के साथ ही होता है अर्थात् गर्भावस्था में ही वे विशिष्ट ज्ञानी होते हैं। गर्भावतार के सातवें महीने में महावीर ने, 'शारीरिक चलन स्पन्दनादि से माता को कष्ट न हो' इस विचार से अपने शरीर का चलनादि बिलकुल बन्द कर दिया। परन्तु माता ने अपने गर्भ की निश्चलता से अमंगल की कल्पना की और सोचा कि गर्भस्थ बालक मृत्यु को प्राप्त हो गया है। क्षणभर में सारा राजकुटुम्ब शोक सागर में डूब गया।

गर्भस्थ बालक ने यह सब अपने ज्ञान से देखा और सोचा—माता-पिता की संतान विषयक ममता बड़ी प्रबल है। अभी जिसका मुँह भी नहीं देखा उसके वियोग की कल्पना से ही वे इस प्रकार अधीर हो उठे हैं। यह सोच कर महावीर ने गर्भावस्था में ही प्रतिज्ञा की कि माता-पिता की जीवितावस्था में मैं प्रव्रज्या ग्रहण नहीं करूँगा।

जब से भगवान् महावीर राजा सिद्धार्थ के कुल में अवतीर्ण हुए तभी से राजा की राजसत्ता बढ़ने लगी, उनके भाण्डागार धन-धान्य से भरपूर होने लगे और सब प्रकार से ज्ञातवंश की उन्नति होने लगी। इस अभ्युदय को देख कर सिद्धार्थ और त्रिशला ने निश्चय किया कि

'यह सब वृद्धि हमारे गर्भस्थ पुत्र के पुण्यप्रताप का फल है इसलिये जन्म होने पर हम इस पुत्र का नाम वर्धमान रखेंगे।'

ईसवी सन् पूर्व ५९९ चैत्र सुदी १३ की मध्यरात्रि में रानी त्रिशला की पुण्यकुक्षि से श्रमण भगवान् महावीर का क्षत्रियकुण्डपुर में जन्म हुआ। इस पवित्र आत्मा के प्रादुर्भाव से केवल क्षत्रियकुण्डपुर ही नहीं, क्षण भर के लिए समस्त संसार लोकोत्तर प्रकाश से प्रकाशित हो गया और राजा सिद्धार्थ ने ही नहीं संसार भर के प्राणिगण ने अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव किया।

जन्म के समकाल ही स्वर्ग के इन्द्रासन कंपित हुए। इन्द्र, देवगण तथा देवकुमारियों ने क्षत्रियकुण्डपुर में आकर इस पवित्र विभूति के जन्मोत्सव का आनन्द लिया।

राजा सिद्धार्थ ने नगर में दस दिन तक उत्सव मनाया। प्रजा के आनन्द और उत्साह की सीमा नहीं रही। सर्वत्र धूम मच गई। सारा नगर उत्सव और आनन्द का स्थान बन गया।

बारहवें दिन नामकरण संस्कार संपन्न हुआ। राजा सिद्धार्थ ने इस प्रसंग पर अपने ज्ञातिजन, कुटुम्ब-परिवार और मित्र तथा स्नेहियों को आमन्त्रित किया और भोजन, ताम्बूल, वस्त्र, अलंकारों से सब का सत्कार कर उनके आगे अपना मनोरथ व्यक्त करते हुए राजा ने कहा— "भाइयो, जब से यह बालक हमारे कुल में अवतीर्ण हुआ है तब से हमारे कुल में धन, धान्य, कोश, कोष्ठागार, बल, परिजन और राज्य की वृद्धि हो रही है तथा सामन्त राजा स्वयं हमारे वश में आ गये हैं। इस कारण हमने पहले ही निश्चय कर लिया था कि हम इस पुत्र का नाम 'वर्धमान' रक्खेंगे। हमारे वे चिरसंचित मनोरथ आज पूर्ण हुए हैं। हम इस बालक का नाम वर्धमान रखते हैं।"

कुमार वर्धमान की बाल्यावस्था राजकुमारोचित वैभवसंपन्न थी। यद्यपि राजा सिद्धार्थ का उत्तराधिकारी कुमार नन्दिवर्धन था तथापि राजा सिद्धार्थ के लिये कुमार वर्धमान युवराज से भी अधिक थे। स्वप्नपाठकों ने चक्रवर्ती राजा अथवा धर्म-तीर्थंकर होने का जो भविष्य कथन किया था उसे याद करते हुए सिद्धार्थ

३—बाल्यावस्था

और रानी त्रिशला अपने इस छोटे पुत्र को अधिक भाग्यशाली समझते थे। पाँच धात्रियाँ, बालमित्र, नौकर-अनुचर और अन्यान्य सभी सुख साधन वर्धमान के लिए प्रस्तुत किये गये थे।

वर्धमान बाल्यकाल से ही विवेक, विचार, शिष्टता और गाम्भीर्यादि अनेक गुणों से अलंकृत थे। अपने इन वृद्धोचित विशिष्ट गुणों से अपने समवयस्क मित्रों को ही नहीं बड़े बड़े समझदार वृद्धपुरुषों को भी चकित कर देते थे। जातिस्मरणादि अलौकिक ज्ञानों के कारण आप का हृदय पूर्वभवाभ्यस्त समग्र शास्त्रीय ज्ञान तथा विद्याओं से आलोकित था। यह सब होते हुए भी गम्भीरता के कारण आपकी इन विशिष्टताओं को कोई समझ नहीं पाता था।

यद्यपि कुमार वर्धमान की बाल्यावस्था में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ हुईं तथापि आमलकी क्रीडा और लेखशाला गमन ये दो घटनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

वर्धमान की अवस्था आठ वर्ष से कुछ कम थी। वे अपनी मित्रमण्डली के साथ शहर के बाहर 'आमलकी' नामक खेल खेल रहे थे। उस समय इन्द्र द्वारा प्रशंसित वर्धमान कुमार के बल, धैर्य और साहस की परीक्षा करने की इच्छा से एक देव विकराल सर्प के रूप में वहाँ प्रकट हुआ। और क्रीड़ा-वृक्ष के मूल को लिपट कर फूँकारने लगा। इस दृश्य से वर्धमान के सब मित्र भयभीत हुए पर वर्धमान ज़रा भी नहीं डरे। वे सर्प की ओर आगे बढ़े और साँप को अपने हाथ से पकड़ कर दूर फेंक दिया।

४—आमलकी क्रीडा

फिर खेल शुरू हुआ। अब की बार दो दो लड़के 'तिंदूसक' खेल खेलने लगे। दो दो के बीच खेल होता और हारने वाला अपनी पीठ पर विजेता को चढ़ा कर दौड़ता। सर्परूपधारी देव समझ गया कि उसकी विभीषिका का वर्धमान पर कुछ भी असर नहीं हुआ। अब वह किशोररूप धारण करके उनके साथ खेलने लगा। क्षण भर में कुमार-रूपधारी देव अपने हरीफ़ वर्धमान से हार गया और शर्त के अनुसार वर्धमान कुमार को अपनी पीठ पर लेकर दौड़ने लगा। वह दौड़ता ज़ाता था और अपना शरीर बढ़ाता जाता था। क्षण भर में वह सात

ताड़ जितना ऊँचा पिशाच बन गया। वर्धमान ने इस माया को तुरन्त जान लिया और ज़ोर से उसकी पीठ पर एक घूँसा जमा दिया। वर्धमान का वज्रसम मुष्टिप्रहार मायावी देव सह नहीं सका अतः वह सिकुड़ कर अपने स्वाभाविक रूप को प्राप्त हुआ।

अब देव को विश्वास हो गया कि वर्धमान का साहस और सामर्थ्य सचमुच ही प्रशंसनीय है। वह प्रकट होकर बोला—"वर्धमान! सचमुच ही तुम 'महावीर' हो। अवश्य ही तुम्हारा साहस और सामर्थ्य इन्द्र की प्रशंसा के योग्य है। कुमार! मैं तुम्हारा परीक्षक बनकर आया था और प्रशंसक बनकर जाता हूँ।"

देव चला गया पर उसके मुख से निकला हुआ 'महावीर' शब्द वर्धमान के नाम का सदा के लिये विशेषण हो गया।

कुमार वर्धमान बाल्यावस्था से ही कैसे गंभीर थे इस बात को समझने के लिये उनके लेखशाला प्रवेश का प्रसंग विशेष उल्लेखनीय है।

५—लेखशाला प्रवेश वर्धमान अलौकिक ज्ञान और विद्याओं के प्रकाण्ड विद्वान थे परन्तु इनकी गम्भीरता के कारण उनके माता-पिता तक भी उनकी विद्वत्ता के संबंध में कुछ भी नहीं जान पाये इसी लिये उन्होंने आठ वर्ष पूरे होते ही अपने प्रिय पुत्र को विद्याध्ययन कराने के लिए लेखशाला में भेजने का निश्चय किया और शुभ तिथि-करण-योग में महोत्सवपूर्वक एक विद्यार्थी के रूप में उन्हें लेखशाला में भर्ती किया।

ठीक उसी समय स्वर्ग के इन्द्र को इसका पता लगा। बालक वर्धमान की गंभीरता और उनके माता-पिता की मुग्धता को देख कर इन्द्र को बड़ा आश्चर्य हुआ। तत्काल उसने वृद्ध ब्राह्मण के रूप में क्षत्रियकुण्डपुर की ओर प्रयाण किया और उस लेखशाला में जाकर वर्धमान से व्याकरण विषयक अनेक प्रश्न पूछे जिनके उन्होंने स्पष्ट और ठीक उत्तर दिए।

कुमार के विद्वत्तापूर्ण उत्तरों से पाठशाला का अध्यापक चकित हो गया। वह अपने शंकास्थलों को याद कर कुँवर से पूछने लगा। कुँवर ने भी प्रश्नों के होते ही उसकी सब शंकाओं का समाधान कर दिया।

अध्यापक के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। वह आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से वर्धमान और वृद्ध की तरफ देखने लगा। उस समय वृद्धरूपधारी इन्द्र बोला–"देवानुप्रिय! इस राजकुमार को तुम साधारण बालक न समझो। यह बालक विद्या का सागर और ज्ञान का निधि है। इस का समकक्ष इस देश में तो क्या भारतवर्ष में भी नहीं मिलेगा। सज्जनो! इसे साधारण मनुष्य न समझो। यह ज्ञानी है जो आगे जाकर एक महान् धर्मतीर्थंकर होकर इस भारतवर्ष का उद्धार करेगा।" यह कहकर उसने अपना स्वरूप प्रकट किया और वर्धमान को नमस्कार कर अन्तर्धान हो गया।

अब वर्धमान के माता-पिता और परिजनगण कुमार की विशेपताओं को समझ पाए और उसी क्षण उन्हें वापस अपने घर ले गये।

६–विवाह और संतति

वर्धमान की बाल्यावस्था व्यतीत होने पर समरवीर नामक एक महासामन्त की पुत्री 'राजकुमारी यशोदा' के साथ उनका विवाह[1] हुआ और उससे उनके 'प्रियदर्शना' नामक पुत्री भी हुई।

---

१ दिगम्बर संप्रदाय महावीर को 'अविवाहित' मानता है जिसका मूल आधार शायद श्वेताम्बर संप्रदाय सम्मत आवश्यकनिर्युक्ति है। उसमें जिन पाँच तीर्थंकरों को 'कुमारप्रव्रजित' कहा है उनमें महावीर भी एक हैं। यद्यपि पिछले टीकाकार 'कुमारप्रव्रजित' का अर्थ 'राजपद नहीं पाए हुए' ऐसा करते हैं परन्तु आवश्यकनिर्युक्ति का भाव ऐसा नहीं मालूम होता। निर्युक्तिकार 'ग्रामाचार' शब्द की व्याख्या में स्पष्ट लिखते हैं कि 'कुमारप्रव्रजितों को छोड़ अन्य तीर्थंकरों ने भोग भोगे।' (गामायारा विसया ते भुत्ता कुमाररहिएहिं) इस व्याख्या से यह ध्वनित होता है कि आवश्यकनिर्युक्तिकार को 'कुमारप्रव्रजित' का अर्थ 'कुमारावस्था में दीक्षा लेनेवाला' ऐसा अभिप्रेत है। इसी निर्युक्ति अथवा इस पर से बने हुए किसी अन्य दिगम्बर संप्रदायमान्य किसी अन्य ग्रन्थ के आधार पर दिगम्बर सम्प्रदाय में महावीर के कौमार्य जीवन की मान्यता चल पड़ी मालूम होती है।

श्वेताम्बर ग्रन्थकार महावीर को विवाहित मानते हैं और उसका मूल आधार 'कल्पसूत्र' है। उसमें महावीर की स्त्री और उनकी पुत्री के नामों का उल्लेख मिलता है। कल्पसूत्र के पूर्ववर्ती किसी सूत्र में महावीर के गृहस्थाश्रम का अथवा उनकी भार्या यशोदा का वर्णन हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

कुमार वर्धमान स्वभाव से ही वैराग्यशील और एकान्तप्रिय थे। उन्होंने माता पिता के दाक्षिण्य से गृहवास स्वीकार किया। इससे जब वे २८ वर्ष के हुए और माता पिता का देहान्त हो गया तो उनका मन प्रव्रज्या के लिए उत्कण्ठित हो उठा। उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन और इतर स्वजनवर्ग के आगे अपना मनोभाव प्रकट किया। स्वजनवर्ग ने कहा–भाई, घाव पर नमक न छिड़को। अभी माता-पिता के वियोग का दुःख तो भूले ही नहीं कि तुम भी छोड़ने की बात करने लगे। भाई, जल्दी न करो। अभी कुछ समय तक ठहरो।

७–अभिनिष्क्रमण

वर्धमान – कब तक ?

स्वजन – कम से कम दो वर्ष तक।

वर्धमान – अच्छा, पर आज से मेरे निमित्त कुछ भी आरंभ-समारंभ न करना।

स्वजनवर्ग ने वर्धमान की बात मंजूर की और वर्धमान गृहस्थ वेष में रहते हुए भी त्यागी जीवन बिताने लगे। अपने लिए बने हुए भोजन, पान या अन्य भोगसामग्री का बिलकुल उपयोग न करते हुए वे साधारण भोजनादि से अपना निर्वाह करने लगे। ब्रह्मचारियों के लिये वर्जित तेल-फुलेल, माल्य-विलेपन और अन्य शृंगारसाधनों को उन्होंने पहले ही छोड़ दिया था। गृहस्थ होकर भी वे सादगी और संयम के आदर्श बने हुए शान्तिमय जीवन बिताते थे।

महावीर ने २८ वें वर्ष के बाद घर में रह कर दो वर्ष संयमी जीवन बिताया ऐसे उल्लेख अनेक स्थलों में मिलते हैं और आश्चर्य नहीं यदि उसके भी बहुत पहले से वे ब्रह्मचारी बने हुए हों क्योंकि दीक्षाकाल में या आगे पीछे कहीं भी यशोदा का नामोल्लेख नहीं मिलता। यदि तब तक यशोदा जीवित होती तो महावीर की बहन तथा पुत्री की ही तरह वह भी प्रव्रज्या लेती अथवा अन्य रूप से उसका नामोल्लेख पाया जाता। संभव है कि यशोदा अल्पजीवी हो और उसके देहावसान के बाद महावीर ब्रह्मचारी रहने से ब्रह्मचारी के नाम से प्रसिद्ध हो गये हों और उसी प्रसिद्धि ने कालान्तर में महावीर को 'कुमारप्रव्रजित' के रूप में प्रसिद्ध किया हो। कुछ भी हो पर इतना तो निश्चित है कि महावीर के अविवाहित होने की दिगम्बर संप्रदाय की मान्यता बिलकुल निराधार नहीं है।

अन्तिम वर्ष में वर्धमान ने अपना विशेष लक्ष्य दीन दुखियों के उद्धार में लगाया। प्रतिदिन प्रातःकाल से ही आप सुवर्णदान करने लगते और पहरभर में एक करोड़ आठ लाख दीनारों का दान कर डालते। वर्षभर में अरबों सुवर्ण मुहरों का दान कर अन्त में अभिनिष्क्रमण करने का निश्चय किया।

अभिनिष्क्रमण का संकल्प करते ही नौ लोकान्तिक देव वहाँ उपस्थित हुए और वर्धमान के निश्चय का अनुमोदन करते हुए बोले—'श्रीमन्, तुम्हारी जय हो! कल्याणकारिन्, तुम्हारी जय हो! हे क्षत्रियश्रेष्ठ, तुम्हारा जय-कल्याण हो! हे जगत् के स्वामी, अब आप जल्दी धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कीजिये जिससे सर्वजीवों का सुख और कल्याण हो।'

सुवर्ण, रूप्य, धन, धान्य, स्त्री, परिवार, राज्य और राष्ट्र सब प्रतिबन्धों पर से वर्धमान ने मन खींच लिया और मार्गशीर्ष शुक्ला १०मी को दिन के चौथे पहर 'चन्द्रप्रभा' पालकी में बैठ कर राजभवन से निकले। राजकुटुम्ब, राज्याधिकारी, चतुरंगिणी सेना के अतिरिक्त हजारों नागरिकों ने आपका अनुगमन किया।

क्षत्रियकुण्डपुर के बाहर ईशान-दिशा विभाग में 'ज्ञातखण्ड' नामक उद्यान था। वर्धमान के दीक्षामहोत्सव का जुलूस इसी ज्ञातखण्ड में पहुँच कर एक अशोक वृक्ष के समीप रुका।

वर्धमान पालकी से उतरे और अशोक वृक्ष के नीचे वस्त्राभूषणों को त्याग कर स्वयं पञ्चमुष्टिक केशलोच किया। एक देवदूष्य वस्त्र बायें कंधे पर रख कर भावी जीवनचर्या की कठिन प्रतिज्ञा करने के लिए तैयार हुए।

उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग था। विजय नामक मुहूर्त वर्तमान था। ऐसे सुव्रत दिन के चौथे पहर को वैरागी वर्धमान ने सिद्धों को नमस्कार कर अपने भावी जीवन का दिग्दर्शन करानेवाली यह प्रतिज्ञा की—

'मैं समभाव को स्वीकार करता हूँ और सर्व सावद्य-योग का त्याग करता हूँ। आज से जीवन पर्यन्त मानसिक, वाचिक तथा कायिक सावद्ययोगमय आचरण न स्वयं करूँगा, न कराऊँगा और न करते हुए

का अनुमोदन करूँगा। पहले के सावद्य आचरण से निवृत्त होता हूँ, उससे घृणा करता हूँ और अपने पूर्वकालीन सावद्यजीवन का त्याग करता हूँ।'

उक्त प्रतिज्ञापूर्वक सर्वविरति-चरित्र को स्वीकार करते ही भगवान् वर्धमान को 'मनःपर्याय' ज्ञान प्राप्त हुआ।

केशलोच कर देवदूष्य वस्त्र कंधे पर रख कर 'सामायिक' की प्रतिज्ञा करते समय कुमार वर्धमान के पास एक ब्राह्मण आया और आशीर्वाद पूर्वक बोला—'जय हो, राजकुमार की जय हो। आपके सुवर्ण दान ने पृथिवीभर का दारिद्र्य दूर कर दिया पर इस भाग्यहीन ब्राह्मण को उससे लाभ नहीं हुआ। मैं परदेश से इसी समय आया हूँ, इस गरीब ब्राह्मण पर भी कुछ दया हो जाय।' ब्राह्मण की प्रार्थना पर भगवान् ने देवदूष्य के दो टुकड़े कर आधा उसे दे दिया।

दूसरा परिच्छेद

तपस्वी-जीवन

१-पहला वर्ष (वि० पू० ५१२-५११)

राजकुमारोचित सुख-वैभवों में पोसेपले ज्ञातपुत्र वर्धमान ने महावीरोचित अन्तिम कोटि की दुष्कर जीवन-चर्या अंगीकार की। राज्य-वैभव, देश-नगर और कुटुम्ब-परिवार को तृण-वत् छोड़कर आपने त्यागी जीवन—श्रामण्य को स्वीकार किया और भाई-बंधुओं से अन्तिम विदा ले ज्ञातखण्ड से आगे विहार कर गये।

ज्ञातखण्ड से चलकर एक मुहूर्त दिन शेष रहते भगवान् कमरिग्राम पहुँचे और रात्रि वहीं विताने के विचार से कायोत्सर्ग में स्थिर हो गये।

संध्या के समय वहाँ एक ग्वाला बैलों के साथ आया और बैलों को वहीं छोड़ गाँव में चला गया। जब वह कार्य से निवृत्त हो गाँव से लौटा तो बैल वहाँ नहीं थे। ध्यानस्थित भगवान् के पास जाकर उसने पूछा—'देवार्य ! क्या आप जानते हैं कि यहाँ से बैल कहाँ गये हैं।' महावीर की तरफ से गोप को कोई उत्तर नहीं मिला। उसने सोचा—देवार्य को मालूम न होगा। वह चला गया और बैलों की खोज में रात भर जंगल में भटकता रहा पर उसे बैल न मिले।

सारी रात घूमफिर कर ग्वाला रात्रि के अन्तिम भाग में वहाँ लौटा तो भगवान् के निकट बैल बैठे देखकर वह महावीर पर झल्ला कर बोला—'बैलों की बात जानते हुए भी तुमने मुझे सारी रात भटकाया है' और हाथ में रास लिए वर्धमान को मारने के लिए दौड़ा पर उसके पाँव वहीं स्तब्ध हो गये। उसी समय वहाँ इन्द्र प्रकट होकर बोला—'दुरात्मन् ! तुझे इतना भी मालूम नहीं कि ये राजा सिद्धार्थ के दीक्षित पुत्र वर्धमान हैं।'

इसके पश्चात् भगवान् को वन्दन कर इन्द्र ने कहा—'भगवन् ! बारह

वर्ष तक आपको विविध उपसर्ग होनेवाले हैं अतः आज्ञा दीजिये कि तबतक मैं आपकी सेवा में रहकर कष्ट निवारण किया करूँ।'

इन्द्र की प्रार्थना का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा— देवेन्द्र! यह कभी नहीं हुआ और न होगा। अर्हन्त देवेन्द्र या असुरेन्द्र किसी के सहारे केवलज्ञान नहीं पाते किन्तु अपने ही उद्यम, बल, वीर्य और पुरुषार्थ से केवलज्ञान पाकर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं, होते हैं और होंगे।

दूसरे दिन भगवान् ने कमरिग्राम से आगे विहार किया और कोल्लाग संनिवेश जाकर 'बहुल' ब्राह्मण के यहाँ क्षीरान्न से छट्ठ तप का पारणा किया।

कोल्लाग संनिवेश से भगवान् ने मोराक संनिवेश की तरफ प्रयाण किया और मोराक के बाहर दूइज्जन्त नामक पाषण्डस्थों के आश्रम में गये। वहाँ का कुलपति राजा सिद्धार्थ का मित्र था और महावीर का परिचित। अतः महावीर को देखते ही वह उठा और दोनों ने हाथ मिलाया। कुलपति के आग्रह से उस दिन भगवान् वहीं ठहरे। दूसरे दिन चलते समय कुलपति ने कहा—'कुमार! यह आश्रम दूसरे का न समझिये। कुछ समय यहाँ ठहर कर इसे भी पवित्र कीजिये। कम से कम आगामी वर्षावास तो यहीं बिताने की स्वीकृति दीजिये।'

कुलपति की प्रार्थना स्वीकार कर महावीर वहाँ से विहार कर गये और शीत तथा उष्णकाल आसपास के प्रदेश में व्यतीत कर वर्षा ऋतु के प्रारंभ में फिर उसी आश्रम में पहुँचे और कुलपति के बताये हुए एक झोंपड़े में रहने लगे।

यद्यपि कुलपति के आग्रहवश भगवान् ने वर्षाकाल आश्रम में बिताना स्वीकार कर लिया था पर कुछ समय रहने पर उन्हें ज्ञात हो गया कि यहाँ पर उन्हें शान्ति न मिलेगी। आप सब तरह से निवृत्ति में रहना चाहते थे परन्तु आश्रमवासियों की प्रवृत्तियाँ उससे बिलकुल विपरीत थीं। जिस झोंपड़े में आपको ठहराया गया था उसका मालिक झोंपड़े की देखभाल और रक्षा के लिये आपको बारबार चेताता और टोका करता पर आप उस ओर लक्ष्य नहीं देते थे। घास की कमी से गाएँ

झोंपड़े की घास चरा करतीं और इसकी शिकायत कुलपति तक पहुँचती। एक बार कुलपति खुद भी आपको सूचित करता हुआ बोला—'कुमार! एक पक्षी भी अपने घोंसले का रक्षण करता है और तुम क्षत्रियपुत्र होकर भी अपने आश्रय स्थान की रक्षा नहीं कर सकते?'

आश्रमवासियों के इस व्यवहार से वर्धमान का वहाँ से दिल उठ गया। उन्होंने सोचा—'अब मेरा यहाँ रहना आश्रमवासियों के लिये अप्रीतिकर होगा'। इसलिए वर्षाकाल के पंद्रह दिन व्यतीत हो जाने पर भी वहाँ से अस्थिकग्राम की ओर प्रयाण किया और वर्षाकाल वहीं पूरा किया।

उक्त घटना ने महावीर के चित्त पर बड़ा प्रभाव डाला। परिणाम-स्वरूप उन्होंने निम्नलिखित प्रतिज्ञायें कीं—

(१) अब से अप्रीतिकर स्थान में नहीं रहूँगा।
(२) नित्य ध्यान में लीन रहूँगा।
(३) नित्य मौन रहूँगा।
(४) हाथ में भोजन करूँगा।
(५) गृहस्थ का विनय नहीं करूँगा।

अस्थिकग्राम के परिसर में शूलपाणि नामक व्यन्तर देव का चैत्य था। भगवान् वहाँ गये और वहाँ ठहरने के लिये पूजक से आज्ञा माँगी पर पूजक ने यह अधिकार ग्राम का बताया। उस समय ग्रामजन भी वहीं इकट्ठे हुए थे। भगवान् ने उनसे चैत्य में ठहरने की आज्ञा माँगी तो लोगों ने कहा—'महाराज! आपका यहाँ रहना खतरनाक है। यह शूलपाणि देव कोई साधारण देव नहीं कि आप इसके मंदिर में ठहर कर सकुशल रह सकें। दिन में ही मनुष्य यहाँ रह सकता है, भूल कर भी यदि वह रात को यहाँ रह जाय तो उसकी कुशल नहीं। क्रोध की प्रतिमूर्ति यह शूलपाणि रात में यहाँ ठहरनेवाले को बड़ी निर्दयतापूर्वक मार डालता है। इस कारण रात्रिवास के लिए आप कोई दूसरा स्थान देखिए।'

ग्रामजनों का अभिप्राय सुन कर महावीर ने कहा—'इस बात की तुम कुछ भी चिन्ता न करो। हमें केवल आज्ञा चाहिये।'

इस पर उनमें से एक ने कहा—'आप यहाँ रह सकते हैं।

महावीर ने कहा—'मुझे सारे गाँव की आज्ञा चाहिए क्योंकि सारे गाँव का ही इस चैत्य पर स्वामित्व है।'

तब उपस्थित जनता ने आज्ञा प्रदान की और आपने चैत्य के एक कोने में जाकर ध्यान लगाया।

सूर्यास्त के पहले-पहले सब लोग वहाँ से चले गये। पूजक ने महावीर से कहा—'देवार्य! अब आप भी जाइये। यहाँ रह कर व्यर्थ प्राणों को संकट में न डालिये।' परंतु महावीर ने इसका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। पूजक चला गया।

भगवान् चैत्य के एक कोने में खड़े ध्यान में मग्न थे। शूलपाणि ने महावीर की इस निर्भयता को धृष्टता समझा। मन ही मन कुढ़ता हुआ वह बोला—'कैसा ढीठ मनुष्य है! गाँववालों ने समझाया, पूजक ने चेताया, फिर भी यहाँ से नहीं हटा! ठीक है। समय होने दो। अभी इसे दिखा दूँगा कि भलेमानसों की बात न माननेवालों की क्या दशा होती है।'

क्षण भर में संध्या हुई और यक्ष ने अपना पराक्रम दिखाना शुरू किया। सर्वप्रथम उसने एक अतिभयंकर अट्टहास किया जिसकी आवाज से सारा जंगल गूँज उठा। गाँव में सोते हुए मनुष्यों की छातियाँ धड़कने लगीं और हृदय दहल उठे पर इस भीषण अट्टहास का भगवान् महावीर के चित्त पर कुछ भी असर नहीं हुआ। वे निश्चल भाव से ध्यान में मग्न रहे। अब शूलपाणि ने हाथी का रूप धारण कर भगवान् के शरीर पर दन्तप्रहार किए और पैरों से उन्हें रौंदा पर भगवान् महावीर को ध्यानच्युत नहीं कर सका। फिर यक्ष ने विकराल पिशाच बन कर तीक्ष्ण नख-दन्तों से उनका शरीर नोंच-नोंच कर फाड़ा पर इस विक्रिया से भी महावीर ध्यान से विचलित नहीं हुए। पिशाच की विभीषिकाओं से कुछ नहीं बना तो शूलपाणि ने विषधर नाग बनकर उनके शरीर के अनेक भागों में डंक मारा पर महावीर के मन की थाह नहीं पाया।

अन्त में शूलपाणि ने अपनी दिव्यशक्ति से उनके शरीर में अनेक

वेदनायें उत्पन्न कीं और विशेष कर सिर, कान, आँख, नाक, दाँत, नख और पीठ इन सात अङ्गों में। पर क्षमामूर्ति श्रमण महावीर इन सब वेदनाओं को धैर्य्यपूर्वक सहन करते रहे।

रात भर शूलपाणि ने महावीर को विविध कसौटियों पर कसा पर उन्होंने लेशमात्र भी रंग न बदला। फलस्वरूप देव ने अपनी पराजय स्वीकार की और जिस क्रूर प्रकृति से उसने महावीर का सामना किया था वह प्रकृति उसके हृदय में से सदा के लिये विलीन हो गई। वह शान्त होकर क्षमाशील महावीर के चरणों में गिर पड़ा और अपराध की क्षमा प्रार्थना करता हुआ महावीर की धीरज और क्षमाशीलता के गीत गाने लगा।

उस दिन भगवान् ने पिछली रात में एक मुहूर्त भर निद्रा ली जिसमें उन्होंने निम्नोक्त दस स्वप्न देखे—

(१) अपने हाथ से ताल पिशाच का मारना।
(२) अपनी सेवा करता हुआ श्वेतपक्षी।
(३) सेवा करता हुआ चित्र कोकिल पक्षी।
(४) सुगन्धित दो पुष्पमालाएँ।
(५) सेवा में उपस्थित गोवर्ग।
(६) पुष्पित-कमलोंवाला पद्म सरोवर।
(७) समुद्र का पार करना।
(८) उदीयमान सूर्य की किरणों का फैलना।
(९) अपनी आँतों से मानुषोत्तर पर्वत का लपेटना, और
(१०) मेरुपर्वत पर चढ़ना।

रात्रि के समय में शूलपाणि के अट्टहास को सुनकर ग्रामवासियों ने देवार्य के मारे जाने का अनुमान किया और पिछली रात को जब यक्ष ने गीत गाये तो लोगों ने निश्चय कर लिया कि देवार्य को मार कर वह यक्ष खुशी मना रहा है।

अस्थिकग्राम में एक उत्पल नामक निमित्तवेत्ता विद्वान् रहता था जो किसी समय पार्श्वनाथ की परम्परा का जैन साधु था और बाद में गृहस्थ बनकर निमित्त ज्योतिष से अपनी जीविका चलाता था।

उत्पल ने जब सुना कि शूलपाणि के चैत्य में ठहरे हुए देवार्य नव-प्रव्रजित भगवान् वर्धमान हैं तो उसे बड़ी चिन्ता हुई और अमंगल कल्पनाओं में सारी रात पूरी कर सूर्योदय होते ही पूजक इन्द्रशर्मा और अन्य अनेक ग्राम के लोगों के साथ वह देवार्य का पता लेने शूलपाणि के चैत्य में गया। वहाँ पहुँचते ही उत्पल ने देखा कि महावीर के चरणों में पुष्प गन्धादि द्रव्य चढ़े हुए हैं । इस दृश्य से उत्पल और ग्रामजन के हर्ष का पार नहीं रहा । हर्षावेश में गगनभेदी नारे लगाते हुए वे सब भगवान् के चरणों में गिर पड़े और कृतज्ञता प्रकाश करते हुए बोले-'बहुत अच्छा हुआ जो देवार्य ने अपने दिव्य आत्मबल से क्रूर यक्ष को शान्त कर दिया।'

भगवान् के स्वप्नों का फलादेश कहता हुआ उत्पल बोला-'भगवन् ! पिछली रात को आपने जो स्वप्न देखे हैं उनका फल इस प्रकार होगा-

(१) आप मोहनीय कर्म का जल्दी नाश करेंगे ।
(२) शुक्ल ध्यान आपका साथ न छोड़ेगा ।
(३) आप विविध ज्ञानमय द्वादशाङ्ग श्रुत की प्ररूपणा करेंगे ।
(४) ?
(५) श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविकात्मक संघ आपकी सेवा करेगा।
(६) चतुर्विध देवनिकाय आपकी सेवा में उपस्थित होगा ।
(७) संसार समुद्र को आप पार करेंगे ।
(८) आपको केवलज्ञान उत्पन्न होगा ।
(९) स्वर्ग मर्त्य और पाताल तक आपका निर्मल यश फैलेगा, और
(१०) सिंहासन पर बैठकर आप देव और मनुष्यों की सभा में धर्मप्रज्ञापना करेंगे । इस प्रकार आपके ९ स्वप्नों का फल तो मैंने समझ लिया पर चौथे स्वप्न में आपने जो सुगन्धित पुष्पमाला-युग देखा उसका फल मेरी समझ में नहीं आया ।'

चतुर्थ स्वप्न का फल बताते हुए भगवान् ने कहा-'उत्पल ! मेरे चतुर्थ स्वप्नदर्शन का फल यह होगा कि सर्वविरति और देशविरतिरूप द्विविध धर्म का मैं उपदेश करूँगा ।'

यह प्रथम वर्षा–चातुर्मास्य भगवान् ने १५–१५ उपवास की आठ तपस्याओंसे पूर्ण किया।

मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को भगवान् ने अस्थिकग्राम से वाचाला की तरफ विहार किया। बीच में मोराक सन्निनेश के उद्यान में कुछ समय तक ठहरे पर वहाँ पर इनके तप, ध्यान और ज्ञान की प्रसिद्धि इतनी अधिक हो गई कि दिन भर वहाँ लोगों का मेला सा रहने लगा। ध्यानपरायण महावीर के लिये यह लोगों का जमघट असह्य हो गया। दूसरी तरफ वहाँ के रहनेवाले 'अच्छंदक' नाम के पाषण्ड लोग भी, जो ज्योतिष निमित्त आदि से अपना निर्वाह चला रहे थे, महावीर की इस ख्याति और प्रशंसा से जलते थे और महावीर को अन्यत्र जाने की प्रार्थना करते थे। इस परिस्थिति में वहाँ अधिक रहना अनुचित समझ कर भगवान् आगे वाचाला की तरफ विहार कर गये।

२–दूसरा वर्ष
(वि० पू० ५११–५१०)

वाचाला नामक दो संनिवेश थे—एक उत्तर वाचाला और दूसरा दक्षिण वाचाला। दोनों संनिवेशों के बीच में सुवर्णवालुका तथा रूप्यवालुका नाम की दो नदियाँ बहती थीं। भगवान् महावीर दक्षिण वाचाला होकर उत्तर वाचाल को जा रहे थे तब उनका दीक्षाकालीन आधा देवदूष्य भी सुवर्णवालुका के तट पर गिर गया। भगवान् उसे वहीं छोड़कर आगे चले गये और बाद में कभी वस्त्र ग्रहण नहीं किया।

उत्तर वाचाला के दो मार्ग थे—एक कनकखल आश्रमपद के भीतर होकर जाता था और दूसरा उसके बाहर से होकर। भीतरवाला मार्ग सीधा होने पर भी भयंकर और उजड़ा हुआ था और बाहर का मार्ग लम्बा और टेढ़ा होने पर भी निर्भय। भगवान् ने भीतर के मार्ग से प्रयाण किया भगवान् अभी थोड़े ही कदम आगे बढ़े थे कि गोपालों ने उन्हें चेताया। वे बोले–'देवार्य! यह मार्ग निरापद नहीं है। इसमें एक अतिभयंकर दृष्टिविष सर्प रहता है जो अपनी विषज्वालाओं से मुसाफिरों को जलाकर भस्म कर देता है। यही कारण है कि यह मार्ग सीधा होते हुए भी उजड़ा हुआ है। आप इसे छोड़िये और बाहर के मार्ग से जाइये।

महावीर ने हितचिन्तकों की चेतावनी पर कोई ध्यान नहीं दिया

और उसी मार्ग से चलते हुए वे उस सर्प के बिल के समीप यक्ष के देवालय में जाकर ध्यानारूढ़ हो गये।

सारा दिन आश्रमपद में घूम-फिरकर सर्प जब अपने स्थान पर आया तो उसकी नजर ध्यानस्थित भगवान् के ऊपर पड़ी। वह चकित होकर सोचने लगा कि बहुत समय से निर्जन इस वन में यह मनुष्य कैसे आ गया है? उसने अपनी विषमय दृष्टि उन पर फेंकी। साधारण मनुष्य एक ही दृष्टिनिपात से जलकर खाक हो जाता पर महावीर पर इसका कोई असर नहीं हुआ। दूसरी तीसरी बार भी सर्प ने अपनी विषपूर्ण दृष्टि महावीर पर फेंकी फिर भी उसका कोई फल नहीं हुआ।

अब सर्प के क्रोध का पार नहीं रहा। वह बड़े जोरों से उन पर झपटा और पाँव के अँगूठे में काटा। मूर्च्छित देह उसके ऊपर न गिरे इस भय से एक ओर हट गया और स्थिरदृष्टि से उनके मुख के भाव देखने लगा। देर तक देखने के बाद उसने निश्चय किया कि इनकी शान्ति तथा स्थिरता में कोई चलन नहीं हुआ।

सर्प ने दूसरी और तीसरी बार पूरी ताकत से आक्रमण किया पर परिणाम वही रहा जो पहले था। अब सर्प को निश्चय हो गया कि यह कोई साधारण मनुष्य नहीं है। वह स्थिरदृष्टि से भगवान् के मुख की तरफ देखने लगा। ज्यों ज्यों वह उनकी मुखमुद्रा को निहारता था त्यों त्यों प्रशमरसपूर्ण भगवान् की दृष्टि में चमकती हुई शान्ति और क्षमा की ज्योति से उसकी आँखें चौंधिया रही थीं। इसी समय महावीर ने ध्यान समाप्त कर उसे संबोधित किया—"समझ! चण्डकौशिक समझ!!"

भगवान् के इस वचनामृत से सर्प का क्रूर हृदय पानी पानी हो गया। वह शान्त होकर सोचने लगा—'चण्डकौशिक यह नाम मैंने कहीं सुना हुआ है।' ऊहापोह करते करते उसको अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। किस प्रकार उसका जीव पूर्व के तीसरे भव में इस आश्रमपद का 'चण्डकौशिक' नामक कुलपति था, किस प्रकार वह उद्यान को उजाड़नेवाले राजपुत्रों के पीछे दौड़ा, किस प्रकार दौड़ता हुआ गड्ढे में गिर कर मरा और पूर्व संस्कार वश भवान्तर में इस उद्यान में सर्प की जाति में उत्पन्न होकर इसका रक्षण करने लगा इत्यादि सब बातें उसको

याद आ गईं। वह विनीत शिष्य की तरह भगवान् महावीर के चरणों में जा पड़ा और पाप का पश्चात्ताप करते हुए उसने अपने वर्तमान पापमय जीवन का अन्त करने के लिये अनशन कर लिया। भगवान् भी वहीं ध्यानारूढ रहे।

पन्द्रह दिन के अनशन के उपरान्त देह छोड़ कर चण्डकौशिक ने स्वर्ग प्राप्त किया और भगवान् ने आगे विहार किया। उत्तर वाचाला में जाकर महावीर ने नागसेन के घर १५ उपवास का पारणा किया।

उत्तर वाचाला से भगवान् सेयंविया की ओर गये। यहाँ पर राजा प्रदेशी ने आपका बहुत ही आदर-सत्कार किया।

सेयंविया से भगवान् सुरभिपुर को जा रहे थे। मार्ग में प्रदेशी राजा के पास जाते हुए पाँच नैयक राजा मिले। इन्होंने भगवान् का बड़ा आदर सत्कार किया।

सुरभिपुर और राजगृह के बीच में गंगा नदी पड़ती थी। भगवान् नाव पर चढ़े। दूसरे भी अनेक मुसाफिर नाव में बैठे थे जिनमें खेमिल नामक एक नैमित्तिक भी था। नाव के आगे चलते ही दाहिनी तरफ से घोर उलूकध्वनि हुई जिसे सुन कर खेमिल बोला—'यह बड़ा अपशकुन है। मालूम होता है कि हम सब पर प्राणान्तक कष्ट आनेवाला है पर इन महात्मा पुरुष के प्रभाव से हम बाल-बाल बच जायेंगे।'

नाव का गंगा के मध्यभाग में पहुँचना ही था कि वहाँ एक बड़ा भारी बवंडर आया। बाँसों पानी उछलने लगा। नाव हिलोरें खाने लगी और यात्रिजन अपने अपने इष्टदेवों और इष्टजनों को याद कर चिल्लाने लगे। बड़ी दिल दहलानेवाली घटना थी। सबके हृदय धड़क रहे थे। पर इस उत्पात के समय भी भगवान् महावीर नाव के एक कोने में निश्चल भाव से बैठे हुए ध्यान में मग्न थे।

कुछ समय के बाद तूफान शान्त हुआ। नाव किनारे लगी। यात्री लोग नया जन्म मानते हुए नाव से जल्दी जल्दी उतरने लगे। भगवान् भी नाव से उतरे और गंगा के पुलिन में चलते हुए थूणाक संनिवेश के परिसर में जाकर ध्यानारूढ हो गये।

थोड़ी देर के बाद 'पुष्य' नामक एक सामुद्रिक शास्त्री उस रास्ते से

गुजरा और गंगा के पुलिन में पड़े हुए महावीर के पदचिह्नों को देख कर चकित हो गया और मन में सोचने लगा—'सचमुच आफत का मारा कोई चक्रवर्ती इस रास्ते से अकेला पैदल ही गया है। मैं जाकर उसकी सेवा करूँ ताकि भविष्य में जब इसे चक्रवर्ती पद मिले तो मेरे भी भाग्य खुल जायँ।' पुष्य भगवान् की पदपंक्ति का अनुसरण करता हुआ थूणाक के परिसर में पहुँचा तो उसकी दृष्टि ध्यानावस्थित महावीर पर पड़ी। भगवान् को देखते ही वह निराश होकर बोला—'आज तक मैं समझता था कि सामुद्रिक शास्त्र सच्चा है पर अब मेरा विश्वास उठ गया। शास्त्र में कहा है कि ऐसे रेखाङ्कित पादतल जिसके हों वह अवश्य ही चक्रवर्ती होता है पर आज मैं अपनी आँखों से देख रहा हूँ कि ऐसी रेखाओंवाला मनुष्य भी भिक्षु बन कर वन वन भटक रहा है!'

पुष्य का शास्त्र से विश्वास उठ चुका था और शायद वह अपने ग्रन्थों को जलशरण भी कर देता पर इसी समय उसके सुनने में आया कि जिनके विषय में वह ऊहापोह कर रहा है वे कोई सामान्य भिक्षु नहीं हैं। ये भावी तीर्थंकर हैं जो चक्रवर्ती और स्वर्ग के इन्द्रों के भी पूजनीय हैं। तब वह शान्त हो गया।

थूणाक से विहार करते हुए महावीर राजगृह पहुँचे और नगर की बाहिरिका (उपनगर) नालन्दा में एक तन्तुवायशाला में जाकर वर्षावास किया। इसी तन्तुवायशाला में गोशालक नामक एक मंखजातीय युवा भिक्षु भी वर्षा चातुर्मास्य बिताने के लिये ठहरा हुआ था।

गोशालक का स्वीकार

इस चातुर्मास्य में भगवान् मासक्षपण के अन्त में आहार लेते थे। महावीर के इस तप, ध्यान और अन्य गुणों से गोशालक बहुत प्रभावित हुआ और उसने महावीर का शिष्य होने का निश्चय कर लिया। वह भगवान् के पास आकर बोला—'भगवन्! मैं आपका शिष्य होना चाहता हूँ।' पर महावीर ने उसकी इस प्रार्थना का कोई उत्तर नहीं दिया।

कार्तिक पूर्णिमा के दिन भिक्षाचर्या को जाते हुए गोशालक ने पूछा—'आज मुझे भिक्षा में क्या मिलेगा?' भगवान् ने उत्तर दिया—'कोदों के तन्दुल, खट्टी छाछ और एक कूट रुपया।'

गोशालक को भगवान् की भविष्यवाणी झूठी ठहराने की सूझी और उस रोज वह धनाढ्य लोगों के घरों में ही भिक्षा के लिए गया परन्तु संयोगवश उसे कहीं कुछ भी नहीं मिला। अन्त में दोपहर के बाद उसे एक कर्मकार ने कोदों के तन्दुल और खट्टी छाछ का भोजन कराया और एक रुपया दक्षिणा में दिया जो परखाने पर कूट निकला।

गोशालक के मन पर इस घटना का बड़ा प्रभाव पड़ा और उसके परिणामस्वरूप वह नियतिवाद का कायल हो गया और कहने लगा—"होनी कभी टल नहीं सकती। जैसा होने वाला होता है वैसा पहिले ही से नियत रहता है।"

वर्षा चातुर्मास्य समाप्त होते ही भगवान् ने नालंदा से विहार किया और राजगृह के समीप कोल्लाग संनिवेश में जाकर बहुल ब्राह्मण के यहाँ अन्तिम मासक्षपण का पारणा किया। इसके पहले के तीन मास-क्षपणों के पारणे आपने राजगृह में ही किये थे।

नालन्दा से भगवान् ने विहार किया। उस समय गोशालक भिक्षाटन करने गया था। भिक्षाचर्या से निपट कर शाला में आया तो भगवान् दृष्टिगोचर नहीं हुए। उसने सोचा कि वे बस्ती में गये होंगे। वह फिर नगर में गया और राजगृह का एक एक मुहल्ला और एक एक गली खोज डाली पर महावीर का कहीं पता न लगा। अब उसने सोचा कि देवार्य कहीं बाहर चले गये हैं। वह लौट कर अपने निवास स्थान पर आया और जो कुछ अपने पास आजीविका के साधन थे ब्राह्मणों को अर्पण कर दिए और आप सिर मुँड़वा कर महावीर की खोज में निकल पड़ा।

राजगृह के शाखापुरों में ढूँढता हुआ मंखलिपुत्र कोल्लागसंनिवेश पहुँचा। उसने वहाँ एक तपस्वी की तपस्या और उन्हें पारणा कराने के फल की चर्चा सुनी तो सोचा कि ये बातें देवार्य के सिवा अन्यत्र नहीं घट सकतीं, अवश्य ही देवार्य यहाँ होने चाहियें। वह गाँव में जा ही रहा था कि भगवान् गाँव के भीतर से लौटते हुए उसे रास्ते में मिल गए। गोशालक ने नमस्कार किया और हाथ जोड़ कर बोला—'भगवन्!

आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य।' गोशालक की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए भगवान् ने कहा—'अच्छा।'

कोल्लाग से भगवान् गोशालक के साथ सुवर्णखल की तरफ जा रहे थे। रास्ते में उन्हें एक जगह ग्वालों की टोली मिली जो हाँड़ी में खीर पका रही थी। गोशालक बोला—देखते हैं, भगवन्! ग्वाले खीर पका रहे हैं! जरा ठहर जाइये। हम भी यहाँ भोजन करके चलेंगे।

३-तीसरा वर्ष
(वि० पू० ५१०-५०९)

भगवान् ने कहा—यह खीर पकेगी ही नहीं। बीच में ही हाँडी फट कर गिर जायगी।

गोशालक ने ग्वालों से कहा—सुनते हो! ये त्रिकालज्ञानी देवार्य कहते हैं—'यह खीर की हाँडी टूट जायगी।'

गोशालक की चेतावनी से गोपमंडली विशेष सतर्क हुई और बाँस की खपाटियों से हाँडी को अच्छी तरह बाँध दिया और चारों ओर से उसे घेर कर बैठ गये।

भगवान् आगे निकल गये पर गोशालक क्षीरभोजन के लिए वहीं ठहर गया था। खीर पक रही थी। हाँडी दूध से भरी हुई थी और चावल भी उसमें अधिक डाल दिये थे। अतः जब वे पक कर फूले तो हाँडी फट कर दो टुकड़े हो गई और गोशालक की आशा के साथ खीर धूल में मिल गई। इस घटना से निराश होकर मंखलिपुत्र बोला—'होनहार किसी उपाय से अन्यथा नहीं होता।'

तत्पश्चात् भगवान् और गोशालक ब्राह्मणगाँव में गये। इस गाँव के दो भाग थे—एक नन्दपाटक और दूसरा उपनन्दपाटक। इन पाटकों के स्वामी क्रमशः नन्द तथा उपनन्द नामक दो भाई थे।

भगवान् महावीर नन्दपाटक में नन्द के घर भिक्षार्थ गये। वहाँ उनको भिक्षा में बासी भोजन ही मिला। गोशालक भी उपनन्दपाटक में उपनन्द के घर गया। उपनन्द की आज्ञा से उसकी दासी बासी चावल लेकर भिक्षा देने के लिए आई परंतु गोशालक ने उसे लेने से इन्कार कर दिया। इस पर उपनन्द ने दासी से कहा—'यदि लेता है तो

अच्छी बात है नहीं तो तन्दुलों को इसके ऊपर ही फेंककर चली आ।' दासी ने ऐसा ही किया।

ब्राह्मणगाँव से भगवान् और गोशालक चम्पानगरी गये और तीसरा वर्षावास चम्पा में किया। इस चातुर्मास्य में भगवान् ने दो दो मास-क्षपण की दो तपस्याएँ कीं और विचित्र आसनों से ध्यान किया। पहले क्षपण का पारणा चम्पा में किया और दूसरे का चम्पा के बाहर। वहाँ से आपने कालायसंनिवेश की तरफ विहार किया।

कालाय में भगवान् ने एक खण्डहर में वास किया और रात भर वहीं ध्यानारूढ़ रहे। कालाय से आप पत्तकालय पहुँचे और वहाँ भी खंडहर में ही ठहरे और रात भर ध्यानस्थित रहे। उक्त दोनों स्थानों में गोशालक को अपने ओछेपन के कारण लोगों से मार खानी पड़ी।

४—चौथा वर्ष
(वि० पू० ५०९—५०८)

पत्तकालय से आपने कुमारासंनिवेश की ओर विहार किया और चम्परमणीय उद्यान में कायोत्सर्ग ध्यान लगाया।

भिक्षा का समय होने पर गोशालक ने कहा—चलिये भगवन्, भिक्षा का समय हो गया है।

भगवान् ने कहा—'हमारा तो आज उपवास है।'

उस समय पार्श्वापत्य मुनिचन्द्र स्थविर कुमारा में विचरते थे। आपका वास कुमारा के कूवणय कुम्हार की शाला में था। गोशालक जब कुमारा में गया तो उसे पार्श्वापत्य मुनि मिले। उन्हें देखकर गोशालक ने पूछा—तुम कौन हो ?

पार्श्वापत्य— हम श्रमण निर्ग्रन्थ हैं।

गोशालक – वाह रे निर्ग्रन्थ ! इतना इतना ग्रन्थ पास में रखते हुए भी तुम निर्ग्रन्थ ? निर्ग्रन्थ तो मेरे धर्माचार्य हैं जो तप और त्याग की साक्षात् प्रतिमूर्ति हैं।

पार्श्वापत्य – जैसा तू है वैसे ही स्वयंगृहीत-लिंग तेरे धर्माचार्य भी होंगे।

गोशालक – तुम मेरे धर्माचार्य की निन्दा करते हो ? मेरे धर्माचार्य के तपस्तेज से तुम्हारा उपाश्रय जलकर भस्म हो जाएगा।

पार्श्वापत्य – हम तुम्हारे जैसों के शाप से जलनेवाले नहीं।

देर तक पार्श्वापत्य अनगारों के साथ तकरार करके गोशालक अपने स्थान पर आया और बोला – भगवन्! आज तो मेरी सारम्भ और सपरिग्रह श्रमणों से भेंट हुई।

भगवान् ने कहा – वे पार्श्वापत्य अनगार हैं।

कुमारा से भगवान् गोशालक के साथ चोराक संनिवेश गये। वहाँ आरक्षकों ने उनसे परिचय माँगा और उत्तर न मिलने पर उन्हें गुप्तचर समझ कर पकड़ लिया और उन्हें काफी तंग किया परंतु दोनों में से किसी ने भी अपने बचाव के लिए सफाई नहीं दी। यह बात जब सोमा और जयन्ती नामक परिव्राजिकाओं ने सुनी तो उन्होंने घटनास्थल पर पहुँचकर आरक्षकों को महावीर का परिचय दिया। तब आरक्षकों ने आपको आदर-सत्कारपूर्वक छोड़ दिया।

चोराक से भगवान् ने पृष्ठचम्पा की ओर विहार किया और चौथा वर्षावास पृष्ठचम्पा में ही किया। इस वर्षावास में आपने चातुर्मासिक तप और विचित्र आसनों से ध्यान किया। चातुर्मास्य समाप्त होने पर बाहर गाँव में तप का पारणा कर आपने कयंगला की ओर विहार कर दिया।

५-पाँचवाँ वर्ष
(वि० पू० ५०८–५०७)

कयंगला में 'दरिद्दथेर' नामधारी पापंडस्थ लोग रहते थे। वे सपत्नीक और सारंभ परिग्रही थे। भगवान् ने उनके देवल में एक रात व्यतीत की। उस दिन उनका धार्मिकोत्सव था इसलिए सन्ध्या होते ही सब स्त्री पुरुष देवल में एकत्रित होकर बाजे-गाजों के साथ गाते हुए उत्सव मनाने लगे।

फड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था और उस पर यह धमाल! गोशालक परेशान हो गया। वह लाचारी से रात्रिजागरण करता हुआ उनकी इस धार्मिक प्रवृत्ति की निन्दा करने लगा। बोला – 'यह भी कोई धर्म है, जहाँ स्त्री पुरुष रात्रि में गाते बजाते हैं?' अपने धर्म की निन्दा सुनकर लोगों ने उसे मंदिर से निकाल दिया।

बाहर जाड़े से सिकुड़ कर बैठा हुआ गोशालक बोल रहा था – 'दुनिया

का रास्ता ही उलटा है। यहाँ सच बोलनेवालों की यह हालत होती है।' इस प्रकार बड़बड़ाता हुआ वह ठिठुर रहा था। लोगों को फिर उस पर दया आई और बोले—'यह देवार्य का सेवक है। इसे हैरान न करो, वापस भीतर बुला लो और जोरों से बाजे बजाओ ताकि इसकी बड़-बड़ाहट सुनाई न दे।'

कयंगला से भगवान् श्रावस्ती पहुँचे और नगर के बाहर कायोत्सर्ग ध्यान किया और वहाँ से आपने हलिद्दुग गाँव की तरफ विहार किया।

हलिद्दुग के बाहर एक बहुत बड़ा वृक्ष था जिसे लोग हलिद्दुग कहते थे। महावीर और गोशालक ने इस हलिद्दुग के नीचे रात्रि-वास किया। और भी बहुत से पथिक लोग वहाँ ठहरे हुए थे जो प्रातःकाल होते ही चले गये। अब महावीर और गोशालक ये दो ही व्यक्ति वहाँ रह गये।

प्रातःकाल हलिद्दुग के नीचे एक दुर्घटना घटित हुई। यात्रियों ने वहाँ पर जो आग जलाई थी वह जलती हुई आगे बढ़ गई। जिस स्थान में भगवान् ध्यानारूढ़ थे वहाँ घास-पत्ते आदि बहुतसा कूड़ा पड़ा था। देखते ही देखते आग वहाँ पहुँची और 'भागो! भागो!' कहता हुआ गोशालक वहाँ से भाग गया। महावीर ध्यानस्थित रहे और आग की लपटों से उनके पाँव झुलस गये।

दोपहर के समय भगवान् ने वहाँ से विहार किया और नंगला गाँव के बाहर वासुदेव के मंदिर में जाकर ठहरे। नंगला से आप आवत्ता गाँव गये और बलदेव के मंदिर में ध्यान किया। आवत्ता से विचरते हुए भगवान् और गोशालक चोराय संनिवेश होकर कलंबुका संनिवेश की ओर गये।

कलंबुका के अधिकारी मेघ और कालहस्ती जमींदार होते हुए भी पासपड़ोस के गाँवों में डाके डाला करते थे। जिस समय भगवान् वहाँ पहुँचे कालहस्ती डाकुओं के साथ डाका डालने जा रहा था। इन दोनों को देखकर डाकुओं ने पूछा—'तुम कौन हो?' इन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। कालहस्ती ने विशेष शंकित होकर इन्हें पिटवाया और प्रत्युत्तर न मिलने से बँधवाकर मेघ के पास भेज दिया।

मेघ ने महावीर को गृहस्थाश्रम में एक बार क्षत्रियकुण्ड में देखा था। उसने महावीर को देखते ही पहिचान लिया और तुरंत छुड़ाकर बोला—'क्षमा कीजिये भगवन्! आपको न पहिचानने से यह अपराध हो गया है।' यह कहते हुए उसने लोगों को उनका परिचय कराया और बहुमानपूर्वक वन्दन कर विदा किया।

अभी बहुत कर्मों का क्षय करना बाकी है और अनार्य देश में कर्म-निर्जरा में सहायक अधिक मिलेंगे। यह सोचकर आपने राढभूमि की ओर विहार कर दिया। यहाँ पर अनार्य लोगों की अवहेलना, निन्दा, तर्जना और ताड़ना आदि अनेक उपसर्गों को सहते हुए आपने बहुत से कर्मों की निर्जरा कर डाली।

भगवान् राढभूमि से लौट रहे थे। उसके सीमाप्रदेश के पूर्णकलश नामक अनार्य गाँव से निकल कर आप आर्य देश की सीमा में आ रहे थे कि बीच में दो चोर मिले जो अनार्य भूमि में चोरी करने जा रहे थे। भगवान् के दर्शन को उन्होंने अपशकुन माना और इसे निष्फल करने के विचार से उन्होंने भगवान् पर आक्रमण किया पर तत्काल इन्द्र ने वहाँ प्रत्यक्ष होकर आक्रमण निष्फल कर दिया।

आर्य प्रदेश में पहुँच कर भगवान् मलय देश में विहार करते रहे और पाँचवाँ वर्षावास मलय की राजधानी भद्दिल नगरी में किया। इस चातुर्मास्य में भी भगवान् ने चातुर्मासिक तप और 'स्थान' आदि अनेक आसनों से ध्यान किया। चातुर्मास्य समाप्त होने पर भगवान् ने भद्दिल नगरी के बाहर पारणा कर कयलि समागम की ओर विहार कर दिया।

६—छठा वर्ष
(वि० पू० ५०७-५०६)

भगवान् कयलि समागम से जंबूसंड और वहाँ से तंबाय संनिवेश गये। तंबाय में उन दिनों पार्श्वापत्य नन्दिषेण स्थविर विचर रहे थे। गोशालक को वहाँ भी पार्श्वापत्य अनगार मिले और उनके साथ तकरार हुई।

तंबाय से भगवान् कूपियसंनिवेश गये। यहाँ पर आपको गुप्तचर समझ कर राजपुरुषों ने पकड़ कर पीटा और सफाई न देने पर कैद

कर लिया। परन्तु विजया और प्रगल्भा नामक दो परिव्राजिकाओं ने तुरन्त घटनास्थल पर पहुँच कर राजपुरुषों का तिरस्कार कर कहा—'क्या तुम लोग सिद्धार्थ राजा के पुत्र, अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर को नहीं पहिचानते ? यदि यह बात इन्द्र तक पहुँचे तो तुम्हारी क्या दशा हो ?' यह सुन कर राज्याधिकारी काँप उठे। उन्होंने अपनी इस अज्ञानजन्य भूल के लिए भगवान् से क्षमा प्रार्थना की। दयामूर्ति भगवान् महावीर ने मौन रह प्रार्थना स्वीकार की।

कूपिय से भगवान् ने वैशाली की ओर विहार किया। गोशालक ने इस समय आपके साथ चलने से इन्कार कर दिया। उसने कहा—'आपके साथ रहते हुए मुझे बहुत कष्ट उठाना पड़ता है परन्तु आप कुछ भी सहायता नहीं देते इसलिये अब मैं आपके साथ न चलूँगा। भगवान् शान्त रहे।

भगवान् क्रमशः वैशाली पहुँचे और लोहे के कारखाने में वास किया। दूसरे दिन एक लोहार जो छः महीने की लंबी बीमारी से उठा था, कारखाने में काम पर गया तो उसे पहले-पहल भगवान् के दर्शन हुए। लोहार इस परममंगल को भी अज्ञानवश अमंगल मान कर हथौड़ा लेकर उन्हें मारने के लिए दौड़ा। परन्तु उसके हाथ पाँव एकदम स्तब्ध हो गए।

वैशाली से भगवान् ग्रामाक संनिवेश की ओर गये। ग्रामाक के उद्यानस्थित बिभेलक यक्ष ने आपकी बहुत महिमा की।

ग्रामाक से आप शालिशीर्ष पधारे और उसके बाहर उद्यान में कायोत्सर्ग ध्यान लगाया।

माघ महीने की कड़ी सर्दी में भगवान् खुले शरीर ध्यान कर रहे थे कि वहाँ कटपूतना नामक एक व्यन्तर देवी आई और भगवान् को देखते ही वह द्वेषवश जल उठी। क्षणभर में उसने परिव्राजिका का रूप धारण किया और बिखरी हुई जटाओं में पानी भरभर कर भगवान् के ऊपर छिड़कने लगी और उनके कंधों पर चढ़ कर धूनती हुई हवा करने लगी। इस भीषण और असाधारण उपसर्ग से भी भगवान् अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए।

कटपूतनाकृत घोर उपसर्ग को धीरज और क्षमापूर्वक सहते हुए भगवान् को 'लोकाऽवधि' ज्ञान उत्पन्न हुआ और उससे आप लोकवर्ती समस्त रूपी द्रव्यों को हस्तामलकवत् जानने और देखने लगे। अन्त में महावीर की धीरज और क्षमाशीलता के आगे कटपूतना ने अपनी हार मानी और क्रोध को शान्त कर भगवान् की पूजा की।

शालिशीर्ष से भगवान् ने भद्दियानगरी की तरफ विहार किया और छठा वर्षावास आपने भद्दिया में ही किया।

गोशालक भी छः महीने तक अकेला घूम-फिरकर शालिशीर्ष में आकर फिर भगवान् के साथ मिल गया। भद्दिया के इस चातुर्मास्य में भी आपने चातुर्मासिक तप और विविध योगासन तथा योगक्रियाओं की साधना की। चातुर्मास्य समाप्त होने पर आपने भद्दिया के बाहर चातुर्मासिक तप का पारणा किया और वहाँ से मगध भूमि की ओर विहार किया।

इस वर्ष शीत और उष्णकाल में भगवान् मगधभूमि में ही विचरे और वर्षाकाल निकट आने पर आप आलंभिया पधारे और सातवाँ वर्षावास आलंभियानगरी में किया।

७—सातवाँ वर्ष
(वि० पू० ५०६—५०५)

आलंभिया के वर्षावास में भी भगवान् ने चातुर्मासिक तप और विविध योगक्रियाओं की साधना की। चातुर्मास्य के अन्त में भगवान् ने नगर के बाहर जाकर तप का पारणा किया और वहाँ से कुंडाकसंनिवेश की ओर विहार किया।

कुछ समय तक भगवान् कुंडाक के वासुदेव के मंदिर में रहे और वहाँ से विहार कर मद्दनासंनिवेश जाकर बलदेव के मंदिर में ध्यान किया। मद्दना से आप बहुसाल होते हुए लोहार्गला राजधानी पधारे। लोहार्गला के राजा जितशत्रु पर उन दिनों शत्रुओं की वक्रदृष्टि होने से राजपुरुष बहुत सतर्क रहते थे। कोई व्यक्ति अपना परिचय दिए बिना नगरी में प्रवेश नहीं कर सकता था। महावीर और गोशालक के यहाँ

८—आठवाँ वर्ष
(वि० पू० ५०५—५०४)

कर लिया है तो वह बहुत निराश हुआ और पूरण सेठ के, जिसके यहाँ भगवान् ने आहार किया था, भाग्य की प्रशंसा की।

चातुर्मास्य पूरा होने पर भगवान् ने वैशाली से सूसुमारपुर की तरफ विहार किया।

सूसुमारपुर के परिसर में आप अशोक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग में खड़े थे। यहीं पर चमरेन्द्र ने इन्द्र के वज्र प्रहार से भयभीत होकर आपके चरणों में शरण ली। यहाँ से भगवान् भोगपुर तथा नन्दीग्राम होते हुए मेंढियगाँव पधारे। यहाँ भी एक गोप ने आपको उपसर्ग करने की निष्फल चेष्टा की।

१२–बारहवां वर्ष
(वि० पू० ५०१–५००)

मेंढिय से आप कोशाम्बी पधारे और पौष-कृष्ण प्रतिपद् के दिन भिक्षाविषयक यह घोर अभिग्रह किया—"मुण्डितसिर, पाँवों में बेड़ियों सहित, तीन दिन की भूखी, रांधे हुए उरद के बाकुले सूप के कोने में लेकर भिक्षा का समय बीत चुकने पर द्वार के बीच में खड़ी हुई तथा दासत्व को प्राप्त हुई यदि कोई राजकुमारी भिक्षा देगी तो ही ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं।"

उक्त प्रतिज्ञा करके भगवान् प्रति दिन कोशाम्बी में भिक्षाटन के लिए जाते परन्तु कहीं भी अभिग्रह पूर्ण नहीं होता था। इस प्रकार आपको घूमते २ चार महीने बीत गये पर अभिग्रह पूरा न हुआ।

एक दिन आप कोशाम्बी के अमात्य सुगुप्त के घर पधारे। अमात्य-पत्नी नन्दा श्राविका भक्तिपूर्वक भिक्षान्न देने आई पर भगवान् कुछ लिए बिना ही चले आए। नन्दा पछताने लगी। तब दासियों ने कहा—'ये देवार्य तो प्रति दिन यहाँ आते हैं और कुछ भी लिए बिना चले जाते हैं।' तब से नन्दा ने निश्चय किया कि अवश्य ही भगवान् को कोई दुर्गम अभिग्रह है जिससे आप आहार नहीं लेते। नन्दा बहुत चिन्तित हुई।

जब अमात्य घर आया तो नन्दा को उदासीन देखा। उसने पूछा—'क्या बात है ? चिन्तित सी दीख रही हो।'

नन्दा ने कहा—'हमारा यह अमात्यपन किस काम का जब कि

इतना समय होने पर भी भगवान् भिक्षा नहीं पाते ? और आपका यह चातुर्य भी किस काम का जो उनके अभिग्रह का पता नहीं लगा सकते ?'

आश्वासन देता हुआ सुगुप्त बोला—तुम चिन्ता मत करो। अब ऐसा उपाय करूँगा कि वे कल ही भोजन ग्रहण कर लेंगे।

जिस समय भगवान् के अभिग्रह के विषय में बातें हो रही थीं उस समय प्रतिहारी विजया वहीं खड़ी थी। उसने सब बातें सुन लीं और महल में जाकर रानी मृगावती से निवेदन किया। रानी भी इस घटना से बहुत आकुल हुई और राजा को उलाहना देती हुई बोली— 'आपके राज्य की और मेरे रानीपन की क्या सार्थकता हुई जब कि भगवान् महावीर महीनों से राजधानी में घूमते हैं पर उनके अभिग्रह का पता नहीं लगाया जाता ? आज तक किसी ने यह नहीं सोचा कि ये आहार ग्रहण क्यों नहीं करते।'

राजा शतानीक ने रानी को आश्वासन दिया और अपने सभा-पण्डित तथ्यवादी को बुला कर कहा—'महाशय ! तुम्हारे धर्मशास्त्रों में जो जो आचार वर्णित हों उनका निरूपण करो।'

सुगुप्त की तरफ इशारा कर शतानीक बोला—'तुम भी तो बुद्धिमान् हो। जानते हो तो कहो।'

उन्होंने कहा—'अभिग्रह अनेक प्रकार के होते हैं पर यह कैसे जाना जाय कि किसके मन का क्या अभिप्राय है ?' उन्होंने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावविषयक अभिग्रह तथा सात पिण्डैषणा पानैषणाओं का निरूपण कर साधुओं के आहार-पानी लेने देने की रीतियों का वर्णन किया। राजा ने प्रजाजनों को इन बातों की जानकारी कराई और भगवान् के आने पर इन रीतियों से आहार-पानी देने की सूचना की। लोगों ने सावधानी से उनका पालन किया। परन्तु भगवान् को भिक्षा देने में कोई सफल नहीं हो सका।

भगवान् के अभिग्रह को पाँच महीने हो चुके थे और छठा महीना पूरा होने में सिर्फ पाँच दिन शेष रह गये थे। भगवान् नियमानुसार इस दिन भी कोशाम्बी में भिक्षा-चर्या के लिए निकले और फिरते हुए

सेठ धनावह के घर पहुँचे। यहाँ आपका अभिग्रह पूर्ण हुआ और आपने चन्दना नामक राजकुमारी के हाथों भिक्षा ग्रहण की।

कोशाम्बी से सुमंगल, सुच्छेता, पालक आदि गाँवों में होते हुए भगवान् चम्पा नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप कर वहीं स्वातिदत्त ब्राह्मण की यज्ञशाला में वर्षावास किया।

यहाँ पर भगवान् के तप-साधन से आकृष्ट होकर पूर्णभद्र और माणिभद्र नामक दो यक्ष रात्रि के समय आकर आपकी पूजा करने लगे। स्वातिदत्त को जब इस बात का पता चला तो वह भगवान् से धर्म चर्चा करने आया और बोला—महाराज! 'आत्मा' क्या वस्तु है?

महावीर—जो 'मैं' शब्द का वाच्यार्थ है वही आत्मा है अर्थात् मैं सुखी, मैं दुःखी इत्यादि वाक्यों में 'मैं' शब्द से जिस पदार्थ की प्रतीति होती है वही 'आत्मा' है।

स्वातिदत्त—आत्मा का क्या स्वरूप है? उसका क्या लक्षण है?

महावीर—आत्मा अति सूक्ष्म और रूपातीत है। इसका लक्षण 'चेतना' है।

स्वातिदत्त—सूक्ष्म का अर्थ क्या है?

महावीर—जो इन्द्रियों से न जाना जाय।

स्वातिदत्त—शब्द, गन्ध और वायु ऐसे माने जा सकते हैं?

महावीर—नहीं, शब्द श्रोत्रग्राह्य है, गन्ध नासिका का विषय है और वायु का स्पर्शेन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। जो किसी भी इन्द्रिय का विषय न हो वह 'सूक्ष्म' है।

स्वातिदत्त—तो क्या 'ज्ञान' का नाम आत्मा है?

महावीर—'ज्ञान' आत्मा का असाधारण गुण है। जिसमें यह ज्ञान हो वह 'ज्ञानी' आत्मा कहलाता है।

स्वातिदत्त—महाराज! 'प्रदेशन' का क्या अर्थ है?

महावीर—'प्रदेशन' का अर्थ है उपदेश और वह दो प्रकार का है—धार्मिक प्रदेशन और अधार्मिक प्रदेशन।

स्वातिदत्त—महाराज! 'प्रत्याख्यान' किसे कहते हैं?

महावीर—प्रत्याख्यान का अर्थ है निषेध। प्रत्याख्यान भी दो प्रकार

का है—मूलगुणप्रत्याख्यान और उत्तरगुणप्रत्याख्यान। आत्मा के दया, सत्यवादिता आदि मूल—स्वाभाविक गुणों की रक्षा तथा हिंसा, मृषावादिता आदि वैभाविक प्रवृत्तियों का त्याग मूलगुणप्रत्याख्यान है और मूलगुणों के सहायक सदाचार के प्रतिकूल वर्तन के त्याग का नाम है उत्तरगुणप्रत्याख्यान।

उक्त प्रश्नोत्तरों से स्वातिदत्त को विश्वास हो गया कि देवार्य कोरे तपस्वी ही नहीं ज्ञानी भी हैं।

चातुर्मास्य के बाद भगवान् विचरते हुए जंभियगाँव में पधारे।

जंभियगाँव में कुछ समय ठहर कर भगवान् वहाँ से मिंढिय होते हुए छम्माणि गये और गाँव के बाहर कायोत्सर्ग ध्यान किया। सन्ध्या के समय एक ग्वाला भगवान् के समीप बैल छोड़ कर गाँव में चला गया और जब वह वापस लौटा तो उसे बैल वहाँ नहीं मिले। उसने भगवान् से पूछा—'देवार्य! मेरे बैल कहाँ हैं?' भगवान् मौन रहे। इस पर उस ग्वाले ने क्रुद्ध होकर भगवान् के दोनों कानों में काठ के कीले ठोक दिए।

१३–तेरहवाँ वर्ष
(वि० पू० ५००–४९९)

छम्माणि से भगवान् मध्यमा पधारे और भिक्षाचर्या में फिरते हुए सिद्धार्थ वणिक के घर गये। सिद्धार्थ अपने मित्र खरक वैद्य से बातें कर रहा था। भगवान् को देख कर वह उठा और आदरपूर्वक वन्दन किया।

उस समय भगवान् को देख कर खरक बोला—भगवान् का शरीर सर्वलक्षण संपन्न होते हुए भी सशल्य है।

सिद्धार्थ ने कहा—मित्र भगवान् के शरीर में कहाँ क्या शल्य है? जरा देखो तो सही।

देख कर खरक ने कहा—यह देखो, भगवान् के कानों में किसीने काष्ठशलाकायें ठोक दी हैं।

सिद्धार्थ—देवानुप्रिय! शलाकायें जल्दी निकाल डालो। महातपस्वी को आरोग्य पहुँचाने से हमें बड़ा पुण्य होगा।

वैद्य और वणिक शलाका निकालने के लिए तैयार हुए पर भगवान् ने स्वीकृति नहीं दी और आप वहाँ से चल दिये।

भगवान् के स्थान का पता लगा कर सिद्धार्थ और खरक औषध तथा आदमियों को साथ लेकर उद्यान में गये और भगवान् को तैल-द्रोणी में बिठाकर तेल की मालिश करवाई। फिर अनेक मनुष्यों से पकड़वा कर कानों में से कटशलाकायें खींच निकलवाईं। शलाका निकालते समय भगवान् के मुख से एक भीषण चीख निकल पड़ी।

इस प्रकार विषम उपसर्ग तथा घोर परीषहों को सहते हुए और विविध तप-ध्यान का निरन्तर अभ्यास करते हुए दृढ़-प्रतिज्ञ वीर भगवान् ने साढ़े बारह वर्ष से कुछ अधिक समय तक कठिन साधना की और क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे कषायों के ह्रास से आप में क्षमा, मार्दव, आर्जव और संतोष प्रभृति आत्मिक गुणों का विकास हुआ। आपका व्यक्तित्व लोकोत्तर और जीवन स्फटिकमणि सा निर्मल हो गया।

इस दीर्घकालीन विहारचर्या में भगवान् ने जो जो घोर तपश्चर्यायें कीं उनकी तालिका इस प्रकार है—

१ षाण्मासिक।
१ पाँच दिन कम षाण्मासिक।
९ चातुर्मासिक।
२ त्रिमासिक।
२ सार्ध द्विमासिक।
६ द्विमासिक।
२ सार्ध मासिक।
१२ मासिक।
७२ पाक्षिक।
१ सोलह उपवास।
१२ अष्टम भक्त।
२२९ षष्ठ भक्त।

इसके अतिरिक्त दशम भक्त आदि तपश्चर्यायें भी भगवान् ने की थीं ऐसा आचाराङ्ग सूत्र से ज्ञात होता है।

उक्त तपश्चर्याओं के संधि दिन (भोजन दिन) ३४९ होते हैं अर्थात् उक्त साढ़े बारह वर्ष के दीर्घकाल में भगवान् ने केवल ३४९ दिन ही भोजन किया था और सभी उपवास निर्जल ही किए थे।

मध्यमा के उद्यान से विचरते हुए श्रमण भगवान् महावीर जंभिय-गाँव के समीप ऋजुवालुका नदी के उत्तर तट पर स्थित देवालय के समीप सालवृक्ष के नीचे उकड़ु आसन से ध्यानावस्थित हुए।

निर्जल षष्ठभक्तप्रत्याख्यान कर आपने शुक्ल-ध्यान का आरम्भ किया और शीघ्र ही इस ध्यान की प्रथम दो श्रेणियों को पार करके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मों का क्षय किया और उसी समय (वैशाख शुक्ला दशमी के दिन, चौथे पहर के समय) आपने केवलज्ञान तथा केवलदर्शन को प्राप्त कर लिया।

अब भगवान् सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी हुए। सम्पूर्ण लोकालोकान्तर्गत भूत भविष्यत्, सूक्ष्म व्यवहित, मूर्तामूर्त समस्त पदार्थ आपके ज्ञान में आलोकित हुए।

तीसरा परिच्छेद

तीर्थंकर-जीवन

भगवान् की कैवल्य प्राप्ति का समाचार पाकर देवों ने स्वर्ग से आकर समवसरण (धर्मसभा) की योजना की। इस प्रथम समवसरण में देवता लोग ही उपस्थित थे अतः विरति-रूप संयम का लाभ किसी प्राणी को नहीं हो सका। यह आश्चर्यजनक घटना जैनागमों में 'अछेरा' (आश्चर्यजनक—अस्वाभाविक) नाम से प्रसिद्ध है।

ऋजुवालुका के तट पर प्रथम समवसरण

उन दिनों मध्यमा नगरी में एक धार्मिक प्रकरण चल रहा था। सोमिलाचार्य नामक एक ब्राह्मण अपने यहाँ एक बड़ा भारी यज्ञ करा रहा था। इसमें भाग लेने के लिए उसने देश-देशान्तरों से बड़े बड़े विद्वानों को आमन्त्रित किया था। बोधिप्राप्त महावीर ने देखा कि मध्यमा नगरी का यह प्रसंग अपूर्व लाभ का कारण होगा। यज्ञ में आये हुए विद्वान् ब्राह्मण प्रतिबोध पायेंगे और धर्म तीर्थ के आधारस्तंभ बनेंगे, यह सोच कर भगवान् ने सन्ध्या समय वहाँ से विहार कर दिया और रात भर बारह योजन (४८ कोस) चल कर मध्यमा के महासेन नामक उद्यान में वास किया।

भगवान् महावीर का दूसरा समवसरण मध्यमा नगरी के महासेन उद्यान में हुआ। वैशाख शुक्ला एकादशी को प्रातःकाल से ही मध्यमा के उस उद्यान की तरफ नागरिकों के समूह उमड़ पड़े थे। अपने-अपने वैभवानुसार सज-धज कर समवसरण में जाने के लिये मानों वे एक दूसरे से होड लगा रहे थे। थोड़े ही समय

दूसरा समवसरण

में देव-दानवों और मनुष्य-तिर्यंचों के समूहों से महासेन वन में सभा के रूप में एक नगर बस गया ।

उस महती सभा में भगवान् महावीर ने सर्वभाषानुगामिनी अर्धमागधी भाषा में एक पहर तक धर्मोपदेश दिया जिसमें लोक-अलोक, जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष का अस्तित्व सिद्ध किया। नरक क्या है, नरक में दुःख क्या है, जीव नरक में क्यों जाते हैं और तिर्यंचगति में जीवों को किस प्रकार शारीरिक एवं मानसिक कष्ट सहन करने पड़ते हैं इसका वर्णन किया। देवगति में पुण्य फलों को भोग कर अविरत जीव किस प्रकार फिर संसार की नाना गतियों में भ्रमण करते हैं इसका भी आपने दिग्दर्शन कराया। अन्त में भगवान् ने मनुष्यगति को अधिक महत्त्वपूर्ण और दुर्लभ बताते हुए उसे सफल बनाने के लिए पाँच महाव्रत, पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत और सम्यक्त्वधर्म का उपदेश दिया।

भगवान् महावीर के ज्ञान और लोकोत्तर उपदेश की सर्वत्र प्रशंसा होने लगी। मध्यमा के चौक और बाजारों में उन्हीं की चर्चा होने लगी। इस चर्चा को सोमिल के अतिथि विद्वानों ने सुना। वे चौकन्ने हो गये।

यों तो सोमिलार्य के इन मेहमानों की संख्या हजारों की थी पर उनमें ग्यारह विद्वान्—१ इन्द्रभूति, २ अग्निभूति, ३ वायुभूति, ४ व्यक्त, ५ सुधर्मा, ६ मंडिक, ७ मौर्यपुत्र, ८ अकम्पिक, ९ अचलभ्राता, १० मेतार्य और ११ प्रभास विशेष प्रतिष्ठित थे।

१ इन्द्रभूति मगधदेशान्तर्वर्ती गोवरगाँव के रहनेवाले गौतमगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम वसुभूति और माता का नाम पृथिवी था। उस समय इन्द्रभूति की उम्र ५० वर्ष की थी। आप ५०० छात्रों के मुख्याध्यापक थे।

२ अग्निभूति इन्द्रभूति के भाई थे। इनकी ४६ वर्ष की उम्र थी। ये ५०० छात्रों के मुख्याध्यापक थे।

३ वायुभूति इन्द्रभूति के भाई थे। इनकी ४२ साल की उम्र थी। ये भी ५०० छात्रों के मुख्याध्यापक थे।

४ व्यक्त कोल्लाग-संनिवेश के रहनेवाले भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण

थे। इनकी माता वारुणी और पिता धनमित्र थे। इनकी उम्र ५० साल की थी। आप ५०० छात्रों के मुख्याध्यापक थे।

५ सुधर्मा कोल्लाग-संनिवेशनिवासी अग्निवैश्यायनगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता भद्दिला और पिता धम्मिल थे। इनकी अवस्था ५० साल की थी। ये भी ५०० छात्रों के प्रधानाध्यापक थे।

६ मंडिक मौर्य-संनिवेश के रहनेवाले वासिष्ठगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता विजयदेवा और पिता धनदेव थे। उस समय इनकी उम्र ५३ वर्ष की थी। ये ३५० छात्रों के प्रधानाध्यापक थे।

७ मौर्यपुत्र भी मौर्य-संनिवेश-निवासी काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता विजयदेवा और पिता मौर्य थे। उस समय आपकी अवस्था ६७ साल की थी। आप ३५० छात्रों के अध्यापक थे।

८ अकम्पिक मिथिला के गौतमगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता जयन्ती और पिता देव थे। उस समय इनकी उम्र ४८ साल की थी, आप ३०० छात्रों के उपाध्याय थे।

९ अचलभ्राता कोसलनिवासी हारीतगोत्रीय ब्राह्मण थे। आपकी माता नन्दा और पिता वसु थे। उस समय इनकी अवस्था ४६ साल की थी। ये ३०० छात्रों के अध्यापक थे।

१० मेतार्य वत्सदेश के तुंगिक-संनिवेश के रहनेवाले कौडिन्य-गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता वरुणदेवा और पिता दत्त थे। इनकी उम्र ३६ साल की थी। ये ३०० छात्रों के अध्यापक थे।

११ प्रभास राजगृह निवासी कौडिन्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता अतिभद्रा और पिता बल थे। उस समय प्रभास की उम्र केवल १६ वर्ष की थी। आप ३०० छात्रों के प्रधानाध्यापक थे।

ये सभी कुलीन ब्राह्मण सोमिलार्य के आमंत्रण से अपने-अपने छात्र परिवार के साथ मध्यमा आये थे। प्रत्येक को किसी न किसी विषय में शंका वनी हुई थी परन्तु वे कभी किसी को पूछते नहीं थे, क्योंकि उनकी विद्वत्ता की प्रसिद्धि उन्हें ऐसा करने से रोकती थी।

महावीर की सर्वज्ञता के समाचार सर्वप्रथम इन्द्रभूति गौतम के कानों तक पहुँचे। उनको कभी विश्वास नहीं था कि संसार में उनसे

बढ़कर भी कोई विद्वान् हो सकता है। वे महासेन उद्यान की तरफ से आनेवालों से बार-बार पूछते—"क्यों कैसा है वह सर्वज्ञ ?" उत्तर मिलता—"कुछ न पूछिये ज्ञान और वाणीमाधुर्य में उनका कोई समकक्ष नहीं।" इस जनप्रवाद ने इन्द्रभूति को एक प्रकार से उत्तेजित कर दिया। उन्होंने इस नूतन सर्वज्ञ से भिड़कर अपनी ताकत का परिचय देने का निश्चय किया और अपने छात्रसंघ के साथ महासेन उद्यान की ओर चल दिए। अनेक विचार-विमर्श के अन्त में इन्द्रभूति भगवान् महावीर की धर्मसभा के द्वार तक पहुँचे और वहीं स्तब्ध से होकर खड़े रह गये।

इन्द्रभूति की प्रव्रज्या

इन्द्रभूति ने अपने जीवनकाल में बहुत पंडित देखे थे, बहुतों से टक्कर ली थी, बहुतों को वादसभा में निरुत्तर करके नीचा दिखाया था और यहाँ भी वे इसी विचार से आये थे, पर जब उन्होंने महावीर के समवसरण के द्वार में पैर रक्खा तो महावीर के योगैश्वर्य्य और भामण्डल को देखकर वे चौंधिया गये; उनकी विजयकामना शांत हो गई। वे अपनी अविचारित प्रवृत्ति पर अफसोस करने लगे। फिर सोचा यदि ये मेरी शंकाओं को बिना पूछे ही निर्मूल कर दें तो इन्हें सर्वज्ञ मान सकता हूँ।

इन्द्रभूति इस उधेड़बुन में ही थे कि भगवान् महावीर उन्हें संबोधित करते हुए बोले—गौतम ! क्या तुम्हें पुरुष (आत्मा) के अस्तित्व के संबन्ध में शंका है ?

इन्द्रभूति—हाँ महाराज, मुझे इस विषय में शंका-सी रहती है क्योंकि "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ति।" इत्यादि वेदवाक्य भी इसी बात का समर्थन करते हैं कि भूत समुदाय से चेतन पदार्थ उत्पन्न होता है और उसीमें

---

१ यह वेद वाक्य आवश्यकटीका में से लिया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में यह वाक्य इस रूप में मिलता है "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीति होवाच याज्ञवल्क्यः।" बृहदारण्यकोपनिषद् १२–५।३८।

लीन हो जाता है; परलोक की कोई संज्ञा नहीं। भूतसमुदाय से ही विज्ञानमय आत्मा की उत्पत्ति का अर्थ तो यही है कि भूतसमुदाय के अतिरिक्त पुरुष का अस्तित्व ही नहीं।

महावीर—और यह भी तो तुम जानते हो कि वेद से पुरुष का अस्तित्व भी सिद्ध होता है।

इन्द्रभूति—जी हाँ, "स वै अयमात्मा ज्ञानमयः"[1] इत्यादि श्रुति-वाक्य आत्मा का अस्तित्व भी बता रहे हैं। इनसे शंका होना स्वाभाविक ही है कि 'विज्ञानघन' इत्यादि श्रुति वाक्य को प्रमाण मानकर भूतशक्ति को ही आत्मा माना जाए अथवा आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व माना जाए।

महावीर—महानुभाव इन्द्रभूति! 'विज्ञानघन' इत्यादि पदों का जैसा तुम अर्थ समझ रहे हो वास्तव में वैसा नहीं है। अगर इस श्रुति-वाक्य का वास्तविक अर्थ समझ लिया होता तो तुम्हें कोई शंका ही न होती।

इन्द्रभूति—क्या इसका वास्तविक अर्थ कुछ और है?

महावीर—हाँ! 'विज्ञानघन' इस श्रुति का वास्तविक अर्थ और ही है। तुम 'विज्ञानघन' का अर्थ पृथिव्यादि भूतसमुदाय से उत्पन्न 'चेतनापिण्ड' ऐसा करते हो पर वस्तुतः 'विज्ञानघन' का तात्पर्य विविध-ज्ञानपर्यायों से है। आत्मा में प्रतिक्षण नवीन ज्ञानपर्यायों का आविर्भाव तथा पूर्वकालीन ज्ञानपर्यायों का तिरोभाव होता रहता है। जब एक पुरुष घट को देखता है और उसका चिन्तन करता है तो उस समय उसकी आत्मा में घटविषयक ज्ञानोपयोग उत्पन्न होता है जिसे हम घटविषयक 'ज्ञानपर्याय' कहते हैं। जब वही पुरुष घट के पश्चात् पटादि अन्य पदार्थों को देखेगा तब उसे पटादि का ज्ञान प्रकट होगा और पूर्वकालीन घट-ज्ञान तिरोहित (व्यवहित) हो जायगा। अन्यान्य पदार्थविषयक ज्ञान के पर्याय ही 'विज्ञानघन' (विविध पर्यायों का पिण्ड) है जो भूतों

---

१ आवश्यकटीका में उद्धृत यह वाक्य 'बृहदारण्यकोपनिषद् (४–४–५) में मिलता है और इससे मिलता जुलता 'य एष विज्ञानमयः पुरुषः' वाक्य बृहदारण्यक (पृ० ५२१) में उपलब्ध होता है।

से उत्पन्न होता है। यहाँ 'भूत' शब्द का अर्थ पृथिव्यादि पाँच भूत नहीं है। यहाँ इसका अर्थ है 'प्रमेय'—अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश ही नहीं परन्तु जड़ चेतन समस्त ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थ।

सब ज्ञेय पदार्थ आत्मा में अपने स्वरूप से भासमान होते हैं—घट घटरूप में भासता है, पट पटरूप में। ये भिन्न-भिन्न प्रतिभास ही ज्ञान-पर्याय हैं। ज्ञान और ज्ञानी (आत्मा) में कथंचित् अभेद होने के कारण भूतों से अर्थात् भिन्न-भिन्न ज्ञेयों से विज्ञानघन अर्थात् 'ज्ञान-पर्यायों का उत्पन्न होना और उत्तरकाल में उन पर्यायों का तिरोहित (व्यवहित) होना कहा है।

'न प्रेत्यसंज्ञास्ति' का अर्थ 'परलोक की संज्ञा नहीं' ऐसा नहीं है। वास्तव में इसका अर्थ 'पूर्वपर्याय का उपयोग नहीं' ऐसा है। जब पुरुष में नये-नये ज्ञानपर्याय उत्पन्न होते हैं तब उसके पूर्वकालीन उपयोग व्यवहित हो जाने से उस समय स्मृतिपट पर स्फुटित नहीं होते इसी अर्थ को लक्ष्य करके 'न प्रेत्यसंज्ञास्ति' यह वचन कहा गया है।

भगवान् महावीर के मुख से वेदवाक्य का समन्वय सुनते ही इन्द्रभूति के मन का अन्धकार विच्छिन्न हो गया। वे दोनों हाथ जोड़ कर बोले—भगवन्! आपका कथन यथार्थ है। प्रभो! मैं आपका प्रवचन सुनना चाहता हूँ।

गौतम की प्रार्थना पर महावीर ने निर्ग्रंथ प्रवचन का उपदेश दिया। उपदेश सुन कर वे संसार से विरक्त होकर निर्ग्रंथधर्म में प्रव्रजित हुए। गौतम के ५०० छात्र भी जो उनके साथ ही आए थे, महावीर के पास प्रव्रजित हुए और वे सभी इन्द्रभूति के शिष्य रहे।

इन्द्रभूति की प्रव्रज्या की बात पवनवेग से मध्यमा में पहुँची। नगर भर में यही चर्चा होने लगी। कोई कहता 'इन्द्रभूति' जैसे जिनके आगे शिष्य हो गए उन महावीर का क्या कहना है! सचमुच वे ज्ञान के अथाह समुद्र और धर्म के अवतार हैं। दूसरा कहता—अजी, कुछ करामात जानते होंगे। अन्यथा इन्द्रभूति जैसे विद्वान का इस प्रकार मोहित हो कर अपने छात्रसंघ के साथ उनका शिष्य बन जाना संभव नहीं।

उनका छोटा भाई अग्निभूति उनकी विद्वत्ता का इतना कायल था कि वह यह तो मानने को तैयार हो सकता था कि सूर्य का उदय पश्चिम में हो परन्तु यह नहीं कि इन्द्रभूति किसी से हार जाए और उसका शिष्य हो जाए। वह कुछ क्रोध, कुछ आश्चर्य और कुछ अभिमान के भावों के साथ अपने छात्रमंडल सहित महासेन उद्यान की ओर चल पड़ा। उसे पूर्ण विश्वास था कि किसी भी तरह वह महावीर को परास्त करके बड़े भाई इन्द्रभूति को वापस ले आएगा।

अग्निभूति की प्रव्रज्या

अग्निभूति जब नगर से निकला तो उसके शरीर में बड़ी तेजी थी पर ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ने लगा त्यों-त्यों उसका शरीर भारी होने लगा। जब वह समवसरण के सोपानमार्ग तक पहुँचा तो उसके पैरों ने जवाब दे दिया। उसके मन का जोश बिलकुल ठंडा पड़ गया। वह सोचने लगा—क्या सचमुच ये सर्वज्ञ ही हैं, क्या इसी कारण इन्द्रभूति ने अपनी हार मान ली है? यदि यही बात है तो मैं यहीं से एक प्रश्न पूछूँगा। यदि मुझे ठीक उत्तर मिल जाएगा तो मैं भी इन्हें सर्वज्ञ मान लूँगा। अग्निभूति द्वार पर ही खड़े थे कि महावीर ने उन्हें संबोधित किया—प्रिय अग्निभूति, क्या तुम्हें कर्म के अस्तित्व के विषय में शंका है?

अग्निभूति—हाँ महाराज, कर्म के अस्तित्व को मैं संदेह की दृष्टि से देखता हूँ क्योंकि "पुरुष एवेदं ग्नि सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं"[1] इत्यादि श्रुति पुरुषाद्वैत का प्रतिपादन कर रही है और जब दृश्य, अदृश्य, बाह्य

---

१ आवश्यकटीका में संपूर्ण श्रुतिवाक्य इस प्रकार है—

"पुरुष एवेदं ग्नि सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति यदेजति यन्नैजति यद्दूरे यदु अन्तिके। यदन्तरस्य सर्वस्य यदु सर्वस्याऽस्य बाह्यतः॥"

'वाजसनेयीसंहिता' (४०–५) में भी उपर्युक्त वाक्य ही मिलता है। 'ईशावास्योपनिषद्' में 'तदेजति तन्नैजति, तद्दूरे तदन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' यह पाठ मिलता है। 'वाजसनेयीसंहिता' (३२–२), 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (२४९) और 'पुरुषसूक्त' में "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् उतामृतत्वस्येशनो यदन्नेनातिरोहति।" वह पाठ उपलब्ध होता है।

अभ्यन्तर, भूत एवं भविष्यत् सब कुछ 'पुरुष' ही है तो पुरुष के अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं ।

युक्तिवाद भी कर्म का अस्तित्व सिद्ध नहीं कर सकता। कर्मवादी कहते हैं—जीव पहले कर्म करता है फिर उसका फल भोगता है। परन्तु यह सिद्धान्त तर्कवाद की कसौटी पर टिक नहीं सकता। 'जीव' नित्य 'अरूपी' और 'चेतन' माना जाता है और 'कर्म' 'अनित्य' 'रूपी' और 'जड़'। इन परस्पर विरुद्ध प्रकृतिवाले जीव और कर्म का एक दूसरे के साथ संबन्ध कैसा माना जायगा—सादि अथवा अनादि ?

जीव और कर्म का संबन्ध 'सादि' मानने का अर्थ यह होगा कि पहले 'जीव' कर्मरहित था और अमुक काल में उसका कर्म से संयोग हुआ। परन्तु यह मान्यता कर्मसिद्धान्त के अनुकूल नहीं। कर्मसिद्धान्त के अनुसार जीव की मानसिक वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ ही कर्मबन्ध का—जीव-कर्म के संयोग का कारण होती हैं। मन, वचन और काय ये स्वयं कर्मफल हैं क्योंकि पूर्वबद्ध कर्म के उदय से ही मन आदि तत्त्व जीव को प्राप्त होते हैं। इस दशा में 'अबद्ध' जीव किसी भी प्रकार 'बद्ध' नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पास बन्धकारण नहीं है। यदि बिना कारण भी जीव 'कर्मबद्ध' मान लिया जाय तो कर्ममुक्त सिद्धात्माओं को भी पुनः कर्मबद्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी। इस प्रकार कर्मवादियों का 'मोक्ष' तत्त्व नाम मात्र को रह जायगा। वस्तुतः कोई भी आत्मा 'मुक्त' ठहरेगा ही नहीं। अतः 'अबद्ध' जीव का 'बन्ध' मानना दोषापत्ति-पूर्ण है।

जीव और कर्म का 'अनादि संबंध' भी संगत नहीं हो सकता क्योंकि जीव-कर्म का संबंध 'अनादि' होगा तो वह 'आत्मस्वरूप' की ही तरह 'नित्य' भी होगा, और 'नित्य' पदार्थ का कभी नाश न होने से वह कभी कर्ममुक्त नहीं होगा। जब जीव की कर्म से मुक्ति ही नहीं तो वह उसके लिये प्रयत्न ही क्यों करेगा ?

महावीर—महानुभाव अग्निभूति ! तुम्हारी इन दलीलों से ही प्रकट होता है कि तुमने 'वेदवाक्य' का वास्तविक अर्थ नहीं समझा। 'पुरुष

एवेदं' यह श्रुतिवाक्य 'पुरुषाद्वैत' का साधक नहीं, परन्तु यह एक स्तुतिवाक्य है।

अग्निभूति—इस श्रुतिवाक्य को 'स्तुतिवाक्य' क्यों माना जाय और 'पुरुषाद्वैतसाधक' क्यों नहीं ?

महावीर—पुरुषाद्वैतवाद दृष्टापलाप और अदृष्टकल्पना दोषों से दूषित है।

अग्निभूति—यह कैसे ?।

महावीर—पुरुषाद्वैत के स्वीकार में यह पृथिवी, पानी, अग्नि, वायु आदि प्रत्यक्ष दृश्य पदार्थों का अपलाप होता है और सत्-असत् से विलक्षण 'अनिर्वचनीय' नामक एक अदृष्ट पदार्थ की कल्पना करनी पड़ती है।

अग्निभूति—महाराज ! इसमें अपलाप की बात नहीं है। पुरुषाद्वैतवादी इस दृश्य जगत को पुरुष से अभिन्न मानते हैं। जड़ चेतन का भेद व्यावहारिक कल्पनामात्र है। वस्तुतः जो कुछ दृश्यादृश्य और चराचर पदार्थ है सब पुरुषस्वरूप है।

महावीर—पुरुष दृश्य है या अदृश्य ?

अग्निभूति—पुरुष रूप, रस, गंध, और स्पर्शादिहीन अदृश्य है। इसका इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं होता।

महावीर—ये पदार्थ क्या है जो आँखों से देखे जाते हैं, कानों से सुने जाते हैं, नाक से सूँघे जाते हैं, जीभ से चखे जाते हैं और त्वचा से स्पर्श किए जाते हैं ?

अग्निभूति—यह सब नामरूपात्मक जगत् है।

महावीर—यह पुरुष से भिन्न है या अभिन्न ?।

अग्निभूति—यह सब पुरुष से अभिन्न है।

महावीर—अभी तुमने कहा था कि 'पुरुष' अदृश्य है, इन्द्रियातीत है। इस 'पुरुषाभिन्न' नामरूपात्मक जगत् का इन्द्रियों से कैसे प्रत्यक्ष हो रहा है ?।

अग्निभूति—इस नामरूपात्मक दृश्य जगत् की उत्पत्ति माया से होती है। माया तथा उसका कार्य नामरूप सत् नहीं है क्योंकि कालान्तर में उसका नाश हो जाता है।

महावीर—तो क्या दृश्य जगत् असत् है ?

अग्निभूति—नहीं । जैसे यह सत् नहीं वैसे असत् भी नहीं, क्योंकि ज्ञानकाल में वह सत्रूप से प्रतिभासित होता है ।

महावीर—सत् भी नहीं और असत् भी नहीं । तब इसे क्या कहोगे ?

अग्निभूति—सत्-असत् से विलक्षण इस माया को हम 'अनिर्वचनीय' कहते हैं ।

महावीर—आखिर पुरुषातिरिक्त 'माया' नामक एक विलक्षण पदार्थ मानना ही पड़ा । तब कहाँ रहा तुम्हारा पुरुषाद्वैतवाद ? प्रिय अग्निभूति ! जरा सोचो, ये दृश्य पदार्थ पुरुष से अभिन्न कैसे हो सकते हैं ? यह दृश्य जगत् यदि 'पुरुष' ही हो तो 'पुरुष' की ही तरह वह भी इन्द्रियातीत होना चाहिए । पर तुम प्रत्यक्ष देखते हो कि यह इन्द्रियगोचर है । प्रत्यक्षदर्शन को तुम भ्रान्ति नहीं कह सकते ।

अग्निभूति—इसे भ्रान्ति मानने में क्या आपत्ति है ?

महावीर—भ्रान्तिज्ञान उत्तरकाल में भ्रान्त सिद्ध होता है । जिसे तुम भ्रान्ति कहते हो वह कभी भ्रान्तिरूप सिद्ध नहीं होता, अतः यह निर्बाध ज्ञान है, भ्रान्ति नहीं ।

अग्निभूति—यह माया पुरुष की ही शक्ति है और पुरुष विवर्त में नाम-रूपात्मक जगत बन कर भासमान होता है । वस्तुतः माया पुरुष से भिन्न वस्तु नहीं ।

महावीर—यदि माया पुरुष की शक्ति ही है तो यह भी पुरुष के ज्ञानादि गुणों की तरह अरूपी अदृश्य होनी चाहिए । परन्तु यह तो है दृश्य । अतः सिद्ध होता है कि माया पुरुष की शक्ति नहीं । यह एक स्वतंत्र पदार्थ है ।

पुरुषविवर्त मानने से भी पुरुषाद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि पुरुषविवर्त का अर्थ है पुरुष के मूल स्वरूप की विकृति, परन्तु पुरुष में विकृति मानने से उसे सकर्मक ही मानना पड़ेगा, अकर्मक नहीं । जिस प्रकार खालिस पानी में खमीर नहीं उत्पन्न होता उसी तरह अकर्मक जीव में विवर्त नहीं हो सकता ।

पुरुषवादी जिस पदार्थ को माया अथवा अज्ञान का नाम देते हैं वह वस्तुतः आत्मातिरिक्त जड़ पदार्थ है। पुरुषवादी इसे सत् या असत् न कह कर 'अनिर्वचनीय' कहते हैं जिससे सिद्ध होता है कि यह पुरुष से भिन्न पदार्थ है। इसी लिये तो वे इसे पुरुष की तरह 'सत्' नहीं मानते। 'असत्' न मानने का तात्पर्य तो केवल यही है कि यह माया आकाशपुष्प की तरह कल्पित वस्तु नहीं है।

अग्निभूति—ठीक है। दृश्य जगत् को 'पुरुषमात्र' मानने से प्रत्यक्ष अनुभव का निर्वाह नहीं हो सकता, यह मैं समझ गया हूँ। परन्तु जड़ तथा रूपी कर्म-द्रव्य चेतन तथा अरूपी आत्मा के साथ कैसे संबद्ध हो सकता है और उस पर अच्छा-बुरा असर कैसे डाल सकता है?

महावीर—जिस प्रकार अरूपी आकाश के साथ रूपी द्रव्यों का संपर्क होता है उसी तरह अरूपी आत्मा का रूपी कर्मों के साथ संबन्ध होता है। जिस प्रकार ब्राह्मीऔषधि और मदिरा आत्मा के अरूपी चैतन्य पर भला-बुरा असर करते हैं उसी तरह अरूपी चेतन आत्मा पर रूपी जड़ कर्मों का भी भला-बुरा असर हो सकता है।

इस लम्बी चर्चा के बाद अग्निभूति ने भगवान् महावीर का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया। भगवान् महावीर का उपदेश सुन कर अग्निभूति ने प्रतिबोध पाया और अपने छात्रमण्डल के साथ भगवान् के चरणों में श्रामण्य अंगीकार किया।

अग्निभूति की दीक्षा से मध्यमा में आए हुए सब ब्राह्मण विद्वानों के गर्व चूर्ण हो गये। अब उनको विश्वास हो गया कि महावीर सर्वज्ञ है।

शरीरातिरिक्त आत्मा की सिद्धि तथा वायुभूति की दीक्षा

फिर भी वायुभूति गौतम और अन्य विद्वानों ने भगवान् महावीर से भेंट करने और उनके ज्ञान-वैराग्य की परीक्षा करने का निश्चय किया और वे अपने अपने छात्रमण्डलों के साथ महासेन उद्यान की ओर चल पड़े। सब के आगे वायुभूति था। वायुभूति समवसरण में पहुँचा तो भगवान् के अलौकिक तेज से उसके नेत्र चौंधिया गए। वह अपना प्रश्न पूछने को ही था कि भगवान् ने उसकी

मानसिक शङ्का को व्यक्त करते हुए कहा—वायुभूति ! क्या तुम्हें शरीर से भिन्न जीव की सत्ता के विषय में शंका है ?

वायुभूति—जी हाँ । मैं ऐसा समझता हूँ कि शरीर से भिन्न जीव की कोई सत्ता नहीं । क्योंकि 'विज्ञानधन' इत्यादि श्रुतिवाक्य भी यही प्रतिपादन करता है कि यह ज्ञानात्मक 'आत्मपदार्थ' इन भूतों से प्रकट होता है और इन्हीं में विलीन हो जाता है । पुनर्जन्म जैसा कोई भाव नहीं है ।

महावीर—और आत्मा का अस्तित्व भी वेद से सिद्ध होता है । "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण"[1] इत्यादि श्रुतिवाक्य आत्मा के अस्तित्व को भी सिद्ध करते हैं ।

भूतसमुदायात्मक शरीर को 'आत्मा' मानने से काम नहीं चलेगा क्योंकि कार्य कारणानुरूप होता है । तिल के प्रत्येक दाने में तेल होता है तभी उसके समुदाय से तेल निकलता है । रेती के कणों में तेल न होने से उसके समुदाय से भी वह कभी प्रकट नहीं होता । भूत जड़ स्वरूप है । उनका समुदाय भी जड़ ही होगा । उसमें चैतन्य कभी प्रकट नहीं हो सकता ।

वायुभूति—आपका 'कारणानुरूप कार्य' वाला नियम अव्यापक है । मदिरा के प्रत्येक अंग में मादकता नहीं होती, फिर भी उसके सम्मिश्रण से उत्पन्न हुई मदिरा में वह अवश्य होती है । इससे सिद्ध हुआ कि 'कारणानुरूप ही कार्य हो' ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है ।

महावीर—प्रिय वायुभूति ! मदिरा के दृष्टान्त से 'कारणानुरूप कार्य का नियम' विघटित नहीं होता । मदिरा के प्रत्येक अंग में मादकता

---

१ संपूर्ण श्रुतिवाक्य आवश्यकटीका में इस प्रकार है—
"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
ज्योतिर्मयोहि शुद्धो यं पश्यन्ति धीरा यतयः संयतात्मानः ॥"
मुण्डकोपनिषद् (१४०) में यह पाठ इस प्रकार है—
"सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः" ॥

नहीं होती, यह कथन वास्तविकता से दूर है। मदिरा के प्रत्येक अंग में अनभिव्यक्त अवस्था में मादकता है। तभी उनके संधान में वह खमीर रूप से अभिव्यक्त होती है। यदि ऐसा न हो तो दूसरे पदार्थों के संधान में वह क्यों नहीं अभिव्यक्त होती। अमुक पदार्थों में ही वह उत्पन्न होती है और अमुक में नहीं, इससे भी क्या सिद्ध नहीं होता कि वह शक्ति उन पदार्थों में पहले ही से सन्निहित रहती है जो कारण पाकर प्रकट होती है ?

वायुभूति—अच्छा यदि यह मान भी लें कि जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं होती तो भी भूतोंसे अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व में प्रमाण क्या है ?

महावीर—ज्ञानी मनुष्यों के लिये तो आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिए किसी प्रमाण की जरूरत ही नहीं है। वे इसे हस्तामलकवत् साक्षात् देखते हैं। चर्म-नेत्रवालों के लिये आत्मा अवश्य एक पहेली है। उनके लिये आत्मा गूढ़ातिगूढ़ और सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ है जिसे वे अनुमान से जान सकते हैं।

मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष, लता आदि जीवधारी पदार्थों की प्रवृत्तियों का निरीक्षण कीजिए। सब अपने अनुकूल वेदनीय की ओर प्रवृत्त और प्रतिकूल वेदनीय से निवृत्त होते हैं। कीट-पतंग तक भी आग, पानी आदि अनिष्टकारी तत्त्वों की गंध पाते ही उससे बचने की चेष्टा करते हैं। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इन सब देहधारियों में कोई अदृश्य शक्ति है जिससे वे अपने भले-बुरे का विचार करते हैं ? महानुभाव वायुभूति ! यह शक्ति जिससे कि वे अपना हित-अहित समझते हैं शरीर का धर्म नहीं हो सकती। अवश्य ही इस नियामक शक्ति का उद्गमस्थान शरीर से भिन्न है, और वही क्रिया-वादियों का 'आत्म' पदार्थ है।

मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मैंने खाया, मैंने किया इत्यादि वाक्यों में 'मैं' शब्द से जो अपना सूचन करता है वह वास्तव में शरीर नहीं पर शरीराश्रित आत्मा है। मृत शरीर में इस प्रकार की कोई भी चेष्टा नहीं होती। यदि वह शरीरधर्म हो तो शरीर के रहते उसका लोप नहीं हो

सकता। इससे सिद्ध है कि शारीरिक चेष्टाओं का कर्ता शरीर नहीं वरंच तद्गत आत्मा है।

वायुभूति—शरीरगत ज्ञानमय प्रवृत्तियों की अन्यथाअनुपपत्ति ही शरीरातिरिक्त 'आत्म' पदार्थ की साधिका है अथवा और भी कोई प्रमाण है।

महावीर—वायुभूति, इस संसार की विचित्रता जिसे तुम देख रहे हो किसका कार्य हो सकता है? सुखी-दुःखी, सधन-निर्धन, स्वामी-सेवक, भला-बुरा ये सब विविधताएँ किसका परिणाम हो सकता है?

वायुभूति—इन विविधताओं का कारण स्वभाव ही तो हो सकता है।

महावीर—किसका स्वभाव?

वायुभूति—पदार्थों का।

महावीर—यदि तुम्हारी मान्यतानुसार संसार में भूतों के सिवा कोई पदार्थ ही नहीं है तब तो यह जगद्वैचित्र्य किसी प्रकार संगत हो ही नहीं सकता क्योंकि 'भूत' जड़ पदार्थ हैं। इन जड़ों में ऐसी कौनसी नियामक शक्ति है जो संसार में विचित्रता ला देगी? भले ही आग में जलने-जलाने का स्वभाव हो पर वह स्वयं नहीं जल सकती। इसी तरह भूतों में भले ही सब कुछ करने की शक्ति हो पर वे स्वयं कुछ नहीं कर सकते। इनका कोई नियोजक चेतन होगा तभी ये संसार की विचित्रता का कारण हो सकेंगे। अतएव भूतों से विलक्षण 'चेतन' मानना जरूरी है।

आत्मा का अस्तित्व मान लेने पर भी संसार की विविधता सिद्ध नहीं हो सकती जब तक कि चेतन और जड़ के बीच में कोई विशिष्ट संबंध न माना जाए क्योंकि जड़ से निर्लेप रहता हुआ चेतन जड़ पदार्थ का कोई नियमन अथवा उपयोग नहीं कर सकता। मिट्टी का स्पर्श न करनेवाला कुम्हार मिट्टी के बरतन नहीं बना सकता।

वायुभूति—तब क्या कुम्हार की तरह चेतन भी जड़ पदार्थों से इस जगत् की रचना करता है?

महावीर—मेरा अभिप्राय यह नहीं है। कुम्हार की तरह कोई भी चेतनशक्ति इस संसार की रचना नहीं करती। मेरे कहने का तात्पर्य यह

है कि इस जगत में चेतन और जड़ दो शक्तियाँ काम कर रही हैं। इन दो शक्तियों के बीच वह संबंध है जो विजातीय दो पदार्थों के बीच हो सकता है। चेतन, जिसे हम आत्मा कहते हैं और जड़, जिसे हम कर्म कहते हैं, अनादि काल से दूध और घी की तरह एक दूसरे से मिले हुए हैं। दूध को हम देखतें हैं पर घृत का अनुमानमात्र कर सकते हैं। इसी तरह सचेष्ट शरीर को देखते हैं और आत्मा का अनुमान करते हैं।

चेतन से लिप्त कर्माणुओं से संसार में यह विचित्रता उत्पन्न होती है। जो चेतन शुभ कर्मों से लिप्त होता है वह संसार में अच्छी स्थिति पाता है और जो अशुभ कर्मदलों से संबद्ध होता है वह बुरी स्थिति को प्राप्त होता है। इस प्रकार संसार के वैचित्र्य का कारण संसारी जीव और उनके शुभ-अशुभ कर्म हैं, केवल भूतों का स्वभाव नहीं।

अब वायुभूति ने भगवान् महावीर का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया और सपरिवार श्रमणधर्म की दीक्षा ले भगवान् के शिष्य हो गये।

आर्यव्यक्त की दीक्षा

अब भगवान् महावीर ने आर्यव्यक्त को संबोधित किया और बोले—आर्यव्यक्त, क्या तुम्हें ब्रह्म के सिवा अन्य-पदार्थों की वास्तविकता के विषय में शंका है?

व्यक्त—जी हाँ। वेद में "स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरञ्जसा विज्ञेयः[1]" इत्यादि वचनों से सब कुछ स्वप्नतुल्य बताया है। केवल ब्रह्म—आत्मा को ही सत् कहा है। वेद में ही "पृथिवी देवता, आपो देवता[2]" इत्यादि वाक्यों से पृथिव्यादि भूतों की सत्ता भी प्रतिपादित की है। इस स्थिति में यह निश्चय करना अति कठिन है कि जगत् को किस रूप में माना जाय, सत् या असत्?

महावीर—महानुभाव! "स्वप्नोपमं वै" इत्यादि वेद वाक्य को तुमने यथार्थरूप में नहीं समझा। यह वेद-पद कोई विधिवाक्य नहीं है जैसा कि तुम समझ रहे हो। सब स्वप्न तुल्य होने का अर्थ यह नहीं कि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सत् पदार्थ ही नहीं। उक्त उपदेशवाक्य है और वह अध्यात्मचिन्ता का उपदेश करता हुआ सूचित करता है कि धन-यौवन,

---

१–२ ये वाक्य किन वैदिक ग्रन्थों के हैं इसका कुछ पता नहीं लगा।

पुत्र कलत्रादि पदार्थ जिन पर मुग्ध हो कर यह संसारी जीव अपना हितमार्ग चूक रहा है, सांसारिक सुख के प्रलोभनों में फँस कर आत्म-हित में प्रमाद कर रहा है, वह पदार्थ वस्तुतः नाशशील है। क्या सामान्य मनुष्य और क्या देवेन्द्र चक्रवर्ती सब आयुष्य की सांकलों में बँधे हुए हैं। जब वे सांकलें टूटेंगी, जब आयुष्य की डोरी पूरी होगी तब भाड़े के घर की तरह इस देह को छोड़ कर स्वकर्मानुसार देहान्तर धारण करेंगे, और उस हालत में यहाँ के संबन्ध और संबन्धी केवल नामशेष हो जायँगे। अतः आत्मार्थी जन का कर्तव्य है कि वह इन सांसारिक क्षणिक संबन्धों, क्षणिक सुखों में न फँस कर आत्महित की चिन्ता करें।

भगवान् ने विस्तारपूर्वक जड़ चेतन की चर्चा करके दोनों के स्वरूप का प्रतिपादन किया। आर्यव्यक्त की सब शंकाएँ दूर हुईं और उसने भी छात्रमंडली के साथ निर्ग्रंथ-श्रमण-धर्म की प्रवज्या ग्रहण करके अपने को धन्य माना।

तत्पश्चात् महावीर ने सुधर्मा को सम्बोधित करते हुए कहा—

सुधर्मा की दीक्षा

सुधर्मन्! क्या तुम यह मानते हो कि सब प्राणी मर कर अपनी ही योनि में उत्पन्न होते हैं?

सुधर्मा—जी हाँ। वेद वाक्य भी मेरे इन विचारों के समर्थक हैं। शास्त्र में कहा है—'पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्वम्' पुरुष पुरुषपन पाता है और पशु पशुपनं।

महावीर—इसके विरोधी वाक्य भी मिलते हैं। क्या यह तुमको मालूम है?

सुधर्मा—जी हाँ। 'शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते।' इस वाक्य से मनुष्य का भावान्तर में सियाल होना भी लिखा है। इन परस्पर विरोधी वाक्यों से यद्यपि इस विषय में कुछ निश्चय नहीं होता। पर जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, भावान्तर में प्राणिमात्र का सादृश्य प्रति-पादक वेदवाक्य ही युक्तिसंगत मालूम होता है। क्योंकि यह एक अटल नियम है कि कार्य हमेशा कारणानुरूप ही होता है। गेहूँ से गेहूँ की ही उत्पत्ति होती है, जौ की नहीं। इसी तरह मनुष्य आदि प्राणी मर कर फिर मनुष्य आदि ही होने चाहिये।

महावीर—महानुभाव ! तुमने कार्यकारण की बात कही सो तो ठीक है। हम भी यही मानते हैं कि कारणानुरूप कार्य होता है। इसीलिये गेहूँ से गेहूँ और जौ से जौ की ही उत्पत्ति होती है पर इस कार्य-कारण के नियम से ऐहिक सादृश्य सिद्ध हो सकता है जन्मान्तर का नहीं। गेहूँ के दाने से नये गेहुँओं की उत्पत्ति होती है यह बात सत्य है परन्तु इसका यह अर्थ कभी नहीं हो सकता कि उसी कारणरूप गेहूँ के जीव ने उससे उत्पन्न होनेवाले गेहूँ के दानों में जन्म लिया है। कारण और कार्यरूप गेहूँ के दानों में केवल शारीरिक कार्यकारण भाव होता है, आत्मिक नहीं। इसी प्रकार मनुष्य तथा तिर्यंच आदि में भी शारीरिक कार्यकारण भाव होता है। मनुष्य के मनुष्य-देहधारी संतान होती है और पशु के पशु-देहधारी। यदि यह नियम न होता तो मनुष्य से पशु और पशु से मनुष्यशरीर भी उत्पन्न हो सकता। महाशय सुधर्मन् ! प्रत्येक जन्तु का जीव जुदा और शरीर जुदा होता है। पूर्व शरीर उत्तर शरीर का कारण हो सकता है पर उत्तर भव का नहीं। भवप्राप्ति का कारण जीवों के शुभ-अशुभ कर्म होते हैं जो जीव जिस प्रकार के भले-बुरे कर्मों से अपनी आत्मा को बाँधता है, वह उसी प्रकार की भली-बुरी गतियों में जाकर उत्पन्न होता है। इसमें उसका पूर्वभविक शरीर कुछ असर नहीं कर सकता। इस भव का मनुष्य शारीरिक मानसिक और वाचिक अशुभ प्रवृत्तियों से अशुभ कर्म बाँध कर नारक और तिर्यंच हो सकता है और शुभ प्रवृत्तियों से मनुष्य और देव भी हो सकता है। इसी तरह इस भव का पशु अशुभ कर्मों से फिर तिर्यंच और नारक हो सकता है और वही तिर्यंच शुभ कर्मों के प्रताप से मनुष्य और देव तक हो सकता है। इससे तुम समझ सकते हो कि प्राणियों का पुनर्जन्म उनके कर्मों पर आधार रखता है शरीर पर नहीं।

भगवान् महावीर के इस स्पष्टीकरण से सुधर्मा का संदेह निवृत्त हो गया और निर्ग्रन्थ-प्रवचन का सार सुनने के बाद वे अपने छात्र-मंडल के साथ श्रमण-धर्म की दीक्षा ले भगवान् महावीर के शिष्य हो गये।

सुधर्मा के बाद मंडिक का मानसिक संदेह व्यक्त करते हुए महावीर

मंडिक बोले—आर्य मंडिक ! क्या तुम्हें आत्मा के बन्ध-मोक्ष के विषय में शंका है ?

मंडिक—जी हाँ। मेरी ऐसी मान्यता है कि 'आत्मा' एक स्वच्छ स्फटिक सा पदार्थ है। इसका कर्मों से बन्ध-मोक्ष तथा नये-नये रूपों में संसार में भटकना बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकता है। शास्त्र में भी आत्मा को त्रिगुणातीत, अबद्ध और विभु बताया है। शास्त्र में लिखा है—"स एष त्रिगुणो विभुर्न बध्यते संसरति वा न मुच्यते मोचयति वा, नवा एष बाह्यमाभ्यन्तरं वा वेद[1]।"

आप ही कहिये, जो त्रिगुण (सत्त्व-रज-तमोगुणातीत), बाह्य (शारीरिक) तथा आभ्यन्तर (मानसिक) सुख-दुःखों के प्रभावों से परे है, वह किस कारण से कर्म-बद्ध होगा ? और जिसका बन्धन ही नहीं, उसके छूटने की तो बात ही कहाँ ? इस प्रकार जो अबद्ध होगा वह संसार-भ्रमण भी किस कारण करेगा ?

महावीर—उक्त श्रुतिवाक्य में जो आत्मा का स्वरूप-वर्णन है वह केवल सिद्ध आत्माओं को ही लागू होता है, संसारी आत्माओं को नहीं।

मंडिक—सिद्ध और संसारी आत्माओं में क्या भिन्नता है ?

महावीर—यों तो आत्मस्वरूप से सभी आत्मायें एक सी हैं परन्तु उपाधिभेद से उनमें भिन्नता मानी गई है। जो आत्मायें तप-ध्यान-योगानुष्ठान से सम्पूर्ण कर्मांशों से मुक्त होकर स्वस्वरूप को पा लेती हैं उनको हम 'सिद्ध' कहते हैं। और जो कर्मयुक्त आत्मायें हैं, शारीरिक मानसिक और वाचिक प्रवृत्तियों द्वारा भले-बुरे कर्म कर नाना गतियों में भ्रमण किया करती हैं, वे संसारी आत्मायें हैं। उक्त वेदवाक्य में जो विभु आत्मा का निरूपण है वह कर्ममुक्त सिद्धात्माओं को ही लागू होता है क्योंकि उक्त सभी विशेषतायें उन्हीं में विद्यमान होती हैं, संसारी जीवों में नहीं।

---

१ इस श्रुति का भाव सांख्यकारिका नं० ६२ के भाव से मिलता है।
तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ सांख्यकारिका नं० ६२

मंडिक—'सिद्ध' और 'संसारी' दो तरह की आत्माओं की कल्पना करने के वदले सभी आत्माओं को कर्ममुक्त सिद्धस्वरूप मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ?

महावीर—संसारी आत्माओं को कर्मरहित (तटस्थ) मान लेने पर जीवों में जो कर्मजन्य सुख-दुःख के अनुभव का व्यवहार होता है वह निराधार सिद्ध होगा। 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्यादि व्यवहार का आधार जीवों के कर्मफल माने जाते हैं। यदि हम सभी जीवों को कर्मरहित मान लेंगे तो इस सुख-दुःख का कारण क्या माना जायगा ?

मंडिक—आत्मा को वुद्धि और शरीर से अपना जुदापन ज्ञात न होने से वुद्धि में होनेवाले सुख-दुःखजन्य असरों को वह अपने में मान लेता है और 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इत्यादि वचनों से उन्हें प्रकट करता है, पर परमार्थ दृष्टि से ये असर आत्मा में नहीं, अन्तःकरण में होता है।

महावीर—तब आत्मा का शरीर और अन्तःकरण के साथ ऐसा कोई गाढ़ सम्बन्ध होना चाहिये जिससे वह उनमें अपनापन मान लेने की भूल करता होगा।

मंडिक—हाँ, ऐसा ही है। दूध में रहा हुआ घी दूध से भिन्न होते हुए भी भिन्न नहीं दीखता। ऐसे ही आत्मा शरीर से भिन्न होते हुए भी घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण वह अपने को भिन्न नहीं समझती और इसी अभेदज्ञान के वश अपने में वुद्धि द्वारा पड़ते हुए शारीरिक सुख-दुःखों के प्रतिबिंबों को वह अपना सुख-दुःख मानकर अपने को सुखी-दुःखी माना करता है।

स्फटिक स्वयं उज्ज्वल होता है, फिर भी सन्निधि के कारण लाल, नीला, पीला, काला अनेक रूपों में दीखता है। यही दशा आत्मा की भी है। स्वयं स्वच्छ स्फटिक समान निर्मल होते हुए भी उपाधिवश वह अनेक रूपों में दीखती है।

महावीर—आत्मा का शरीर अथवा अन्तःकरण के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसी को हम 'बन्ध' कहते हैं। आत्मा स्वस्वरूपसे उज्ज्वल है, इसमें कोई विरोध नहीं, पर जब तक वह सकर्मक है, शरीर-

धारी है, तब तक कर्मफल से मलिन है। इस मलिन प्रकृति के कारण नये-नये कर्म बाँधती रहती है और उन कर्मों के अनुसार ऊँच-नीच गतियों में भटकती है, यही इसका संसार-भ्रमण है।

सुख-दुःख की उत्पत्ति अन्तःकरण में होती है और अन्तःकरण ही उसका अनुभव करता है, यह मान्यता भी तर्कसंगत नहीं है। ज्ञान चेतन का धर्म है, जड़ का नहीं। अन्तःकरण जड़ पदार्थ है। उसे सुख-दुःख का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। अनुभव का होना तो निर्विवाद है, अतः सुख-दुःख का अनुभवकर्ता और वचन द्वारा व्यक्तकर्ता तत्त्व अन्तःकरण से भिन्न है। इसी तत्त्व को हम आत्मा कहते हैं।

जब तक आत्मा को संसार से मुक्त होने का साधन प्राप्त नहीं होता तब तक वह चातुर्गतिक संसार में भटकता रहता है और अपने कर्मों का फल भोगता रहता है। जिस समय इसे गुरु द्वारा अथवा स्वयं मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है तब यह मुक्ति के लिये उद्यम करने लगता है और कर्मबन्धनों को क्षय करके के मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

महानुभाव मंडिक, हमारे इस कथन का नीचे लिखे वेदवाक्य से भी समर्थन होता है—

"न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा वसन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः।"[1]

भगवान् महावीर के मुखारविन्द से बन्धमोक्ष की व्याख्या को सुनकर मंडिक का अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया और वह निर्ग्रन्थ प्रवचन का सार सुनकर सपरिवार उनके चरणों में प्रव्रजित हो गया।

मौर्यपुत्र

अब भगवान् महावीर ने मौर्यपुत्र की शंका को प्रकट करते हुए कहा—मौर्यपुत्र! क्या तुम्हें देवों के अस्तित्व में शंका है?

---

१ यह पाठ छान्दोग्योपनिषद् (४४५) में कुछ फेरफार के साथ मिलता है—न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वा वसन्तं न प्रियाऽप्रिये स्पृशतः ॥१॥ अर्थ—'जब तक आत्मा शरीरधारी है इसके सुख-दुःखों का अन्त नहीं है और शरीर रहित होनेपर सुख-दुःख इसका स्पर्श नहीं करते।'

मौर्यपुत्र—जी हाँ, 'देव' नामधारी प्राणियों की कोई स्वतंत्र दुनिया है अथवा विशिष्ट स्थिति-संपन्न मनुष्य ही 'देव' कहलाते हैं, इस विषय में मैं संदेहशील हूँ।

इस सम्बन्ध में शास्त्र की भी एकवाक्यता नहीं। "को जानाति मायोपमान् गीर्वाणानिन्द्रयमवरुणकुवेरादीन्"[1] इत्यादि शास्त्रवाक्य इन्द्र, यम, वरुण, कुवेरादि देवों को स्वप्नोपम (स्वप्नतुल्य-असत्) बताते हैं और "स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छति।"[2] यह श्रुतिवाक्य यजमान को यज्ञ की सहायता से स्वर्गगति की प्राप्ति बताता है। "अपाम सोममसृता अभूमागमन् ज्योतिरविदाम देवान्। किं नूनमस्मा त्तृणवदरातिः, किमु धूर्त्तिरमृत मर्त्त्यस्य"[3] यह वेदवाक्य भी देवलोक का अस्तित्व सूचित करता है। इन परस्पर विरुद्ध वाक्यों से कुछ भी निश्चय नहीं होता।

महावीर—महानुभाव मौर्यपुत्र! "मायोपमान्" इत्यादि श्रुतिवाक्य का वास्तविक अर्थ तुम समझ नहीं पाए। इसीसे तुम शंकाकुल हो रहे हो। वस्तुतः उक्त श्रुति देवों के अस्तित्व का निषेध नहीं करती वल्कि उनकी अनित्यता सूचित करती है। देव जो कल्पस्थायी दीर्घायुषी होते हैं वे भी आखिर स्वप्न की तरह नामशेष हो जाते हैं, तो मनुष्यादि अल्पजीवियों का तो कहना ही क्या है? इस भाव को प्रतिपादन करने के लिये पूर्वोक्त ऋषिवाक्य प्रयुक्त हुआ है, न कि देवत्व का अभाव बताने के लिये।

मौर्यपुत्र—'देवलोक' नामक एक नयी दुनिया की कल्पना करने

---

१ यह वाक्य किस वैदिक ग्रन्थ का है इसका पता नहीं चला। लेखक ने यह पाठ आवश्यकठीका में से उद्धृत किया है।

२ यह वाक्य हमें वैदिक ग्रन्थों में नहीं मिला। यहाँ आवश्यकटीका में से उद्धृत किया है।

३. यह श्रुति आवश्यकटीका के अनुसार है। यह श्रुतिवाक्य 'ऋग्वेदसंहिता' (८-४८-३) तथा 'अथर्वशिर उपनिषद्।' (३) में इस प्रकार मिलता है—

अपाम सोमममृता अभूमागमन् ज्योतिरविदाम देवान्
किमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतं मर्त्यं च॥"

के बदले यही क्यों न मान लिया जाय कि विशिष्ट स्थिति-संपन्न मनुष्य ही 'देव' हैं ?

महावीर—मनुष्यगति वह गति है जहाँ जन्म पाए हुए प्राणी सुख-दुःख मिश्रित जीवन व्यतीत करते हैं। मनुष्य लोक में ऐसा कौनसा प्राणी है जो दुःख से अलिप्त केवल सुख में ही जीवन गुजारता हो ? गर्भावास का दुःख किस मनुष्य ने नहीं भोगा ? शारीरिक और मानसिक पीड़ाओं ने किस मनुष्य को अछूता छोड़ा है ? इस मानव संसार में ऐसा कौन मनुष्य है जो सांसारिक इच्छाओं को पूर्ण करके मरा हो ? महानुभाव, मानव संसार की इस अपूर्ण सुख सामग्री को देखकर मानना होगा कि मनुष्य लोक केवल पुण्य-फल भोगने का स्थान नहीं, अतः केवल पुण्य का फल भोगने के लिए कोई भिन्न स्थान अवश्य होना चाहिये जहाँ पर उत्पन्न होने वाले जीव दीर्घकाल पर्यन्त केवल सुख ही सुख भोगते हों। यही स्थान 'देवलोक' हैं और इनमें उत्पन्न होकर हजारों, लाखों, करोड़ों और अरबों खरबों वर्षों से भी अधिक समय तक पुण्य-कर्मों के फल भोगने वाले 'देव'।

हाँ, उत्तम प्रकृति के गुणी मनुष्यों को 'उपचार' से 'देव' कह सकते हैं, पर उत्पत्ति से देव तो वही कहलायेंगे जो स्वर्गलोक में उत्पन्न होकर मनुष्यों से अनेकगुनी शक्ति और विलक्षण दिव्य कान्ति को धारण करनेवाले होंगे।

भगवान् महावीर के उक्त खुलासे से मौर्यपुत्र की शंका निवृत्त हो गई और निर्ग्रंथ प्रवचन का श्रवण करने के उपरान्त वे अपने छात्रमंडल के साथ भगवान् के पास दीक्षित हो गए।

अकम्पिक

अब भगवान् अकम्पिक का मनोगत संदेह व्यक्त करते हुए बोले—क्यों अकम्पिक ! तुम्हारे चित्त में नरक के अस्तित्व के बारे में संदेह है ?

अकम्पिक—जी हाँ ! यद्यपि दार्शनिक लोग 'नरक' नामक एक अगम्य स्थान की कल्पना करते हैं पर मेरी समझ में तो यह कोरी कल्पना ही है, प्रामाणिक वस्तु नहीं। जिसे विद्वान् लोग 'नरक' कहते

हैं, मेरे विचार से उसका तात्पर्य मनुष्य जीवन की एक निकृष्टतम दशा से है।

महावीर—मनुष्य की निकृष्ट दशा को नरक मानने से कर्मसिद्धान्त का निर्वाह नहीं हो सकता। मनुष्य कितना भी दुःखी क्यों न हो, फिर भी उसमें सुख का अंश रहता ही है। जो जीव जीवन पर्यन्त हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह में लीन रहते हैं, हजारों के प्राण हरण करते हैं, सैकड़ों असत्यभाषण करते हैं, लाखों को लूटते हैं, असंख्य अनाचार करते हैं और दुनिया भर के राज्य और परिग्रह इकट्ठा कर उन्हीं प्रवृत्तियों में अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करते हैं उनके लिये क्या निकृष्ट मनुष्यगति अथवा कीट-पतंगादि के जन्म ही पर्याप्त होंगे? ऐसे क्रूर कर्मकारियों का छुटकारा मनुष्य अथवा तिर्यंचगति के दुःखों से ही नहीं हो सकता। उनके कर्मफल भोगने के लिये कोई ऐसा स्थान चाहिये, जहाँ सुख का अंश भी न हो और जहाँ उनके आयुष्य करोड़ों वर्षों और इससे भी अधिक लम्बे हों। इस प्रकार केवल दुःखात्मक स्थान 'नरक' कहलाते हैं।

अकम्पिक—लेकिन 'न ह वै प्रेत्य नरके नारकाः सन्ति।'[1] इस प्रकार के वचनों से तो यही सिद्ध होता है कि 'मरकर नरक में नारक नहीं होते' फिर नरक की कल्पना क्यों करना चाहिये।

महावीर—शास्त्र में नरक का प्रतिपादन भी तो किया है। 'नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नमश्नाति।'[2] इस वेदवाक्य में शूद्र का अन्न खानेवाले को नारक होना लिखा है।

अकम्पिक—परस्पर विरुद्ध वाक्यों का समन्वय किस प्रकार हो सकता है?

महावीर—इन वाक्यों में वास्तविक कोई विरोध नहीं है। प्रथम शास्त्रवाक्य नरकगति से निकलनेवाले जीवों को लक्ष्य करके कहा गया

---

१ यह वचन किस वैदिक ग्रन्थ का है, इसका पता नहीं लगा।

२ यह वेदपद किस ग्रन्थ का है, इस पता नहीं लगा। लेखक ने यह पाठ आवश्यकटीका से उद्धृत किया है।

है कि नारक मरकर नरक में जन्म नहीं लेता। इसी भाव को लक्ष्य में रख कर प्रथम वाक्य में नरक में 'नारकों' की उत्पत्ति का निषेध किया है, अन्य जीवों की उत्पत्ति का नहीं।

भगवान् के इस विवेचन से अकम्पिक का 'नरक' विषयक संदेह निवृत्त हो गया और वह निर्ग्रन्थ प्रवचन का सार पाकर भगवान् के पास छात्रमण्डल के साथ प्रव्रजित हो गया।

अचलभ्राता

पंडित अचलभ्राता की शंका को प्रकट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—पंडित ! क्या तुम्हें पुण्यपाप के अस्तित्व के विषय में शंका है ?

अचलभ्राता—जी हाँ। एक ओर तो शास्त्र में 'पुरुष एवेदं ग्नि सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्। उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति' इत्यादि श्रुति से पुरुषाऽद्वैत का प्रतिपादन किया गया है और दूसरी ओर 'पुण्यः पुण्येन पापः पापेन कर्मणा।'[1] आदि वेद वाक्य पुण्य पाप का अस्तित्व सिद्ध करते हैं।

इन विविध वाक्यों से यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि पुण्य-पाप कोई वास्तविक पदार्थ हैं या कल्पना मात्र ?

महावीर—"पुरुष एवेदं" इत्यादि वेद वाक्य अर्थवाद मात्र हैं। इनसे पुरुष का महत्त्व मात्र स्थापित होता है न कि अन्य तत्त्वों का अभाव 'पुण्यः पुण्येन' इत्यादि वाक्य कोई औपचारिक वचन नहीं, सैद्धान्तिक वचन है। पुनर्जन्म और कर्मतत्त्व का अस्तित्व इसमें गर्भित है जो तर्कसंगत और व्यवहारिक वस्तु है।

अग्निभूति के सामने जिस प्रकार पुरुषाऽद्वैतवाद का खोखलापन सिद्ध किया था उसी तरह अचलभ्राता के आगे भी पुरुषाद्वैतवाद का निरसन करके भगवान् ने पुण्य-पाप का अस्तित्व सिद्ध कर दिया। इससे अचलभ्राता का संदेह दूर हुआ और निर्ग्रन्थ प्रवचन का सार सुनकर उन्होंने भी अपनी छात्र-मंडली के साथ भगवान् महावीर के पास प्रव्रज्या ग्रहण की।

---

१ पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति। बृहदारण्यकोपनिषद् ५६०।
पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति। बृहदारण्यकोपनिषद् ६३२।

पंडित मेतार्य को पुनर्जन्म के संवन्ध में शंका थी। 'विज्ञानघन' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से उसके दिल में परलोकवाद में संशय हो रहा था। यदि भूतपरिणाम ही चेतन है तो उनके विनाश के साथ ही उसका विनाश भी निश्चित है। इस प्रकार के विचारों से मेतार्य का चित्त भौतिकवाद की तरफ आकृष्ट हो रहा था। भगवान् महावीर ने 'वेदवाक्य' का वास्तविक अर्थ समझाकर भौतिकवाद का खण्डन किया और भूतातिरिक्त आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करके पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

मेतार्य

इस अमृतवाणी से मेतार्य के सब संशय दूर हुए और वह भी अपनी शिष्यमण्डली के साथ भगवान् महावीर के श्रमण परिवार में सम्मिलित हो गए।

अन्त में भगवान् महावीर ने विद्वान् प्रभास का मनोगत संशय व्यक्त करते हुए कहा—क्यों प्रभास! तुम्हें मोक्ष के विषय में संदेह है?

प्रभास

प्रभास—जी हाँ। मोक्ष के विषय में मेरे मन में शंका है। मोक्ष का अर्थ यदि कर्मों से मुक्त होना है तो यह असंभव है, क्योंकि जीव और कर्मों का संबंध अनादि है अतः उसे अनन्त भी होना चाहिये—जो अनादि है वह अनन्त भी है जैसे आत्मा। वेद में भी मोक्ष का कोई विधान भी नहीं है शास्त्र में तो "जरामर्यं वा यदग्निहोत्रम्[1]।" इत्यादि वचनों से जीवन पर्यन्त के लिये अग्निहोत्र ही विधेयकर्म लिखा है। यदि मोक्ष कोई वास्तविक पदार्थ होता तो उसकी सिद्धि के लिये भी अवश्य कोई अनुष्ठान विहित होता।

महावीर—अनादि वस्तु अनन्त भी होनी ही चाहिये ऐसा ऐकान्तिक नियम नहीं है।

सुवर्णादि खनिज पदार्थ अनादिकाल से मृत्तिकादि से सम्बद्ध होते

---

१ यह वाक्य आवश्यकटीका से लिया गया है। यह श्रुतिवाक्य नारायणोपनिषद् (२९२) में इस प्रकार मिलता है—"एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रं सत्रम्।" "तैत्तिरीयारण्यक" (१०-६४) तथा महानारायणोपनिषद् (२५) में यह पाठ है—"जरामर्यं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रम्।"

हुए भी अग्नि आदि के संयोग से निर्मल हो जाते हैं। इसी प्रकार जीव भी अनादि काल से कर्मफल से सम्बद्ध होते हुए ज्ञान ध्यान आदि उपकरणों की सहायता से मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यह हो सकता है कि कर्मकाण्ड-प्रधान वैदिक-ऋचाओं में मोक्ष तथा उसके साधन का विधान न हो परन्तु वेद के ही अन्तिम भाग, उपनिषदों में तो इसके स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। 'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परमपरं च, तत्र परं सत्यं ज्ञानं अनन्तरं ब्रह्म[1]'' इत्यादि वाक्यों द्वारा वैदिक ऋषियों ने 'ब्रह्म' अथवा 'अनन्त ब्रह्म' के नाम से जिस तत्त्व का निर्देश किया है, उसीको हम 'निर्वाण' अथवा 'मुक्तावस्था' कहते हैं।

उक्त विवेचन से प्रभास की निर्वाण विषयक शंका दूर हो गई। यह भी अपने छात्रमण्डल के साथ निर्ग्रंथ प्रवचन की दीक्षा ले भगवान् के श्रमणसंघ में सम्मिलित हो गया।

इस प्रकार मध्यमा के समवसरण (धर्मसभा) में एक ही दिन में ४४११ ब्राह्मणों ने निर्ग्रंथ प्रवचन को स्वीकार कर देवाधिदेव भगवान् महावीर के चरणों में नतमस्तक हो श्रामण्य धर्म को अंगीकार किया।

भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति आदि प्रमुख ग्यारह विद्वानों को अपने मुख्य शिष्य बनाकर उन्हें 'गणधर' (समुदाय के नायक) पद से सुशोभित किया और उनकी छात्रमण्डलियों को उन्हीं के शिष्य रहने की आज्ञा दी।

---

१ आवश्यकटीका में उक्त वाक्य है। तैत्तिरीयोपनिषद् (१८२) में—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।" और मुण्डकोपनिषद् (११९) में—"तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो,वदन्ति परा चापरा च ॥ १-४ ॥" ये वाक्य मिलते हैं।

२ ग्यारह में से नौ गणधर तो भगवान् महावीर के जीवनकाल में ही मुक्त हुए और इन्द्रभूति गौतम ने भी भगवान् के निर्वाण के दिन केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। अन्त में सभी गण दीर्घजीवी सुधर्मा के संरक्षण में ही रहे।

इन्द्रभूति आदि विद्वानों और उनकी छात्र-मण्डली के अतिरिक्त अनेक नर-नारियों ने भगवान् महावीर का दिव्य उपदेश सुना और संसार से विरक्त होकर श्रमणधर्म अंगीकार किया।

जिन श्रद्धालु व्यक्तियों ने अपने को श्रमणधर्म के लिए असमर्थ पाया उन्होंने गृहस्थधर्म स्वीकार कर श्रमणोपासक तथा श्रमणोपासिका रूप में भगवान् के संघ में प्रवेश किया।

इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर ने वैशाख शुक्ला दशमी के दिन मध्यमानगरी के महासेन नामक उद्यान में साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ की स्थापना की।

इसके पश्चात् भगवान् महावीर ने सपरिवार राजगृह के लिए प्रस्थान किया।

राजगृह में, जो उस समय संपन्न नगरों में से एक था, शैशुवंशीय राजा श्रेणिक राज्य करते थे। इनके अनेक रानियाँ और राजकुमार थे। सबसे छोटी रानी चेल्लना भगवान् महावीर के मामा वैशालीपति चेटक की पुत्री और जैन श्रमणोपासिका (श्राविका) थी। राजकुमारों में अभयकुमार आदि भी निर्ग्रंथ प्रवचन के अनुयायी थे। नागरथिक, सुलसा आदि दूसरे भी अनेक राजगृह निवासी निर्ग्रंथ प्रवचन को माननेवाले थे। इन सब बातों को ध्यान में रखकर भगवान् महावीर मध्यमा से विहार करते हुए राजगृह के गुणशील चैत्य में जाकर ठहरे।

भगवान् के आगमन का समाचार राजगृह के कोने-कोने में पहुँच गया। परिणामस्वरूप राजा श्रेणिक, राजपरिवार, राजकर्मचारी, सेठ-साहूकार और साधारण प्रजागण गुणशील चैत्य की तरफ चल पड़े। कुछ ही समय में हजारों मनुष्यों की भीड़ से उद्यान भर गया। सब लोग भगवान् को वन्दन कर उपदेश श्रवण करने के लिए यथास्थान बैठ गये।

देवनिर्मित समवसरण में ऊँचे आसन पर बैठकर भगवान् महावीर ने उस महती सभा में हृदयग्राही धर्मोपदेश दिया। भगवान् ने बतलाया कि अनादि अनन्त संसार में भटकते हुए जीव को मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, सत्यश्रद्धा तथा संयमवीर्य—ये चार पदार्थ बड़ी कठिनता

से प्राप्त होते हैं। ये चारों मोक्षप्राप्ति में सहायक बनते हैं, अतः इनसे यथोचित लाभ उठाना हर एक व्यक्ति का कर्तव्य है।

मनुष्य, देव, तिर्यञ्च और नारक-गतिरूप यह संसार एक रंग-भूमि है। इसमें संसारी जीव अपने कर्मों के अनुसार कभी मनुष्य कभी देव कभी तिर्यञ्च और कभी नारक के रूप में प्रकट होते हैं और क्षणिक लीला दिखा कर चले जाते हैं। इस संसार-नाटक का कभी अन्त नहीं होता और इसके पात्रों को कभी विश्राम नहीं मिलता। इस अनन्त-कालीन नाटक में जीवों का सब से अधिक समय तिर्यञ्चगति में गया, उससे कम देव और नारकगति के रूपों में और सब से कम मनुष्यगति के रूप धारण करने में व्यतीत हुआ है।

मनुष्यत्व

मानव भव दुर्लभ है। आत्मा की मुक्ति मनुष्य भव में—केवल मनुष्य भव में ही होती है। देव भव पुण्य फल भोग की अपेक्षा श्रेष्ठ हो सकता है पर आत्महित की दृष्टि से वह मनुष्य भवका मुकाबला नहीं कर सकता। तिर्यञ्च और नारक भव प्रायः पाप फल भोगने के स्थान होने से इन गतियों के जीव आत्मिक उन्नति करने में असमर्थ होते हैं।

अनन्तकाल तक भटकते-भटकते कभी जीव को मनुष्य भव तो नसीब हो जाता है। परन्तु जब तक उसे धर्मश्रवण आदि विशिष्ट सामग्री नहीं मिलती, तब तक केवल मनुष्य भव हितसाधक नहीं हो सकता। अनार्य मनुष्य ही होते हैं पर उनके जीवन का क्या उपयोग है? 'धर्म' के कुछ अक्षर भी जिनके कानों में नहीं पड़ते वे मनुष्य होकर भी क्या आत्महित कर सकते हैं? अनार्यों को स्वभावतः धर्मश्रवण दुर्लभ होता है, पर आर्य नामधारी सब मनुष्य भी श्रवण के अधिकारी नहीं होते। प्रमाद, लोभ, भय, अहंकार, अज्ञान और मोह आदि अनेक कारणों के वश कुलीन आर्यों को भी धर्मश्रवण नसीब नहीं होता। जिनके अन्तराय कर्म विवर होते हैं, जिनके ज्ञानावरणीयादि कर्म क्षयोपशम को प्राप्त होते हैं वे ही जीव धर्मश्रवण कर सकते हैं।

धर्मश्रवण

धर्मश्रवण करने वाले सभी श्रद्धालु नहीं होते। धर्मतत्त्व को सुन कर भी सभी उस पर विश्वास नहीं लाते। कुछ व्यक्ति कुल-धर्म के राग से, कुछ सत्यधर्म के द्वेष से, कुछ तत्त्व को न समझने से और कुछ मतवादियों के बहकावे में आकर श्रवण किये तत्त्व पर श्रद्धा नहीं लाते। सत्य पर सत्यता की और असत्य पर असत्यता की बुद्धि नहीं करते। परिणामतः उनका तत्त्वश्रवण निष्फल जाता है।

सत्य श्रद्धा

जिनके भवभ्रमण का अन्त निकट आ गया हो, अन्तरंग नेत्र खुल गये हों और आत्मिक सुख प्राप्ति का समय मर्यादित हो गया हो उन्हीं योग्य प्राणियों के हृदय में सत्यधर्म की छाप पड़ती है, उन्हीं के चित्त में ज्ञानी का उपदेश श्रद्धा उत्पन्न कर सकता है।

संसार की अनन्त जीवराशि में मनुष्य बहुत कम हैं, मनुष्यों में धर्मश्रोता बहुत कम, श्रोताओं में श्रद्धालु बहुत कम और श्रद्धालुओं में भी संयममार्ग में प्रवृत्ति करने वाले सब से कम। वे सुनते तो हैं और श्रद्धा भी करते हैं पर उस मार्ग पर चलना खड्गधारा के ऊपर चलने से भी कठिन समझते हैं। वे कहते ही नहीं, हृदय से मानते भी हैं कि संसार असार है, कुटुम्ब मेला क्षणिक है, फिर भी वे संसार, कुटुम्ब और विषय का त्याग करने का पुरुषार्थ नहीं करते।

संयम-वीर्य

भगवान् ने कहा—देवानुप्रियो ! जब तक तुम संयम-मार्ग में अग्रसर न होगे तब तक कर्मक्षय कर मुक्ति के निकट न पहुँचोगे और शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक कष्टों से छुटकारा नहीं पा सकोगे।

संयमपथ के पथिक को सर्वप्रथम सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्म को पहचान कर उनमें दृढ़ श्रद्धा और विश्वास करना चाहिये और फिर पंच-महाव्रतात्मक धर्म का पालन कर विशुद्ध संयमी बनना चाहिये—

मुनिधर्म

१ प्राणातिपात विरमण—सूक्ष्म-स्थूल सभी प्रकार के जीवों की मानसिक, वाचिक तथा कायिक हिंसा करने, कराने तथा अनुमोदन करने का त्याग।

२ मृषावाद विरमण—मनसा वाचा कर्मणा असत्य भाषण करने, कराने तथा अनुमोदन करने का त्याग ।

३ अदत्तादान विरमण—मन वचन काय से परकीय वस्तु लेने लिवाने और अनुमोदन करने का त्याग ।

४ मैथुन विरमण—मन वचन काय से मैथुन सेवन (विषय भोग) करने, कराने तथा अनुमोदन करने का त्याग।

५ परिग्रह विरमण—मन वचन काय से धन-धान्यादि बाह्य और रागद्वेषादि आभ्यन्तरिक परिग्रह ग्रहण करने, कराने और अनुमोदन करने का त्याग ।

इन महाव्रतों का पालन करने वाले संयमी 'सर्वविरत' श्रमण संसार-भ्रमण का अन्त कर शीघ्र ही सात-आठ भवों के अंदर कर्ममुक्त होकर आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं ।

गृहस्थ-धर्म

जो मनुष्य उपर्युक्त पंच-महाव्रतात्मक धर्ममार्ग का अनुसरण नहीं कर सकते, पुरुषार्थ की कमी के कारण अपनी आत्मा को सर्वविरति चारित्र के लायक नहीं पाते वे गृहस्थाश्रम में रह कर देश-विरति धर्म से भी अपनी आत्मशुद्धि कर सकते हैं । देश विरत संयमी 'श्राद्ध' अथवा 'श्रमणोपासक' कहलाते हैं । श्रमणोपासक को द्वादश-व्रतात्मक देशविरति धर्म का पालन करना चाहिये—

१ स्थूल प्राणातिपात विरमण—त्रस (चलते-फिरते) जीवों की निष्कारण हिंसा न करना ।

२ स्थूल मृषावाद विरमण—स्थूल झूठ न बोलना ।

३ स्थूल अदत्तादान विरमण—जिसके लेने से चोर कहलाएँ ऐसी दूसरे की चीज स्वामी की आज्ञा बिना न लेना ।

४ स्वस्त्री संतोष परस्त्री विरमण—परस्त्री गमन का त्याग स्वस्त्री गमन का नियमन ।

५ परिग्रह परिमाण—चल-अचल सचित्त-अचित्त सभी प्रकार की संपत्ति का नियमन ।

६ दिक्परिमाण—सभी दिशाओं में जाने-आने का नियमन ।

७ भोगोपभोग परिमाण—खान-पान, मौज-शौक और औद्योगिक प्रवृत्तियों का नियमन।

८ अनर्थ दण्ड विरमण—निरर्थक प्रवृत्तियों का त्याग।

९ सामायिक—प्रतिदिन कम से कम मुहूर्त पर्यन्त सांसारिक प्रवृत्तियों को छोड़ कर समभाव निवृत्ति मार्ग में स्थिर होना।

१० देशावकाशिक—स्वीकृत मर्यादाओं का कम करना।

११ पौषधोपवास—अष्टमी चतुर्दशी आदि के दिनों में सांसारिक प्रवृत्तियों को छोड़कर आठ पहर तक धार्मिक जीवन बिताना।

१२ पौषधोपवास को समाप्ति पर श्रमण आदि अतिथि को आहार आदि का दान देना।

उक्त १२ नियम गृहस्थों के द्वादश व्रत कहलाते हैं। इन नियमों को, पालनेवाला 'श्रमणोपासक' क्रमशः आत्मशुद्धि करता हुआ मुक्ति के निकट पहुँचता है और भवान्तर में श्रमणधर्म की प्राप्ति कर मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

जिन मनुष्यों में श्रमण तथा श्रमणोपासक धर्म के पालन करने का सामर्थ्य नहीं उन्हें भी अपनी चित्तभूमि में सुदेव-सुगुरु-सुधर्म-रूप तत्त्वत्रयी में श्रद्धा बनाये रखना चाहिये, जिस तरह मार्ग स्थित कमजोर आदमी भी कभी न कभी इष्ट स्थान को पा लेता है उसी तरह श्रद्धावान् जीव अव्रती भी मार्गाभिमुख रह कर कभी न कभी इष्ट स्थान को जरूर पाता है।

भगवान् महावीर की तात्त्विक देशना से प्रभावित होकर सभाजनों में से राजकुमार मेघ, नन्दीषेण आदि अनेक पुरुषों ने श्रमणधर्म की प्रव्रज्या ली, राजकुमार अभय और सुलसा आदि अनेक स्त्री-पुरुषों ने गृहस्थधर्म स्वीकार किया और राजा श्रेणिक आदि अनेक मनुष्यों ने भगवान् के प्रवचन पर श्रद्धा प्रकट की।

उस साल का वर्षा-चातुर्मास्य भी भगवान् ने राजगृह में ही बिताया और अनेक मनुष्यों को धर्मपथ पर लाकर उनका उद्धार किया।

वर्षाकाल व्यतीत होने पर श्रमण भगवान् ने राजगृह से विदेह की

ओर विहार किया। अनेक गाँवों नगरों में धर्म-प्रचार करते हुए भगवान् महावीर ब्राह्मण-कुण्ड पहुँचे और नगर के बाहर बहुसाल उद्यान में मुकाम किया।

१४-चौदहवाँ वर्ष (वि० पू० ४९९-४९८)

बहुसाल चैत्य ब्राह्मण-कुण्ड के निकट तो था ही, पर वह उनके जन्म-स्थान क्षत्रिय-कुण्डपुर से भी दूर नहीं था। भगवान् के बहुसाल में पधारने के समाचार दोनों कुण्डपुरों में पवन वेग से पहुँचे और हजारों दर्शनार्थियों से बहुसाल चैत्य का मैदान भर गया।

श्रमण भगवान् महावीर ने गंभीर ध्वनि से जो धर्मदेशना की उसे सुनकर श्रोताओं के हृदयपट खुले गये। बहुतों ने श्रमणधर्म स्वीकार किया, बहुतों ने गृहस्थधर्म के नियम धारण किये और बहुत से लोग निर्ग्रन्थ प्रवचन के श्रद्धालु हुए।

श्रमण भगवान् की इस धर्मसभा में श्रमणधर्म स्वीकार करने-वालों में जमालि, ऋषभदत्त ब्राह्मण तथा उनकी सहधर्मिणी देवानन्दा के नाम उल्लेखनीय हैं।

जमालि क्षत्रियकुण्डपुर का क्षत्रियकुमार था। भगवान् महावीर के उपदेशामृत का पान कर वह इस असार संसार से विरक्त हो गया और पाँच सौ साथियों के साथ प्रव्रजित हो मोक्षमार्ग की साधना करने लगा।

ऋषभदत्त ब्राह्मणकुण्ड के एक प्रतिष्ठित कोडालगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी धर्मपत्नी जालंधरगोत्रीय देवानन्दा ब्राह्मणी थीं। ऋषभ-दत्त और देवानन्दा ब्राह्मण होते हुए भी जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि तत्त्वों के ज्ञाता श्रमणोपासक थे। बहुसाल में भगवान् महावीर का आगमन सुनकर ऋषभदत्त बहुत खुश हुए। यह खुशखबरी देवानन्दा को सुनाते हुए वे बोले—देवानुप्रिये! सर्वज्ञ भगवान् महावीर आज अपने नगर के परिसर में पधारे हैं। ऐसे ज्ञानी और तपस्वी अर्हन्तों का नामश्रवण भी फल-दायक होता है तो सामने जाकर विनय, वन्दन-नमस्कार, सेवा और धार्मिक चर्चा करने का तो कहना ही क्या! प्रिये! चलें हम भी भग-

ऋषभदत्त तथा देवानन्दा की दीक्षा

वान् महावीर का वन्दन-नमस्कार और सेवाभक्ति करें। यही कार्य हमारे ऐहिक तथा पारलौकिक हित और कल्याण के लिए होगा।

स्वामी के मुख से उक्त प्रस्ताव सुनकर देवानन्दा को बड़ा संतोष हुआ और सहर्ष पति के वचनों का समर्थन किया।

ऋषभदत्त ने सेवकजनों को रथ तैय्यार करने को कहा। वे स्वामी की आज्ञा पाते ही अत्युत्तम रथ को तैय्यार करके तुरन्त उपस्थानशाला में ले आए।

ऋषभदत्त और देवानन्दा दोनों ने स्नान करके अच्छे-अच्छे वस्त्राभरण पहने और दास दासियों के परिकर के साथ उपस्थानशाला में जाकर रथ में बैठे। रथ ब्राह्मणग्राम के मध्य भाग में होता हुआ बहुसाल में पहुँचा। भगवान् की धर्मसभा दृष्टिगोचर होते ही रथ ठहरा लिया गया और दोनों पति-पत्नी आगे पैदल चले। विधिपूर्वक सभा में जा कर वन्दन-नमस्कार करके सभा में बैठ गये।

देवानन्दा निर्निमेष नेत्रों से महावीर को देख रही थीं। उसके नेत्र विकसित हो रहे थे, स्तनों से दूध का स्राव हो रहा था, रोमाञ्च से उसका सारा शरीर पुलकित हो उठा था। देवानन्दा के इन शारीरिक भावों को देखकर गौतम ने भगवान् से प्रश्न किया—भगवन् ! आपके दर्शन से देवानन्दा का शरीर पुलकित क्यों हो गया ? इनके नेत्रों में इस प्रकार की प्रफुल्लता कैसे आ गई और इनके स्तनों से दुग्धस्राव क्यों होने लगा ?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम ! देवानन्दा मेरी माता हैं और मैं इनका पुत्र हूँ। देवानन्दा के शरीर में जो भाव प्रकट हुए उनका कारण पुत्रस्नेह है।

इसके बाद भगवान् ने उस महती सभा के सामने धर्मोपदेश किया। सभा के विसर्जित होने के बाद ऋषभदत्त उठा और भगवान् को नमस्कार कर बोला—भगवन् ! आपका कथन यथार्थ है। मैं आपके धर्म में प्रव्रजित होना चाहता हूँ। प्रभो, स्वीकृति दीजिए।

स्वीकृति मिलने पर ऋषभदत्त वहाँ से ईशानदिशा विभाग की ओर कुछ दूर हटे। वहाँ वस्त्राभूषण पुष्पमाला आदि का त्याग कर तथा

पञ्चमुष्टिक लोच कर भगवान् के समीप आए और वन्दन कर बोले—भगवन्! यह संसार जल रहा है—जरामरण रोगशोकादि विपदाओं की आग से यह संसार चारों ओर से प्रज्वलित हो रहा है। निस्तारक प्रभो! इस आग से मुझे बचाइये।

भगवान् ने प्रव्रज्या देकर ऋषभदत्त को अपने श्रमणसंघ में प्रविष्ट कर लिया। स्थविरों के पास ज्ञान और क्रिया का अभ्यास करते-करते ऋषभदत्त अनगार एकादशांगधारी तपस्वी स्थविर हुए और बहुत वर्षों तक तप-संयम का आराधन करने के उपरान्त अनगार ऋषभदत्त ने मासिक अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया।

देवानन्दा ने भी उसी सभा में प्रतिबोध पाकर दीक्षा ली और आर्या चन्दना की आज्ञा में रहते हुए एकादशांगी का अध्ययन किया और नानाविध तप-जप से कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् महावीर की पुत्री ने भी—जो जमालि से व्याही थी—इसी वर्ष एक हजार स्त्रियों के साथ आर्या चन्दना के पास दीक्षा ले भगवान् के श्रमणीसंघ में प्रवेश किया।

लगभग वर्षभर भगवान् ने विदेह में विहार किया और वर्षा चातुर्मास्य वैशाली में विताया।

१५-पंदरहवाँ वर्ष
(वि० पू० ४९८-४९७)

चातुर्मास्य समाप्त होने पर भगवान् महावीर ने वैशाली से वत्सभूमि की ओर विहार किया। मार्ग में अनेक स्थानों में धर्म-प्रचार करते-करते वे कौशाम्बी पहुँचे और नगर के बाहर चन्द्रावतरण चैत्य में वास किया।

कौशाम्बी के तत्कालीन राजा का नाम उदयन था। उदयन वत्स-देश के प्रसिद्ध राजा सहस्रानीक का पौत्र तथा राजा शतानीक का पुत्र और वैशालीपति-चेटक का दोहता होता था। वह अभी नाबालिग था। अतः राज्य का प्रबन्ध उसकी माता मृगावती देवी, प्रधानों की सलाह से करती थी।

---

१ भगवतीसूत्र श० ९। उ० ३३। पृ० ४५६-४५८।

उस समय कौशाम्बी में जयन्ती नामक एक जैन-श्राविका की बड़ी प्रसिद्धि थी। जयन्ती कौशाम्बी के स्वर्गीय राजा सहस्रानीक की पुत्री, शतानीक की बहन और उदयन की फूफी लगती थी। वह आर्हतधर्म की अनन्य उपासिका और धर्म की जानकार थी। वैशाली की तरफ से कौशाम्बी आनेवाले आर्हतश्रावक बहुधा इसीके यहाँ ठहरा करते थे। इस कारण वह 'वैशाली के आर्हतश्रावकों की प्रथम स्थानदात्री' के नाम से अधिक प्रसिद्ध थी।

भगवान् महावीर के आगमन से राजा-प्रजा सब आनन्दित हुए। कौशाम्बीपति राजा उदयन ने राज-परिवार, नौकर-चाकर और फौज-फांटे के साथ बड़े भारी जुलूस के रूप में चन्द्रावतरण चैत्य की तरफ प्रयाण किया। राजमाता मृगावती देवी, जयन्ती आदि कुलीन स्त्रियाँ भी अपने-अपने परिकर के साथ रथों में बैठ भगवान् के वन्दनार्थ जुलूस के साथ चलीं। सब ने समवसरण के समीप पहुँचकर सवारियों का त्याग किया और सभा में पहुँचे, वन्दन करने के उपरान्त धर्मश्रवण की इच्छा से सब योग्य स्थानों पर बैठ गये। भगवान् महावीर ने उस बृहत्सभा में देर तक धर्मोपदेश किया जिसे सुनकर सभाजन परम संतुष्ट हुए और पुनः भगवान् को वन्दन कर अपने-अपने घर लौटे।

जयन्ती के प्रश्नोत्तर

सभा विसर्जित हो जाने पर भी जयंती अपने परिवार के साथ वहीं ठहरी रहीं। अवसर पाकर धार्मिक चर्चा शुरू करते हुए जयन्ती ने पूछा—भगवन्! जीव भारीपन को कैसे प्राप्त होते हैं?

महावीर—जयन्ती! जीवहिंसा, असत्य वचन, चोरी, अब्रह्मचर्य, परिग्रह आदि अठारह पापस्थानकों के सेवन से जीव भारीपन को प्राप्त होते हैं और चारों गतियों में भटकते हैं।

जयन्ती—भगवन्! भवसिद्धिकता (मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता) जीवों को स्वभाव से ही प्राप्त होती है या अवस्था विशेष से?

महावीर—भवसिद्धिकता स्वभाव से ही होती है, अवस्था विशेष से नहीं। जो जीव भवसिद्धिक हैं वे अपने स्वभाव से ही वैसे

हैं तथा रहेंगे और जो भवसिद्धिक नहीं, वे किसी भी अवस्था में—किसी भी उपाय से, भवसिद्धिक नहीं हो सकते।

जयन्ती—भगवन्! क्या सब भवसिद्धिक मोक्षगामी हैं?

भगवान्—हाँ, जो भवसिद्धिक हैं वे सब मोक्षगामी हैं।

जयन्ती—भगवन्! यदि सब भवसिद्धिक जीवों की मुक्ति हो जायगी तब तो यह संसार कालान्तर में भवसिद्धिक जीवों से रहित ही हो जायगा।

महावीर—नहीं, जयन्ती! ऐसा नहीं हो सकता। जैसे सर्वाकाश-प्रदेशों की श्रेणि में से कल्पना से प्रतिसमय एक-एक प्रदेश कम करने पर भी आकाश-प्रदेशों का कभी अन्त नहीं होता, इसी प्रकार भव-सिद्धिक अनादिकाल से सिद्ध हो रहे हैं और अनन्तकाल तक होते रहेंगे। फिर भी वे अनन्तानन्त होने से समाप्त नहीं होंगे और संसार कभी भी भवसिद्धिक जीवों से रहित नहीं होगा।

जयन्ती—भगवन्! ऊँघना अच्छा है या जागना?

महावीर—कुछ जीवों का ऊँघना अच्छा है और कुछ का जागना।

जयन्ती—भगवन्! यह कैसे? दोनों बातें अच्छी कैसे हो सकती हैं?

महावीर—अधर्म के मार्ग पर चलनेवाले, अधर्म का आचरण करनेवाले और अधर्म से अपनी जीविका चलानेवाले जीवों का ऊँघना ही अच्छा है, क्योंकि ऐसे जीव जब ऊँघते हैं तब बहुत से जीवों की हिंसा करने से बचते हैं तथा बहुतेरे प्राणियों को त्रास पहुँचाने में असमर्थ होते हैं। वे सोते हुए अपने को तथा अन्य जीवों को दुःख नहीं पहुँचा सकते अतः ऐसे जीवों का सोना ही अच्छा है। और जो जीव धार्मिक, धर्मानुगामी, धर्मशील, धर्माचारी और धर्मपूर्वक जीविका चलानेवाले हैं उन जीवों का जागना अच्छा है। कारण, जागते हुए वे किसी को दुःख न देते हुए अपने को तथा अन्य जीवों को धर्म में लगाकर सुखी और निर्भय बनाते हैं, अतः ऐसे जीवों का जागना अच्छा है।

जयन्ती—भगवन्! जीवों की सबलता अच्छी या दुर्बलता?

महावीर—कुछ जीवों की सबलता अच्छी है और कुछ की दुर्बलता।

जयन्ती—भगवन्! यह कैसे?

महावीर—जयन्ती! जो जीव अधर्मी, अधर्मशील और अधर्म-

जीवी हैं उनकी दुर्बलता अच्छी है, क्योंकि ऐसे जीव दुर्बल होने से दूसरों को त्रास देने में और अपनी आत्मा को पापों से मलिन बनाने में विशेष समर्थ नहीं होते। जो जीव धर्मिष्ठ, धर्मशील, धर्मानुगामी और धर्ममय जीवन बितानेवाले हैं उनकी सबलता अच्छी है। कारण, ऐसे जीव सबल होने पर भी किसी को दुःख न देते हुए अपना तथा औरों का उद्धार करने में अपने बल का उपयोग करते है।

जयन्ती—भगवन्! सावधानता अच्छी या आलस्य?

महावीर—बहुत से जीवों की सावधानता अच्छी है और बहुतों का आलसीपन।

जयन्ती—भगवन्! दोनों बातें अच्छी कैसे?

महावीर—जो जीव अधर्मी, अधर्मशील और अधर्म से जीनेवाले हैं उनका आलसीपन ही अच्छा है, क्योंकि ऐसा होने से वे अधर्म का अधिक प्रचार न करेंगे। इसके विपरीत जो जीव धर्मी, धर्मानुगामी और धर्मसे ही जीवन बितानेवाले हैं उनकी सावधानता अच्छी है, क्योंकि ऐसे धर्मपरायण जीव सावधान होने से आचार्य, उपाध्याय, वृद्ध, तपस्वी, बीमार तथा बाल आदि का वैयावृत्त्य (सेवा-शुश्रूषा) करते हैं; कुल, गण, संघ तथा साधर्मिकों की सेवा में अपने को लगाते हैं और ऐसा करते हुए वे अपना तथा औरों का भला करते हैं।

जयन्ती—श्रवणेन्द्रिय के वश में पड़े हुए जीव क्या बाँधते हैं? (किस प्रकार के कर्म बांधते हैं?)

महावीर—जयन्ती! श्रवणेन्द्रिय के वशीभूत जीव आयुष्य को छोड़ शेष सातों ही कर्म-प्रकृतियाँ बाँधते हैं। पूर्वबद्ध शिथिलबन्धन को दृढ़-बन्धन और लघु-स्थितिकों को दीर्घस्थितिक कर देते हैं, इस प्रकार कर्मों की स्थिति को बढ़ाकर वे चतुर्गतिरूप संसार में भटका करते हैं।

जयन्ती ने इसी प्रकार चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत जीवों के संबंध में प्रश्न भी पूछे और भगवान् ने उन सब के सम्बन्ध में यही उत्तर दिया।

प्रश्नोत्तरों से जयन्ती को पूर्ण संतोष हुआ। उसने हाथ जोड़कर

कहा—भगवन् ! कृपया मुझे प्रव्रज्या देकर अपने भिक्षुणीसंघ में दाखिल कीजिये !

श्रमण भगवान् ने जयन्ती की प्रार्थना को स्वीकृत किया और उसे सर्वविरति सामायिक की प्रतिज्ञा एवं पंच महाव्रत प्रदान कर भिक्षुणी-संघ में दाखिल कर लिया।

वत्सभूमि से भगवान् ने उत्तरकोसल की तरफ विहार किया और अनेक गाँव-नगरों में निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश देते हुए श्रावस्ती पहुँचे। श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में आपका जो उपदेश हुआ, उसके फलस्वरूप अनेक गृहस्थ जैनसंघ में दाखिल हुए। अनगार सुमनोभद्र और सुप्रतिष्ठ आदि की दीक्षायें भी इसी अवसर पर हुई थीं।

कोसल प्रदेश से विहार करते हुए श्रमण भगवान् फिर विदेहभूमि में पधारे। यहाँ वाणिज्यग्राम-निवासी गाथापति आनन्द और उनकी स्त्री शिवानन्दा ने आपके समीप द्वादशव्रतात्मक गृहस्थधर्म स्वीकार किया।

इस साल का वर्षा चातुर्मास्य भगवान् ने वाणिज्यग्राम में व्यतीत किया।

१६-सोलहवाँ वर्ष (वि० पू० ४९७-४९६)

वाणिज्यग्राम से शीतकाल में विहार कर भगवान् ने फिर मगध-भूमि में प्रवेश किया। अनेक नगरों में ठहरते तथा उपदेश करते आप राजगृह के गुणशील चैत्य में पधारे। राजगृह के राजा, रानी तथा राजकुमार आदि राजपरिवार और इतर नागरिक-जन भगवान् के धर्मोपदेश का लाभ लेने के लिए वहाँ उपस्थित हुए।

काल-प्रश्न

इसी अवसर पर इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् से काल-विषयक एक प्रश्न पूछा—भगवन् ! एक मुहूर्त में कितने उच्छ्वास होते हैं ?

महावीर—गौतम ! असंख्यात 'समयों' का समुदाय एक 'आवलिका' कहलाता है। संख्यात आवलिकाओं का एक 'उच्छ्वास' और संख्यात आवलिकाओं का एक 'निःश्वास' होता है। सशक्त तथा

१ (भगवती श० ११, उ० ११, प० ५५५-५५८)

नीरोग मनुष्य के एक श्वासोच्छ्वास को 'प्राण' कहते हैं और इस प्रकार के सात प्राणों का एक 'स्तोक', सात स्तोकों का एक 'लव' और ७७ लवों का एक 'मुहूर्त' कहा है। इस प्रकार एक मुहूर्त में ३७७३ श्वासोच्छ्वास होते हैं।

तीस मुहूर्तों का एक 'अहोरात्र' (रात-दिन) होता है।

पंद्रह अहोरात्र = एक 'पक्ष'।

दो पक्ष = एक 'मास'।

दो मास = एक 'ऋतु'।

तीन ऋतु = एक 'अयन'।

दो अयन = एक 'संवत्सर' (वर्ष)।

पाँच संवत्सर = एक 'युग'।

बीस युग = सौ वर्ष।

दस सौ वर्ष = एक 'हजार'।

सौ हजार वर्ष = एक 'लाख'।

चौरासी लाख वर्ष = एक 'पूर्वांग'।

चौरासी लाख पूर्वांग = एक 'पूर्व'।

चौरासी लाख पूर्व = एक 'त्रुटितांग'।

चौरासी लाख त्रुटितांग = एक 'त्रुटित'।

चौरासी लाख त्रुटित = एक 'अडडांग'।

चौरासी लाख अडडांग = एक 'अडड'।

चौरासी लाख अडड = एक 'अववांग'।

चौरासी लाख अववांग = एक 'अवव'।

चौरासी लाख अवव = एक 'हूहूकांग'।

चौरासी लाख हूहूकांग = एक 'हूहूक'।

चौरासी लाख हूहूक = एक 'उत्पलांग'।

चौरासी लाख उत्पलांग = एक 'उत्पल'।

चौरासी लाख उत्पल = एक 'नलिनांग'।

चौरासी लाख नलिनांग = एक 'नलिन'।

चौरासी लाख नलिन = एक अछनिकुरांग।

चौरासी लाख अछनिकुरांग = एक अछनिकुर।

चौरासी लाख अछनिकुर = एक 'अयुतांग'।

चौरासी लाख अयुतांग = एक 'अयुत'।

चौरासी लाख अयुत = एक 'प्रयुतांग'।

चौरासी लाख प्रयुतांग = एक 'प्रयुत'।

चौरासी लाख प्रयुत = एक नयुतांग।

चौरासी लाख नयुतांग = एक 'नयुत'।

चौरासी लाख नयुत = एक 'चूलिकांग'।

चौरासी लाख चूलिकांग = एक 'चूलिका'।

चौरासी लाख चूलिका = एक शीर्ष प्रहेलिकांग।

चौरासी लाख शीर्ष प्रहेलिकांग = एक शीर्ष प्रहेलिका।

हे गौतम! इतना ही गणित का विषय है। इसके आगे का काल औपमिक है।

गौतम—भगवन्! 'औपमिक' काल किसे कहते हैं?

महावीर—'औपमिक' दो तरह का होता है? 'पल्योपम' और 'सागरोपम'।

गौतम—भगवन्! 'पल्योपम' और 'सागरोपम' का क्या स्वरूप है?

महावीर—गौतम! सुतीक्ष्ण शस्त्र से भी जिसका छेदन-भेदन न किया जा सके ऐसे 'परमाणु' को सिद्धपुरुष सब प्रमाणों का 'आदि प्रमाण' कहते हैं।

अनन्त परमाणुओं का समुदाय = एक उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका।

आठ उत्श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका = एक श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका।

आठ श्लक्ष्णश्लक्ष्णिका = एक ऊर्ध्वरेणु।

आठ ऊर्ध्वरेणु = एक त्रसरेणु।

आठ त्रसरेणु = एक रथरेणु।

आठ रथरेणु = एक वालाग्र।

आठ वालाग्र = एक लिक्षा।

आठ लिक्षा = एक यूका।

आठ यूका = एक यवमध्य।

आठ यवमध्य = एक अँगुल।

छः अँगुल = एक पाद।

बारह अँगुल = एक वितस्ति (बीत्ता)।

चौबीस अँगुल = एक रत्नी (हाथ)।

अड़तालीस अँगुल = एक कुक्षि।

छियानवे अँगुल = एक दण्ड। धनु। यूप। नालिका। अक्ष। अथवा मूसल।

दो हजार धनु = एक गव्यूत (कोस)

चार कोस = एक योजन।

उक्त योजन प्रमाण लंबा-चौड़ा और गहरा गोल प्याले के आकार का एक पल्य (गड्ढा) इस प्रकार ठूँस ठूँस कर बालाग्रों से भरा जाय कि उसमें अग्नि, जल तथा वायु तक भी प्रवेश न कर सके। उस पल्य में से एक सौ वर्ष में एक बालाग्र निकाला जाय और इस प्रकार सौ-सौ वर्ष में एक-एक बालाग्र को निकालने पर जितने काल में वह 'पल्य' खाली हो उतने काल को एक 'पल्योपम' काल कहते हैं।

ऐसे दस कोटाकोटि[1] पल्योपमों का एक सागरोपम होता है।

चार कोटाकोटि सागरोपम का सुषमसुषमा नामक पहला 'अरक'।

तीन कोटाकोटि सागरोपम का सुषमा नामक दूसरा 'अरक'।

दो कोटाकोटि सागरोपम का सुषम दुःषमा नामक तीसरा 'अरक'।

बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम का दुःषम-सुषमा नामक चौथा 'अरक'।

इक्कीस हजार वर्ष का दुःषमा नामक पाँचवाँ 'अरक'।

इक्कीस हजार वर्ष का दुःषमदुःषमा नामक छट्ठा 'अरक'। इन छः आरों के समुदाय को अवसर्पिणी कहते हैं।

फिर इक्कीस हजार वर्ष का दुःषमदुःषमा।

इक्कीस हजार वर्ष का दुःषमा।

---

१ एक करोड़ को एक करोड़ से गुनने से एक कोटाकोटी संख्या होती है और कोटाकोटि का दसगुना दस कोटाकोटि।

बयालीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटि सागरोपम का दुःषम-सुषमा।

दो कोटाकोटि सागरोपम का सुषमदुःषमा।

तीन कोटाकोटि सागरोपम का सुषमा और चार कोटाकोटि सागरोपम का सुषमसुषमा।

इक्कम से दस कोटाकोटि सागरोपम प्रमाण छः आरों के समुदाय को उत्सर्पिणी काल कहते हैं।

दस कोटाकोटि प्रमाण अवसर्पिणी और दस कोटाकोटि प्रमाण उत्सर्पिणी मिलकर बीस कोटाकोटि सागरोपम काल होता है[1]।

भगवान् के आगमन से राजगृह निवासियों में निर्ग्रन्थ धर्म का काफी प्रचार हुआ। राजगृह के प्रसिद्ध धनपति शालिभद्र और धन्य आदि ने दीक्षायें ग्रहण कीं और अनेक व्यक्तियों ने गृहस्थ धर्म अंगीकार किया।

इस वर्ष का वर्षा चातुर्मास्य भगवान् ने राजगृह में ही बिताया। और वर्षाकाल व्यतीत होते ही चम्पा की ओर विहार कर दिया।

चम्पा में दत्त नाम के राजा थे और रक्तवती नाम की रानी।

१७–सत्रहवाँ वर्ष
(वि० पू० ४९६–४९५)

इनके महचन्द्रकुमार नामक एक पुत्र था जिसने भगवान् के उपदेश को सुनकर इस असार संसार से विरक्त हो श्रमणधर्म को ग्रहण किया।

उस समय सिन्धु-सौवीरादि अनेक देशों का स्वामी राजा उदायन सिन्धु की राजधानी वीतभयपत्तन में राज्यशासन कर रहा था।

उदायन जैन श्रमणोपासक था। वह पर्व दिन का पौषध ग्रहण कर अपनी पौषधशाला में धर्म जागरण कर रहा था। आत्मचिन्तन करते हुए उसने सोचा—'धन्य हैं वे ग्राम-नगर जहाँ श्रमण भगवान् विचरते हैं। भाग्यशाली हैं वे राजा और सेठ साहूकार जो इनका वन्दन-पूजन करते हैं। यदि भगवान् मेरे पर अनुग्रह कर वीतभय के मृगवन उद्यान में पधारें तो मैं भी उनका वन्दन-पूजन और सेवा करके भाग्यशाली बनूँ।"

चम्पा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में विराजमान भगवान् महावीर ने

---

1 भ० श० ६ उ० ७ पृ० २७४।

उदायन के इस मनोभाव को जाना और उसे प्रतिबोध देने के लिये चम्पा से वीतभय नगर की ओर विहार किया। चम्पा से वीतभय की दूरी हजार मील से कम न होगी। इतनी लम्बी यात्रा करके भगवान् वीतभय नगर पहुँचे और राजा उदायन को श्रमण-धर्म में दीक्षित कर वापस अपने चातुर्मास्य के केन्द्र की ओर विहार कर दिया।

मरुभूमि की लम्बी यात्रा, गर्मी का मौसम और निर्ग्रन्थों की कठिन चर्या, इन सब कारणों से भगवान् के कई शिष्यों को इस विहार में प्राणों पर खेलना पड़ा। सिनपल्ली की रेतीली मरुभूमि में कोसों तक वस्ती का नाम तक न था। भगवान् उस बीहड़ मार्ग से चलते हुए पूर्व देश में जा रहे थे। आपके बहुत से शिष्य जो अमीर और चलने के कम अभ्यासी थे भूख और प्यास से कष्ट पा रहे थे। उस समय मार्ग में आपको तिलों की गाड़ियाँ मिलीं। महावीर तथा उनके शिष्य-परिवार को देखकर तिलवालों ने कहा—भट्टारक! लीजिये, इन तिलों से अपनी क्षुधा शान्त कीजिये।

यद्यपि तिल अचित्त थे और उनके मालिक दे भी रहे थे, तो भी भगवान् ने अपने शिष्यों को तिल स्वीकार करने की आज्ञा नहीं दी। क्योंकि तिलों के अचित्त होने की बात वे स्वयं तो जानते थे पर छद्मस्थ श्रमण उनको अचित्त कैसे समझते? यदि आज अचित्त जानकर साधुओं को उनके लेने की आज्ञा दी जाय तो आगे जाकर इसी दृष्टान्त को सामने रखकर सचित्त तिल लेने की भी प्रवृत्ति न चल पड़े, इस कारण भगवान् ने उनके लेने की आज्ञा नहीं दी।

इसी विहार में जब साधु प्यास से आकुल हो रहे थे, मार्ग में एक अचित्त पानी का ह्रद आया। भगवान् जानते थे कि यह जल अचित्त है, साधु इसे काम में ले सकते हैं। परन्तु सभी ह्रदों का पानी अचित्त नहीं होता। अगर आज इस ह्रद के पानी का साधुओं को उपयोग करने दिया जाय तो भविष्य में अन्य सचित्त जलह्रदों के पानी का उपयोग करने की प्रवृत्ति भी चल पड़ेगी, इस विचार से भगवान् महावीर ने ह्रद का पानी पीने की आज्ञा नहीं दी[1]।

[1] भगवती श० १३ उ० ६ पृ० ६१८—६२० । कल्पचूर्णि पृ० ६४—६५ ।

वीतभयपत्तन से विचरते हुए भगवान् विदेह देश स्थित वाणिज्य-ग्राम पहुँचे और वर्षा चातुर्मास्य वहीं विताया। वणिज्य ग्राम का चातुर्मास्य पूरा कर भगवान् महावीर ने वनारस की तरफ विहार कर दिया और अनेक स्थानों में निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचार करते हुए वे वनारस पहुँचे। वनारस के तत्कालीन राजा जितशत्रु ने भगवान् का बहुत सत्कार किया। यहाँ के ईशानदिशाभागस्थित कोष्ठक चैत्य में ठहर कर भगवान् ने लोगों को आर्हत प्रवचन का उपदेश दिया। फलस्वरूप यहाँ के अनेक गृहस्थों ने श्रावकधर्म अंगीकार किया, जिनमें चुलनीपिता और उसकी स्त्री श्यामा तथा सुरादेव और उसकी स्त्री धन्या के नाम अग्रगण्य हैं। ये दोनों ही करोड़पति गृहस्थ भगवान् के धर्मशासन के स्तम्भ समान थे।

१८—अठारहवाँ वर्ष
(वि० पू० ४९५-४९४)

वनारस से राजगृह जाते हुए भगवान् बीच में आलभिया के शंख-वन-उद्यान में कुछ समय तक ठहरे। आलभिया काशी देश की एक बड़ी नगरी थी जो वनारस-राजगृह के मार्ग में पड़ती थी।

शंखवन के पास पोग्गल नामक एक परिव्राजक रहता था। वह ऋग्वेदादि वैदिक धर्मशास्त्रों का ज्ञाता और प्रसिद्ध तपस्वी था। निरन्तर षष्ठ-तप के साथ सूर्य के सन्मुख ऊर्ध्वबाहु खड़ा होकर आतापना किया करता था। इस कठिन तप, तीव्र आतापना और स्वभाव की भद्रता के कारण पोग्गल को विभंगज्ञान प्राप्त हुआ, जिससे वह ब्रह्मदेवलोक तक के देवों की गति-स्थिति को प्रत्यक्ष देखने लगा।

पोग्गल परिव्राजक की प्रव्रज्या

इस प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति से पोग्गल सोचने लगा—मुझे विशिष्ट आत्मज्ञान प्राप्त हुआ है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान से मैं देख रहा हूँ कि देवों का कम-से-कम दस हजार वर्ष का आयुष्य होता है और अधिक-से-अधिक दस सागरोपम का। इसके आगे न देव हैं न देवलोक। पोग्गल तपोभूमि से आश्रम की ओर चला और त्रिदण्ड, कुण्डिका तथा धातुरक्त वस्त्र लेकर आलभिया के परिव्राजकाश्रम में पहुँचा। त्रिदण्ड, कुंडिकादि वहाँ रखकर आलभिया के चौक बाजारों में

अपने ज्ञान का प्रचार करने लगा। बाजारों में पोग्गल के सिद्धान्त की चर्चा हो रही थी। कुछ लोग उसके ज्ञान की प्रशंसा करते थे और कुछ उसमें शंकाएँ उठाते थे।

इसी अवसर पर भगवान् महावीर आलभिया के शंखवन में पधारे। तपस्वी इन्द्रभूति भगवान् की आज्ञा ले भिक्षा के लिये नगर में गये और पोग्गल के सिद्धान्तविषयक जनप्रवाद को सुना। भिक्षाचर्य्या कर गौतम वापस आये और नगर में सुनी पोग्गल के सिद्धान्त की चर्चा भगवान् के आगे व्यक्त करते हुए बोले—भगवन्! आजकल आलभिया में पोग्गल परिव्राजक के ज्ञान और सिद्धान्त की चर्चा हो रही है। पोग्गल कहता है 'ब्रह्मलोक तक ही देव और देवलोक हैं, दस हजार से दस सागरोपम तक ही देवों का आयुष्य है।' भगवन्! पोग्गल की इस मान्यता के संबंध में आपका अभिप्राय क्या है?

गौतम को उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—पोग्गल का कथन ठीक नहीं है। देवों की आयुष्यस्थिति कम-से-कम दस हजार वर्ष की और अधिक-से-अधिक तेंतीस सागरोपम की है। उसके उपरान्त देव और देवलोकों का अभाव है।

महावीर का यह स्पष्टीकरण सभी उपस्थित जनों ने सुना। सभा विसर्जित हुई और भगवान् के वचनों की प्रशंसा करते हुए नागरिक अपने-अपने स्थानों को चले गये।

भगवान् महावीर का कथन पोग्गल के कानों तक पहुँचा। वह अपने ज्ञान के विषय में शंकित हो उठा। महावीर सर्वज्ञ हैं, तीर्थंकर हैं, महातपस्वी हैं, यह तो पोग्गल पहले ही सुन चुका था। अब उसे अपने ज्ञान पर विश्वास नहीं रहा, वह ज्यों-ज्यों ऊहापोह करता था त्यों-त्यों उसका विभङ्ग ज्ञान लुप्त होता जाता था। थोड़े ही समय में उसे ज्ञात हो गया कि उसका यह ज्ञान भ्रान्तिपूर्ण था। अब उसने भगवान् महावीर की शरण में जाने के लिए शंखवन की ओर प्रस्थान किया। समवसरण में पहुँचकर विधिपूर्वक वन्दन नमस्कार कर वह उचित स्थान पर बैठ गया।

भगवान् महावीर का धर्मोपदेश सुनकर पोग्गल निर्ग्रन्थ प्रवचन का

श्रद्धालु हो गया तथा भगवान् के पास श्रमणधर्म स्वीकार कर उनके संघ में मिल गया तथा श्रामण्य लेकर स्थविरों के पास निर्ग्रन्थ प्रवचन की एकादशाङ्गी का अभ्यास किया तथा विविध तपों द्वारा कर्ममुक्त हो निर्वाण प्राप्त किया[1]।

इसी समय आलभिया निवासी करोड़पति गृहस्थ चुल्लशतक तथा उसकी स्त्री बहुला और दूसरे अनेक नरनारियों ने भगवान् महावीर के पास श्राद्धधर्म स्वीकार किया। आलभिया से भगवान् राजगृह पधारे और मंकाती, किंक्रम, अर्जुन, और काश्यप आदि को दीक्षा दे उन्हें श्रमणसंघ में सम्मिलित किया।

भगवान् का यह चातुर्मास्य राजगृह में हुआ।

चातुर्मास्य के बाद भी भगवान् राजगृह में ही धर्मप्रचारार्थ ठहरे। इस सतत प्रचार का आशातीत फल हुआ। राजा श्रेणिक को, जो स्वयं

१९–उन्नीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४९४–४९३)

वृद्ध थे, भगवान् के धर्मशासन पर इतनी श्रद्धा और रुचि उत्पन्न हुई कि उन्होंने राजगृह में यह उद्घोषणा करवा दी कि 'जो कोई भगवान् महावीर से दीक्षा लेना चाहे वह खुशी से ऐसा कर सकता है। यदि उसके पीछे कोई पालन-पोषण करने योग्य कुटुम्ब-परिवार होगा तो उसके पालन-पोषण की चिन्ता स्वयं राजा करेगा'।

श्रेणिक की उपर्युक्त घोषणा का बड़ा सुन्दर प्रभाव पड़ा। अन्यान्य नागरिकों के अतिरिक्त जालि कुमार, मयालि, उवयालि, पुरुषसेन, वारिषेण, दीर्घदन्त, लष्टदन्त, वेहल्ल, वेहास, अभय, दीर्घसेन, महासेन, लष्टदंत, गूढ़दन्त, शुद्धदन्त, हल्ल, द्रुम, द्रुमसेन, महाद्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंहसेन, पूर्णसेन इन श्रेणिक के तेईस पुत्रों और नन्दा, नन्दमती, नन्दोत्तरा, नन्दसेणिया, मरुया, सुमरुता, महामरुता, मरुदेवा, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमना और भूतदत्ता नामक श्रेणिक की तेरह रानियों ने प्रव्रजित होकर भगवान् महावीर के श्रमणसंघ में प्रवेश किया।

---

1 भ० श० ११ उ० १२ प० ५५१–५५२।

उस समय भगवान् के शिष्य आर्द्रक मुनि भगवान् को वन्दन करने के लिए गुणशील में जा रहे थे। रास्ते में उन्हें गोशालक मिला। आर्द्रक को वहीं मार्ग में रोककर वह बोला—आर्द्र! जरा सुन, तुझे एक पुराना इतिहास सुनाता हूँ।

आर्द्रक-गोशालक संवाद

आर्द्र—कहिये।

गोशालक—तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण महावीर पहले एकान्तविहारी थे, और अब ये साधुओं की मंडलियों को इकट्ठा करके उनके आगे व्याख्यानों की झड़ियाँ लगाते हैं।

आर्द्र—हाँ, जानता हूँ। पर आप कहना क्या चाहते हैं?

गोशालक—मेरा तात्पर्य यह है तुम्हारा धर्माचार्य अस्थिर-चित्त है। पहले वे एकान्त में रहते, एकान्त में विचरते और सभी तरह की खटपटों से दूर रहते थे। अब वे साधुओं की मण्डली में बैठकर मनोरंजक उपदेश देते हैं। क्या इस प्रकार लोकरञ्जन करके वे अपनी आजीविका नहीं चला रहे हैं? इस प्रकार की प्रवृत्ति से इनके पूर्वापर जीवन में विरोध खड़ा होता है, इसका भी इन्हें ख्याल नहीं। यदि एकान्त विहार में श्रमणधर्म था तो अब वे श्रमणधर्म से विमुख हैं और यदि इनका वर्तमान जीवन ही यथार्थ माना जाय तो पहला जीवन निरर्थक था, यह सिद्ध होगा। भद्र! तुम्हारे गुरु की पूर्वापर विरुद्ध जीवनचर्या किसी भी तरह निर्दोष नहीं कही जा सकती। जहाँ तक मैं समझता हूँ, महावीर का वह जीवन ही यथार्थ था जब कि मैं उनके साथ था और वे निस्संगभाव से एकान्तवास का आश्रय लिए हुए थे। अब वे एकान्त विहार से ऊबकर सभा में बैठते हैं और उपदेशक के बहाने लोगों को इकट्ठा करके अपनी आजीविका चलाते हैं। इन बातों से स्पष्ट है कि इनका मानस बिलकुल अव्यवस्थित है।

आर्द्र—महानुभाव! आपका यह कथन केवल ईर्ष्याजन्य है। वस्तुतः आपने भगवान् के जीवन का रहस्य ही नहीं समझा। इसी लिए तो आपको उनके जीवन में विरोध दिखाई देता है। यह न समझने का ही परिणाम है। पहले एकान्त-विहारी और अब साधु मण्डल के बीच उपदेश

करता, इसमें विरोध की बात ही क्या है ? जब तक वे छद्मस्थ थे तब तक एकान्तविहारी ही नहीं वरंच प्रायः मौनी भी थे, और यह वर्त्तन तपस्वी जीवन के अनुरूप भी था। अब वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं, उनके रागद्वेप के बन्धन समूल नष्ट हो चुके हैं, अब उनके हृदय में आत्म-साधना के स्थान जगत् के कल्याण की भावना है। प्राणिमात्र के कल्याण का आकांक्षी पुरुप हजारों के बीच में बैठकर उपदेश करता हुआ भी एकान्तसेवी है। वीतराग के लिये एकान्त और लोकाकुल प्रदेश में कुछ भी भेद नहीं। निर्लेप आत्मा को सभा या समूह लिप्त नहीं कर सकते और धर्मोपदेश प्रवृत्ति तो महापुरुषों का आवश्यक कर्तव्य है। जो क्षमाशील तथा जितेन्द्रिय है, जिसका मन समाधि में है, वह दोप-रहित भाषा में धर्मदेशना करे उसमें कुछ भी दोप नहीं। जो पाँच महाव्रतों का उपदेश करता है, जो पाँच अणुव्रतों की उपयोगिता समझाता है, जो पाँच आश्रव पाँच संवर को हेय उपादेय बतलाता है और जो अकर्तव्य कर्म से निवृत्त होने का उपदेश करता है वही बुद्धि-मान् है, वही कर्ममुक्त होनेवाला सच्चा श्रमण है।

गोशालक—यदि ऐसा है तो सचित्त जल के पान, सचित्त बीज तथा आधाकर्मिक आहार के भोजन और स्त्रीसंग में भी दोप नहीं हो सकता। हमारे धर्म में तो यही कहा है कि एकान्त-विहारी तपस्वी के पास पाप फटकता तक नहीं।

आर्द्र—सचित्त जलके पान, बीज तथा आधाकर्मिक आहार के भोजन और स्त्रीसंग आदि को जो जानबूझ कर करता है, वह साधु नहीं हो सकता। सचित्त-जलपायी, बीजभोजी और स्त्रीसेवी भी यदि श्रमण कहलायेंगे तब गृहस्थ किसे कहा जायगा ? गोशालक ! सचित्त-जलपायी और सजीव-बीजभोजी उदरार्थी भिक्षुओंका भिक्षा-वृत्ति अनुचित है। ज्ञातिसंग को न छोड़ने वाले वे रंक भिक्षु कभी शुद्ध नहीं होंगे।

गोशालक—अरे आर्द्रक ! इस कथन से तो तू सभी अन्य तीर्थिकों की निन्दा कर रहा है और बीज-फल-भोजी तपस्वी महात्माओं को रोगी और उदरार्थी भिक्षु कहता है ?

आर्द्र—मैं किसी की निन्दा नहीं करता किंतु अपने दर्शन (मत) का वर्णन करता हूँ। सब दर्शन वाले अपने मतों का प्रतिपादन करते हैं और प्रसंग आने पर एक दूसरे की निन्दा भी करते हैं। मैं तो केवल अपने मतका प्रतिपादन और पाषण्ड का खंडन करता हूँ। जो सत्य धर्म है उसका खंडन कभी नहीं होता और जो पाषण्ड है उसका खण्डन करना बुरा नहीं। फिर भी मैं किसी को लक्ष्य करके नहीं कह रहा हूँ।

गोशालक—आर्द्रक! तुम्हारे धर्माचार्य की भीरुताविषयक एक एक दूसरी बात कहता हूँ, इसे भी सुन। पहले ये मुसाफरखानों और उद्यानघरों में ठहरते थे पर अब वैसा नहीं करते। ये जानते हैं कि उन स्थानों में अनेक बुद्धिमान् चतुर भिक्षु एकत्र होते हैं, कहीं ऐसा न हो कि कोई शिक्षित भिक्षु कुछ प्रश्न पूछ बैठे और उसका उत्तर न दिया जा सके। इस भयसे इन्होंने उक्त स्थानों में आना आजकल छोड़ दिया है।

आर्द्र—मेरे धर्माचार्य के प्रभावसे तुम बिल्कुल अनभिज्ञ मालूम होते हो। महावीर सचमुच महावीर है। इनमें न बाल चापल्य है और न काम चापल्य। ये सम्पूर्ण और स्वतंत्र पुरुष हैं। जहाँ राजाज्ञा की भी परवा नहीं वहाँ भिक्षुओं से डरने की बात करना केवल हास्यजनक है। मंखलि श्रमण! महावीर आज मुसाफर खानों में रहनेवाला साधारण भिक्षु नहीं, वे जगदुद्धारक धर्म तीर्थंकर हैं। एकान्तवास में रहकर इन्होंने पहले बहुत तपस्याएँ की हैं और घोर तपस्याओं द्वारा पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करके अब ये लोक-कल्याण की भावना से ऐसे स्थानों में विचरते हैं जहाँ परोपकार का होना सम्भव हो। इसमें किसीके भय अथवा आग्रह को कुछ स्थान नहीं। कहाँ जाना और कहाँ नहीं, किससे बोलना और किससे नहीं और किससे प्रश्नोत्तर करना और किससे नहीं ये सब बातें इनकी इच्छा पर ही निर्भर रहती हैं। मुसाफिरखानों में ये नहीं जाते, इसका भी कारण है। वहाँ बहुधा अनार्य स्वभाव के मताग्रही लोग मिलते हैं, जिनमें तत्त्वजिज्ञासा का नितान्त अभाव और कदाग्रह तथा उद्दण्डता आदि की प्रचुरता होती है।

गोशालक—तब तो श्रमण ज्ञातपुत्र, अपने स्वार्थ के लिये ही प्रवृत्ति करनेवाले लाभार्थी वणिक् के समान हुए न ?

आर्द्र—भगवान् को सर्वांश में लाभार्थी वणिक की उपमा नहीं दी जा सकती। लाभार्थी वणिक् प्राणियों की हिंसा करते हैं, परिग्रह पर ममता करते हैं, ज्ञातिसंग को न छोड़कर स्वार्थ के वश नये-नये प्रपंच रचते हैं। धन के लोभी और विषय भोगों में आसक्त वे आजीविकार्थ इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं, ऐसे कामी और विषयगृद्ध वणिकों की उपमा भगवान् को नहीं दी जा सकती। आरंभ और परिग्रहमग्न वणिकों की प्रवृत्ति को तुम लाभकारी प्रवृत्ति कहते हो, यह भूल है। वह प्रवृत्ति उनके लाभ के लिये नहीं, वरंच दुःख के लिये है। जिस प्रवृत्ति का संसार भ्रमण ही फल है उसको लाभदायक कैसे कह सकते हैं ?

आर्द्रक के उत्तर से निरुत्तर होकर गोशालक ने अपना रास्ता पकड़ा और मुनि आगे चले। इतने में शाक्यपुत्रीय भिक्षुओं ने उन्हें रोका

आर्द्रक मुनि का शाक्यपुत्रीय भिक्षुओं के साथ संवाद

और कहा—आर्द्र! वणिक के दृष्टान्त द्वारा बाह्य प्रवृत्ति का खण्डन करके तुमने बहुत अच्छा किया। हमारा भी ऐसा ही सिद्धान्त है। बाह्य प्रवृत्ति बन्ध-मोक्ष का प्रधान कारण नहीं प्रत्युत् अन्तरङ्ग व्यापार ही इसके प्रधान अङ्ग हैं। हमारा तो यहाँ तक मन्तव्य है कि यदि कोई व्यक्ति खलपिण्डी को पुरुष अथवा तूँबे को बालक समझता हुआ सूल से बींध कर पकाता है तो वह प्राणिवध के पाप से लिप्त होता है, और यदि कोई पुरुष को खलपिण्डी और बालक को तूँबा समझ कर सूल से बींध कर पकाता है तो भी वह प्राणिवध के पाप से लिप्त नहीं होता। इस प्रकार खलपिण्डी समझ कर पुरुषको अथवा तूँबा समझ कर बच्चे को सूल से बींध कर पकाया हो तो उस मांस का बुद्ध भी भोजन कर सकते हैं। हमारे शास्त्रानुसार नित्य दो हजार बोधिसत्त्व भिक्षुओं को भोजन कराने वाले मनुष्य, महान् पुण्य स्कन्धों का उपार्जन कर महा सत्त्ववन्त 'आरोप्य देव' होते हैं।

आर्द्र—संयतों के लिये यह अयोग्य है कि वे इस प्रकार हिंसाजन्य कार्य को निर्दोष कहें। जो ऐसे कामों का उपदेश देते हैं और जो

उसे सुनते हैं, वे दोनों अनुचित काम करते हैं। जिसे पुरुष और खल-पिण्डी के भेद का भी ज्ञान नहीं वह पुरुष अवश्य मिथ्यादृष्टि एवं अनार्य होगा, अन्यथा यह संभव नहीं कि खलपिण्डी को पुरुष अथवा पुरुष को खलपिण्डी मान लिया जाय। भिक्षुओं को ऐसा स्थूल असत्य कभी नहीं बोलना चाहिये, जिससे कर्मबन्ध हो। महाशय! इस सिद्धान्त से तो आप तत्त्वज्ञान नहीं पा सकते, जीवों के शुभाशुभ कर्मविपाक को नहीं सोच सकते, लोक को करामलकवत् प्रत्यक्ष नहीं कर सकते और पूर्व पश्चिम समुद्र तक अपना यश भी नहीं फैला सकते। भिक्षुगण! जो श्रमण जीवों के कर्म विपाक की चिन्ता करते हुए आहार विधि के दोषों को टालते हैं और निष्कपट वचन बोलते हैं वे ही संयत हैं और यही संयतों का धर्म है।

जिनके हाथ लहू से रंगे हुए हैं, ऐसे असंयत मनुष्य दो सहस्र बोधिसत्त्व भिक्षुओं को नित्य भोजन कराते हुए भी यहाँ निन्दापात्र बनते हैं और परलोक में दुर्गति के अधिकारी। जो यह कहते हैं कि बड़े बकरे को मार और मिर्च पीपर डालकर तैयार किये हुए मांस के भोजन के लिये कोई निमन्त्रण दे तो हम उस मांस को खा सकते हैं, उसमें हमें कोई पाप नहीं लगता, वे अनार्यधर्मी और रसलोलुप हैं। ऐसा भोजन करनेवाले पाप को न जानते हुए भी पाप का आचरण करते हैं। जो कुशल पुरुष हैं वे मन से भी ऐसे आहार की इच्छा नहीं करते और न ऐसे मिथ्या वचन बोलते हैं।

ज्ञातपुत्रीय ऋषि सब जीवों की दया की खातिर पाप दोष को वर्जते हुए दोष की शंका से भी उद्दिष्ट भक्त को ग्रहण नहीं करते, क्योंकि उन्होंने सब प्रकार की जीव हिंसा का त्याग किया है अतः जिसमें प्राणि हिंसा की शंका भी हो उस भोजन को वे ग्रहण नहीं करते। संसार में संयतों का यही धर्म है। इस आहारशुद्धिरूप समाधि और शील गुण को प्राप्त कर जो वैराग्यभाव से निर्ग्रन्थ धर्म में विचरते हैं वही तत्त्वज्ञानी मुनि इस लोक में कीर्ति प्राप्त करते हैं।

शाक्य भिक्षुओं को निरुत्तर हुआ देख कर ब्राह्मण आगे बढ़े और अपनी जातीय श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए बोले—'जो दो हजार

स्नातक ब्राह्मणों को नित्य भोजन कराते हैं वे महान् पुण्यस्कन्ध का उपार्जन करके देवगति को प्राप्त होते हैं, ऐसा वेदशास्त्र का वचन है।'

आर्द्रक ने कहा—घर-गृहस्थी में आसक्त दो हजार स्नातकों को भोजन करानेवालों के लिये नरक गति तैयार है। दया-धर्म के निन्दक और हिंसा-धर्म के प्रशंसक तथा दुःशील मनुष्य को जो भोजन कराता है, वह चाहे राजा भी क्यों न हो, अन्धकारपूर्ण गति को ही प्राप्त होगा।

आर्द्रक के कठोर और स्पष्ट उत्तर से ब्राह्मणों को उदासीन हुआ देख सांख्यमतानुयायी संन्यासी बोले—तुम और हम सभी धर्माराधक हैं। तुम्हारे और हमारे धर्म में अधिक अन्तर भी नहीं। दोनों मतों में आचार, शील और ज्ञान को ही मोक्ष का अंग माना है। संसार विषयक मान्यता में भी अपने शास्त्रों में अधिक भेद नहीं। सांख्य दर्शन के अनुसार 'पुरुष' अव्यक्त, महान् और सनातन है। न उसका क्षय होता है और न ह्रास। तारागण में चन्द्र की भान्ति सब भूतगण में वह आत्मा एक ही है।

अनगार आर्द्रक ने कहा—तुम्हारे सिद्धान्तानुसार न कोई मरेगा, न संसार प्रधान भ्रमण ही करेगा। एक ही आत्मा मान लेने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि का व्यवहार भी नहीं रहेगा और न कोई कीट पतंग, पक्षी, साँप कहलायेगा, न नर देव और देवलोक ही। जो लोकस्थिति को न जानकर धर्म का उपदेश करते हैं वे स्वयं नष्ट होकर दूसरों का नाश करते हैं और इस अनादि अनन्त संसार में भ्रमण करते हैं। केवलज्ञान से लोक को जानते हुए जो समाधिपूर्वक धर्म और सम्यक्त्व का कथन करते हैं वे ही अपनी आत्मा को तथा अन्य जीवों को संसार-सागर से पार करते हैं।

आयुष्मानों! यह भी तुम्हारा बुद्धिविपर्यासमात्र है जो चारित्रहीनों और चारित्रसंपन्नों की समानता का प्रतिपादन करते हो।

इस प्रकार एकदण्डियों को परास्त करके आर्द्रक मुनि आगे जाने लगे, इतने में हस्तितापस आकर खड़े हुए और बोले—'हम वर्षभर में सिर्फ एक ही बड़े हाथी को बाण से मारते हैं तथा उसके मांस से वर्षभर जीवन चलाते हैं। इससे अन्य अनेक जीवों की रक्षा हो जाती है'।

आर्द्रक ने कहा—वर्षभर में एक प्राणी की हिंसा करनेवाले भी साधु अहिंसक नहीं हो सकते, क्योंकि प्राणिवध से सर्वथा नहीं हटे हैं। इस पर भी यदि उन्हें दयापालक माना जाय तब तो गृहस्थों को भी अहिंसक मानना पड़ेगा, क्योंकि वे भी अपने कार्यक्षेत्र के बाहर के जीवों की हिंसा नहीं करते। श्रमण कहलाते हुए जो वर्ष में एक भी जीव की हिंसा करते हैं, या उसका समर्थन करते हैं वे अनार्य अपना हित नहीं कर सकते और न वे केवलज्ञान ही पा सकते हैं।

जो धर्मसमाधि में स्थिर रहते हैं और मन, वचन, कांय से प्राणियों की प्राण रक्षा करते हैं वे ही संसार प्रवाह को तैर कर धर्म का उपदेश करे।

हस्तितापसों को निरुत्तर कर स्वप्रतिबोधित पाँच सौ चोर, वाद में जीते और प्रतिबोध पाये हुए हस्तितापसादि वादी और इतर परिवार के साथ आर्द्रक मुनि आगे बढ़ रहे थे कि एक वनहाथी, जो नया ही पकड़ा हुआ था, बन्धन तोड़ कर उनकी तरफ झपटा। उसे देख कर लोगों ने बड़ा हो-हल्ला मचाया कि हाथी मुनि को मारे डालता है। पर आश्चर्य के साथ उन्होंने देखा कि विनीत शिष्य की तरह हाथी मुनि के चरणों में सिर झुका कर प्रणाम कर रहा है, और क्षणभर के बाद वह वन की ओर भाग रहा है।

उक्त घटना सुनकर राजा श्रेणिक आर्द्रकुमार मुनि के पास आये और हाथी के बन्धन तोड़ने का कारण पूछा। उत्तर में मुनि ने कहा—राजन्! मनुष्यकृत पाश तोड़ कर मत्त हाथी का वन में जाना ऐसा दुष्कर नहीं जैसा कच्चे सूत का धागा तोड़ना।

इसके बाद आर्द्र मुनि भगवान् महावीर के पास गये और भक्तिपूर्वक वन्दन किया। भगवान् ने उनसे प्रतिबोधित राजपुत्रों और तापसादिको प्रव्रज्या देकर उन्हीं के सपुर्द किया[1]।

इस वर्ष भी भगवान् ने वर्षावास राजगृह में किया। वर्षाकाल पूरा होने पर भगवान् ने राज गृह से कौशांबी की तरफ विहार किया।

२० वीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४९३-४९२)

१ सूत्रकृतांग श्रुतस्कन्ध २, अध्याय ६, प० ३८७-४०५।

राजगृह और कौशांबी के बीच काशिराष्ट्र की प्रसिद्ध नगरी आलभिया पड़ती थी। भगवान् कुछ समय तक आलभिया में ठहरे। यहाँ ऋपिभद्र प्रमुख बहुत से धनाढ्य श्रमणोपासक रहते थे। एक समय श्रमणोपासकों की उस मंडली में देवोंकी आयुष्यस्थिति के संबन्ध में प्रश्न उठा—देवलोकों में देवों की आयुष्यस्थिति कितने काल की है ?

मंडली के एक सभ्य ऋपिभद्र ने कहा—आर्यो ! देवलोकों में देवों की आयुष्यस्थिति कम-से-कम १० हजार वर्ष की और ज्यादा-से-ज्यादा ३३ सागरोपम की कही है, इसके बाद न देव हैं न देवलोक।

ऋपिभद्र के उक्त उत्तर से श्रमणोपासकों के मनका समाधान नहीं हुआ, वे अपने अपने स्थान को चले गये।

उस समय कौशांबी जाते हुए भगवान् महावीर आलभिया के शंखवन उद्यान में पधारे। भगवदागमन के समाचार पवनवेग से नगर में पहुँचे और दर्शन वन्दन के इच्छुक नागरिकों का समूह शंखवन की तरफ उमड़ पड़ा। आलभिया-निवासी ऋपिभद्रपुत्र प्रमुख श्रमणोपासक भी बड़ी सजधज से भगवान् के समवसरण में गए और वन्दन नमस्कार करने के उपरान्त धर्म श्रवण किया।

धर्मदेशना के अन्त में श्रमणोपासक उठे और वन्दन करके बोले—भगवन् ! ऋपिभद्र श्रमणोपासक देवों की आयुष्यस्थिति कम-से-कम १० हजार वर्ष की और ज्यादा-से-ज्यादा ३३ सागरोपम की बताते हैं, क्या यह ठीक है ?

श्रमण भगवान् ने कहा—आर्यो ! ऋपिभद्रपुत्र श्रमणोपासक का यह कथन यथार्थ है।

भगवान् का स्पष्टीकरण सुनकर श्रमणोपासक उठे और ऋपिभद्रपुत्र श्रमणोपासक के समीप गये एवं नमस्कार कर सविनय क्षमाप्रार्थना की। इसके बाद ऋपिभद्र प्रमुख आलभिया का श्रमणोपासक संघ देर तक भगवान् के पास धर्म-चर्चा करता रहा।

श्रमणोपासक ऋपिभद्रपुत्र ने बहुत वर्षों तक शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान, पौपधोपवास आदि तपोऽनुष्ठानों से आत्मशुद्धि करते हुए

अन्त में मासिक अनशन पूर्वक आयुष्य पूर्ण कर सौधर्मकल्प देवलोक में देवपद प्राप्त किया[1]।

आलभिया से विहार कर भगवान् कौशांबी पधारे। कौशांबी का राजा उदयन शायद तब तक नाबालिग था। राज्यव्यवस्था उसकी माता मृगावती देवी, अपने बहनोई उज्जयनीपति चण्डप्रद्योत की सहानुभूति से चला रही थी। यद्यपि मृगावती चण्डप्रद्योत से खुश नहीं थी फिर भी उसकी सैनिक शक्ति और अपने पुत्र की बाल्यावस्था का विचार कर वह उससे मेल रखती थीं।

जब भगवान् कौशांबी पधारे तो राजा चण्डप्रद्योत भी वहीं ठहरा हुआ था। चण्डप्रद्योत, अंगारवती आदि उसकी रानियाँ, उदयन तथा राजमाता मृगावती बड़ी सजधज से भगवान् के समवसरण में वन्दनार्थ गईं, नागरिकजन भी बड़ी संख्या में एकत्र हुए। भगवान् वर्धमान ने उस महती सभा में वैराग्यजनक धर्मदेशना की, जिसे सुन कर अनेक धर्मशील मनुष्यों के हृदय भगवान् के धर्ममार्ग में श्रद्धालु बने। उसी समय सभा में उपस्थित मृगावती ने कहा—'भगवान्! मैं प्रद्योत की आज्ञा लेकर आपके पास दीक्षा ग्रहण करना चाहती हूँ। इसके बाद अपने पुत्र उदयन को प्रद्योत के संरक्षण में छोड़ते हुए उससे दीक्षा की आज्ञा माँगी। यद्यपि प्रद्योत की इच्छा मृगावती को स्वीकृति देने की नहीं थी पर उस महती सभा में लज्जावश वह इनकार नहीं कर सका।

अंगारवती आदि चण्डप्रद्योत की आठ रानियों ने भी दीक्षा लेने के लिए उसी समय राजा से आज्ञा माँगी। प्रद्योत ने उन्हें भी आज्ञा प्रदान की और भगवान् महावीर ने उन सब को निर्ग्रन्थ मार्ग में प्रव्रजित कर श्रमणी-संघ में प्रविष्ट किया[2]।

कुछ समय तक श्रमण भगवान् कौशांबी तथा उसके समीपवर्ती ग्राम-नगरों में विचरे और फिर विदेह-भूमि की ओर विहार कर गये।

---

१ भग० शत ११, उद्दे० १२ प० ५५०–५५१।

२ आवश्यकटीका प० ६४–६७।

ग्रीष्मकाल पूरा होते:होते भगवान् वैशाली पहुँचे और वर्षावास वैशाली में किया।

वर्षावास पूरा होने पर भगवान् ने वैशाली से उत्तरविदेह की ओर प्रयाण किया और मिथिला होते हुए काकन्दी पधारे। काकन्दी में धन्य, सुनक्षत्र आदि को दीक्षा दी।

२१ इक्कीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४९२–४९१)

काकन्दी से भगवान् ने पश्चिम की ओर विहार किया और श्रावस्ती होते हुए काम्पिल्य नगर पधारे। काम्पिल्यनिवासी कुण्डकोलिक गृहपति को श्रमणोपासक बना कर अहिच्छत्रा होते हुए गजपुर पहुँचे। यहाँ पर निर्ग्रन्थ-प्रवचन का उपदेश दे कर अनेक श्रद्धालुओं को निर्ग्रन्थमार्ग में स्थिर किया और यहाँ से वापस लौट कर आप पोलासपुर पधारे।

पोलासपुर में सद्दालपुत्र नामक एक कुम्हार रहता था। उसकी पोलासपुर के प्रतिष्ठित तथा धनवान गृहस्थों में गणना होती थी। उसके पास तीन क्रोड़ की संपत्ति थी और दस हजार गायों का एक गोकुल। सद्दालपुत्र अपने धंधे में प्रवीण और प्रसिद्ध व्यापारी था। उसके आधिपत्य में मिट्टी के वर्तन की पाँच सौ दूकानें चलती थीं जिनमें हजारों कुम्हार उसकी निगरानी में काम करते थे। सद्दालपुत्र आजीविक धर्म का उपासक था। इतना ही नहीं, वह आजीविक धर्म का एक कुशल अभ्यासी था, उसके अस्थिमज्जा आजीविक-धर्म के संस्कारों से रंगे हुए थे, उसके विचार में आजीविक-धर्म ही परम धर्म था और बाकी सब पाखंड। इसकी स्त्री अग्निमित्रा भी आजीविकोपासिका थी।

एक दिन रात्रि के समय सद्दालपुत्र सुख की नींद सो रहा था तब किसी देव ने उससे कहा—'सद्दालपुत्र ! कल प्रातः इधर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महाब्राह्मण पधारेंगे। उनके पास जाकर प्रातिहारिक शय्या पीठ-फलकादि के लिये उन्हें निमन्त्रित करना'। सद्दालपुत्र इस दिव्य वाणी से सावधान हो गया। उसने सोचा—'प्रातःकाल मेरे धर्माचार्य भगवान् मंखलिपुत्र पधारेंगे, क्योंकि वर्तमान काल में वे ही सर्वज्ञ और महाब्राह्मण हैं।

बड़े तड़के सद्दालपुत्र उठा और जरूरी कामों से निवृत्त होकर अपने

धर्माचार्य के पास जाने की तैयारी करने लगा। अभी वह ठीक तरह से तैयार भी नहीं हुआ था कि इतने में जनप्रवाद सुनाई देने लगा—'पोलासपुर के बाहर ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर पधारे हैं।'

महावीर का आगमन सुनते ही सद्दालपुत्र हतोत्साह हो गया। उसकी दर्शनोत्कंठा शान्त हो गई। क्षणभर के लिए किंकर्तव्यविमूढ़ होने के उपरान्त उसे गतरात्रि का देवादेश याद आया। उसका हृदय जागरित हुआ। वह भगवान् के पास पहुँच और विनय पूर्वक बोला—'भगवन्! शय्या फलकादि प्रस्तुत हैं, स्वीकार करने का अनुग्रह कीजिये।' श्रमण भगवान् सद्दालपुत्र का निमंत्रण स्वीकार कर उसकी भाण्डशाला में जा उपस्थित हुए।

भगवान् को अपनी भाण्डशाला में ठहराकर तथा पीठफलकादि प्रातिहारिक अर्पण कर सद्दालपुत्र अपने काम में लगा। भाण्डशाला में वर्तनों को इधर-उधर करता, गीलों को धूप में और सूखों को छाया में रखता हुआ वह अपने काम में लीन था, उस समय भगवान् ने सद्दालपुत्र से पूछा—सद्दालपुत्र! यह वर्तन कैसे बना?

सद्दालपुत्र—भगवन्! यह वर्तन पहले केवल मिट्टी ही होता है। उसे जल में भिगो, लीद भूसा आदि मिलाकर पिण्ड बनाते हैं और पिण्ड को चाक पर चढ़ा कर हाँड़ी, मटकी आदि अनेक प्रकार के वर्तन बनाए जाते हैं।

महावीर—ये वर्तन पुरुषार्थ और पराक्रम से बने हैं अथवा उनके बिना ही?

सद्दालपुत्र—ये वर्तन नियतिबल से बनते हैं, पुरुष-पराक्रम से नहीं। सब पदार्थ नियतिवश हैं। जिसका जैसे होना नियत है वह वैसे ही होता है। उसमें पुरुषप्रयत्न कुछ भी परिवर्त्तन नहीं कर सकता।

महावीर—सद्दालपुत्र! तुम्हारे इन कच्चे तथा पक्के वर्तनों को यदि कोई पुरुष चुराले, बिखेर दे, फोड़ डाले या फेंक दे अथवा तेरी स्त्री अग्निमित्रा के पास जाए तो तुम उसे क्या दण्ड दोगे?

सद्दालपुत्र—भगवन्! उस पुरुष को मैं गालियाँ दूँ, पीटूँ, बाँधूँ, तर्जन-ताड़न करूँ और उसके प्राण तक ले लूँ।

महावीर—सद्दालपुत्र ! तुम्हारे मत से न कोई पुरुष तुम्हारे वर्तन तोड़-फोड़ वा चुरा सकता है, न ही तुम्हारी स्त्री के पास जा सकता है और न ही तुम उसे तर्जन, ताड़नादि दण्ड ही दे सकते हो, क्योंकि सब भाव नियत ही होते हैं। किसी का किया कुछ नहीं होता। यदि तुम्हारे वर्तन किसी से तोड़े-फोड़े जा सकते हैं, अग्निमित्रा के पास कोई जा सकता है और इन कामों के लिए तुम किसी को दण्ड दे सकते हो तो फिर 'पुरुषार्थ नहीं, पराक्रम नहीं, सर्वभाव नियत हैं' यह तुम्हारा कथन असत्य सिद्ध होगा।

सद्दालपुत्र समझ गया। नियतिवाद का सिद्धान्त कैसा अव्यवहारिक है, इसका उसे पता लग गया। वह श्रमण भगवान् महावीर के चरणों में नतमस्तक हो कर बोला—भगवन् ! मैं निर्ग्रन्थ-प्रवचन का उपदेश सुनना चाहता हूँ।

भगवान् ने सद्दालपुत्र की इच्छा का अनुमोदन करते हुए निर्ग्रन्थ-प्रवचन का उपदेश दिया जिसे सुनकर सद्दालपुत्र को जिन-धर्म पर श्रद्धा और रुचि जाग्रत हुई। उसी समय उसने द्वादशव्रत सहित गृहस्थ-धर्म स्वीकार किया।

घर जाकर सद्दालपुत्र ने अपने नये धर्म और नये धर्माचार्य के स्वीकार की बात अग्निमित्रा से कही और उसे भी एक बार भगवान् महावीर के मुख से निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने और उस पर श्रद्धा लाने की सलाह दी। अग्निमित्रा अपना रथ सजा कर भगवान् के पास गई और उनका दिव्य उपदेश सुनकर उसके हृदय में यथार्थ श्रद्धा उत्पन्न हुई और उसी समय सम्यक्त्वमूल द्वादशव्रतात्मक गृहस्थ-धर्म स्वीकार कर अपने स्थान गई।

सद्दालपुत्र के धर्मपरिवर्तन का समाचार आजीविक-संघ के नेता मंखलिपुत्र गोशालक के कानों तक पहुँचा। आजीविक मतानुयायी गृहस्थों में सद्दालपुत्र का विशेष स्थान था। उसके धर्मपरिवर्तन करने की मंखलिपुत्र के हृदय में कभी कल्पना भी नहीं हुई थी। जब उसने सद्दालपुत्र के आजीविक-धर्म छोड़ने की बात सुनी तो मानों उस पर वज्रपात हो गया। क्रोध से उसका शरीर काँपने लगा, ओंठ फड़-

कने लगे और चेहरा लाल हो उठा। क्षणभर अवाक् हो ओंठों को चबाता हुआ अपने भिक्षु-संघ से बोला—भिक्षुओ ! सुनते हो, पोलासपुर का धर्म-स्तंभ गिर गया। श्रमण महावीर के उपदेश से सद्दालपुत्र आजीविक संप्रदाय को छोड़ कर निर्ग्रन्थ-प्रवचन का भक्त हो गया है। कैसा आश्चर्य है ! कितने खेद की वात है !! भिक्षुओ चलिये, पोलासपुर की ओर शीघ्र चलिये। सद्दाल को फिर से आजीविक-धर्म में लाकर स्थिर करना, अपना सर्वप्रथम कर्तव्य है। अपने भिक्षु-संघ के साथ मंखलि गोशालक ने पोलासपुर की ओर प्रयाण किया। उसे पूर्ण विश्वास था कि पोलासपुर जाते ही सद्दालपुत्र फिर आजीविक-संघ का सभ्य बन जायगा। इसी आशा में उसने बड़ी जल्दी पोलासपुर का मार्ग तय किया।

पोलासपुर में आजीविक-संघ की एक सभा[1] थी, गोशालक ने उसी सभा में डेरा डाला। कुछ भिक्षुओं के साथ गोशालक सद्दालपुत्र के स्थान पर गया। वह सद्दालपुत्र जो गोशालक का नाममात्र सुन कर पुलकित हो उठता था, आज उसे अपने मकान पर आये हुए देख कर भी उसने कोई संभ्रम नहीं दिखाया ! गोशालक को देख कर न वह उठा ही और न उसका गुरुभाव से सत्कार ही किया। मंखलि श्रमण को अपनी शक्ति की थाह मिल गयी। सद्दालपुत्र को पुनः आजीविक मतानुयायी बनाने की उसकी आशा विलीन-सी हो गई। उसने सोचा उपदेश द्वारा या प्रतिकूलता दिखाने से सद्दालपुत्र का अनुकूल होना कठिन है। शान्ति और कोमलता को धारण करते हुए गोशालक बोला—देवानुप्रिय ! महाब्राह्मण यहाँ आ गये ?

सद्दालपुत्र—महाब्राह्मण कौन ?

गो०—श्रमण भगवान् महावीर।

स०—भगवान् महावीर महाब्राह्मण कैसे ? श्रमण भगवान् को किस कारण महाब्राह्मण कहते हो ?

गो०—भगवान् महावीर ज्ञान दर्शन के धारक हैं, जगत्पूजित हैं और सच्चे कर्मयोगी हैं। इसलिये वे 'महाब्राह्मण' हैं। क्या महागोप यहाँ आ गये ?

---

१ सभा करने का मकान—सभाभवन।

स०—महागोप कौन ?

गो०—श्रमण भगवान् महावीर ।

स०—देवानुप्रिय ! भगवान् महावीर को महागोप कैसे कहते हो ?

गो०—इस संसाररूपी घोर अटवी में भटकते, टकराते और नष्ट होते संसारी-प्राणियों का धर्मदण्ड से गोपन करते हैं और मोक्षरूप बाड़े में सकुशल पहुँचाते हैं, इसी कारण भगवान् महावीर 'महागोप' हैं। क्या 'महाधर्मकथी' यहाँ आ गये, सद्दालपुत्र ?

स०—महाधर्मकथी कौन ?

गो०—श्रमण भगवान् महावीर ।

स०—देवानुप्रिय ! भगवान् महावीर को महाधर्मकथी किस कारण कहते हो ?

गो०—सद्दालपुत्र ! इस असीम संसार में भटकते, टकराते, वास्तविक मार्ग को छोड़ कर उन्मार्ग पर चलते हुए अज्ञानी जीवों को धर्मतत्त्व का उपदेश देकर धर्ममार्ग पर चलाते हैं, इस वास्ते श्रमण भगवान् महावीर 'महाधर्मकथी' हैं। क्या 'महानिर्यामक' यहाँ आ गये, सद्दालपुत्र ?

स०—महानिर्यामक कौन ?

गो०—श्रमण भगवान् महावीर ।

स०—देवानुप्रिय, श्रमण भगवान् महावीर को महानिर्यामक किस लिये कहते हो ?

गो०—इस संसाररूपी अथाह समुद्र में डूबते हुए जीवों को धर्मस्वरूप नाव में बिठला कर अपने हाथ से उन्हें पार लगाते हैं, अतः श्रमण भगवान् महावीर 'महानिर्यामक' हैं ।

स०—देवानुप्रिय ! तुम ऐसे चतुर, ऐसे नयवादी, ऐसे उपदेशक और ऐसे विज्ञान के ज्ञाता हो तो क्या मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर के साथ विवाद कर सकते हो ?

गो०—नहीं, मैं ऐसा करने में समर्थ नहीं हूँ ।

स०—क्यों ? मेरे धर्माचार्य के साथ विवाद करने में तुम समर्थ क्यों नहीं ?

गो०—सद्दालपुत्र ! जैसे कोई युवा मल्ल पुरुष, बकरे, मेंढे, सूअर आदि पशु या कुकड़े, तीतर, बतक आदि पक्षी को पाँव, पूँछ, पंख जहाँ कहीं से पकड़ता है, मजबूत पकड़ता है; वैसे ही श्रमण भगवान् महावीर भी हेतु, युक्ति, प्रश्न और उत्तर में जहाँ-जहाँ मुझे पकड़ते हैं वहाँ-वहाँ निरुत्तर करके ही छोड़ते हैं। इसलिये मैं तुम्हारे धर्माचार्य के साथ विवाद करने में समर्थ नहीं हूँ।

सद्दालपुत्र—देवानुप्रिय ! तुम मेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महावीर के सद्गुणों की वास्तविक प्रशंसा करते हो इसलिये, न कि धर्म या तप समझ कर, पीठफलक आदि के लिए निमंत्रण देता हूँ। मेरी भाण्डशाला में जाओ और जो उपकरण चाहिये ले कर रहो।

इस पर मंखलि गोशालक सद्दालपुत्र की भाण्डशाला में जा कर ठहरा। भाण्डशाला में रहते हुए गोशालक ने सद्दालपुत्र को बहुत समझाया-बुझाया, पर अपने प्रयत्न में वह सफल नहीं हो सका। वह सद्दालपुत्र की ओर से सदा के लिये निराश होकर चला गया। इस घटना से उस के हृदय में जो गहरी चोट लगी वह कभी शान्त नहीं हुई[1]।

पोलासपुर से विहार कर अनेक स्थानों में प्रवचन का प्रचार करते हुए भगवान् महावीर ग्रीष्म ऋतु के अन्त में वाणिज्यग्राम पहुँचे और वर्षावास भी वहीं व्यतीत किया।

२२ बाईसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४९१–४९०)

वर्षाकाल बीतने पर भगवान् ने मगध-भूमि की ओर विहार किया और क्रमशः राजगृह पधारे। यहाँ के समवसरण में भगवान् के उपदेश से राजगृह निवासी महाशतक गाथापति ने श्रमणोपासक-धर्म स्वीकार किया।

इस अवसर पर बहुत से पार्श्वापत्य स्थविर भगवान् महावीर के समवसरण में आये और उन्होंने कुछ दूर खड़े रहकर प्रश्न किया भगवान् ! इस असंख्येय लोक में अनन्त रात्रिदिन उत्पन्न हुए, होते हैं और होंगे या परीत्त ? तथा अनन्त रात्रिदिन व्यतीत हुए हैं, होते हैं और होंगे या परीत्त ?

---

१ उपासकदशा अध्ययन ७, प० ४३–५३।

महावीर—आर्यो ! इस असंख्येय लोक में अनन्त और परीत्त रात्रिदिन उत्पन्न हुए, होते हैं और होंगे तथा अनन्त और परीत्त ही व्यतीत हुए, होते हैं और होंगे ।

स्थविर—भगवन् यह कैसे ? असंख्येय लोकमें अनन्त और परीत्त रात्रिदिन कैसे उत्पन्न हुए और व्यतीत हुए ?

महावीर—आर्यो ! पुरुषादानीय पार्श्वनाथ अर्हन्त ने कहा है कि लोक शाश्वत—अनादि-अनन्त है । वह परीत्त (असंख्येय प्रदेशात्मक) और परिवृत (अलोकाकाश से व्याप्त) है । नीचे की तरफ विस्तृत, मध्य में संक्षिप्त और ऊपर के भाग में विशाल है । आकार में वह अधोभाग में पलंग जैसा, मध्य में वज्र जैसा और ऊपरी भाग में ऊर्ध्वमृदंग जैसा है । इस अनादि-अनन्त शाश्वत लोक में अनन्त जीवपिण्ड उत्पन्न हो-होकर विलीन होते हैं । परीत्त जीवपिण्ड भी उत्पन्न हो-होकर विलीन होते हैं, अतएव लोक उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है । लोक का दूसरा अंश 'अजीवकाय' प्रत्यक्ष होने से लोक प्रत्यक्ष है । लोकवर्ती 'अजीवद्रव्य' प्रत्यक्ष देखा जाता है इसी लिये इसको 'लोक' कहते हैं; लोक्यते इति लोकः ।

भगवान् महावीर के स्पष्टीकरण से पार्श्वापत्य स्थविरों के मनका समाधान हो गया और उन्हें यह भी विश्वास हो गया कि भगवान् महावीर 'सर्वज्ञ' और 'सर्वदर्शी' हैं । वे श्रमण भगवान् को वन्दन-नमस्कार कर बोले—'भगवन्, हम आप के पास चातुर्यामधर्म के स्थान पर पञ्चमहाव्रतात्मक सप्रतिक्रमणधर्म स्वीकार करना चाहते हैं ।

स्थविरों की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए महावीर ने कहा—'देवानुप्रियो ! तुम सुखपूर्वक ऐसा कर सकते हो ।

इसके बाद पार्श्वापत्य स्थविरों ने श्रमण भगवान् के पास पञ्चमहाव्रतिकधर्म स्वीकार किया और बहुत काल तक श्रामण्य पालकर अन्त में निर्वाणपद प्राप्त किया[1] ।

उस समय रोह नामक अनगार भगवान् से कुछ दूर बैठे वस्त्व

---

[1] भ० श० ५, उ० ९, प० २४७-२४८ ।

चिन्तन कर रहे थे। लोकविषयक चिन्तन करते हुए उन्हें कुछ शंका उत्पन्न हुई। वे तुरन्त उठकर भगवान् के पास आये और वन्दन कर प्रश्न किया—भगवन्! पहले 'लोक' और पीछे 'अलोक' या पहले 'अलोक' और पीछे 'लोक'?

रोह अनगार के प्रश्न

भगवान्—रोह! 'लोक' और 'अलोक' दोनों पहले भी कहे जा सकते हैं और पीछे भी। ये शाश्वत भाव हैं। इन में पहले-पीछे का क्रम नहीं।

रोह—भगवन्! पहले जीव और पीछे अजीव या पहले अजीव और पीछे जीव?

भगवान्—रोह! जीव-अजीव भी शाश्वतभाव हैं, इनमें भी पहले-पीछे का क्रम नहीं।

रोह—भगवन्! पहले भवसिद्धिक और पीछे अभवसिद्धिक या पहले अभवसिद्धिक और पीछे भवसिद्धिक?

भगवान्—रोह! भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक दोनों शाश्वत-भाव हैं। इनमें भी पहले-पीछे का क्रम नहीं।

रोह—भगवन्! सिद्धि पहले और असिद्धि पीछे या असिद्धि पहले और सिद्धि पीछे?

भगवान्—रोह! ये दोनों शाश्वतभाव हैं, इनमें पहले-पीछे का क्रम नहीं।

रोह—भगवन्! सिद्ध पहले और असिद्धि पीछे या असिद्धि पहले और सिद्ध पीछे?

भगवान्—रोह! ये भी शाश्वतभाव हैं, इनमें पहले-पीछे का क्रम नहीं।

रोह—भगवन्! पहले अण्डा और पीछे मुर्गी या पहले मुर्गी और पीछे अण्डा?

भगवान्—रोह! वह अण्डा कहाँ से हुआ?

रोह—मुर्गी से।

भगवान्—और वह मुर्गी कहाँ से हुई?

रोह—अण्डे से।

भगवान्—रोह ! इसी प्रकार अंडा और मुर्गी दोनों पहले भी कहे जा सकते हैं और पीछे भी। ये शास्वतभाव हैं, इनमें पहले-पीछे का क्रम नहीं।

रोह—भगवन् ! पहले लोकान्त और पीछे अलोकान्त या पहले अलोकान्त और पीछे लोकान्त ?

भगवान्—लोकान्त और अलोकान्त दोनों पहले भी कहे जा सकते और पीछे भी, इनमें पहले-पीछे का कोई अनुक्रम नहीं।

रोह—भगवन् ! पहले लोक पीछे सप्तम अवकाशान्तर या पहले सप्तम अवकाशान्तर और पीछे लोक ?

भगवान्—रोह ! दोनों शाश्वतभाव हैं, इनमें पहले-पीछे का कोई क्रम नहीं।

रोह—भगवन् ! पहले लोकान्त, पीछे सप्तम तनुवात या पहले सप्तम तनुवात और पीछे लोकान्त ?

भगवान्—रोह ! ये दोनों शाश्वतभाव हैं, पहले भी कहे जा सकते हैं, पीछे भी, इनमें कोई अनुक्रम नहीं।

रोह—भगवन् ! पहले लोकान्त, पीछे घनवात या पहले घनवात और पीछे लोकान्त ?

भगवान्—रोह ! दोनों शाश्वतभाव हैं।

रोह—भगवन् ! पहले लोकान्त, पीछे घनोदधि या पहले घनोदधि और पीछे लोकान्त ?

भगवान्—दोनों शास्वतभाव हैं, इनमें पहले-पीछे का कोई क्रम नहीं।

रोह—भगवन् ! पहले लोकान्त, पीछे सप्तम पृथ्वी या पहले सप्तम पृथ्वी पीछे लोकान्त ?

भगवान्—रोह ! ये दोनों शास्वतभाव हैं, इनमें पहले-पीछे का कोई क्रम नहीं।

इसी तरह रोह अनगार ने उक्त सभी प्रश्न अलोकान्त के साथ भी पूछे और भगवान् ने उत्तर दिये।

रोह—भगवन् ! पहले सप्तम अवकाशान्तर, पीछे सप्तम तनुवात या पहले सप्तम तनुवात और पीछे सप्तम अवकाशान्तर ?

भगवन्—दोनों शाश्वतभाव हैं, इनमें पहले-पीछे का क्रम नहीं।

इसी प्रकार रोह ने पूर्व-पूर्व पद छोड़ कर उत्तर-उत्तर पद के साथ पहले-पीछे का क्रम पूछा और भगवान् ने उत्तर दिया।

भगवान् के उत्तरों से रोह अनगार परम संतुष्ट हुआ[१]।

लोकस्थिति के संवन्ध में गौतम के प्रश्न

गौतम ने पूछा—भगवन् ! लोकस्थिति कितने प्रकार की कही है ?

भगवान्—गौतम ! लोकस्थिति आठ प्रकार की कही है, जैसे-१ आकाश पर हवा प्रतिष्ठित है, २ हवा पर समुद्र, ३ समुद्र पर पृथ्वी, ४ पृथ्वी पर त्रसस्थावर प्राणी, ५ (त्रसस्थावर) जीवों पर अजीव (जीव शरीर) और ६ कर्मों पर जीव प्रतिष्ठित हैं, ७ अजीव-जीव संगृहीत है और ८ जीव-कर्म संगृहीत हैं॥

गौतम—भगवन् ! यह कैसे ? आकाश पर हवा और हवा पर पृथ्वी आदि कैसे प्रतिष्ठित हो सकती है।

भगवान्—गौतम ! जैसे कोई पुरुष मशक को हवासे पूर्ण भर कर उसका मुँह बँद कर दे, फिर उसको बीच में से मजबूत बाँध कर मुँह पर की गाँठ खोल हवा निकाल कर उसमें पानी भर दे और फिर मुँह पर तान कर गाँठ दे दे और बाद में बीच की गाँठ छोड़ दे तो वह पानी नीचे की हवा पर ठहरेगा ?

गौतम—हाँ भगवन् ! वह पानी हवा के ऊपर ठहरेगा।

भगवान्—इसी तरह आकाश के ऊपर हवा और हवा के ऊपर पृथ्वी आदि रहते हैं। गौतम ! कोई आदमी मशक को हवा से भर कर अपनी कमर में बाँधे हुए अथाह जल को अवगाहन करे तो वह ऊपर ठहरेगा या नहीं ?

गौतम—हाँ भगवन्, वह मनुष्य ऊपर रहेगा।

---

१ भ० श० १, उ० ६, प० ८०-८१।

भगवान्—इसी प्रकार आकाश पर हवा और हवा पर पृथ्वी आदि प्रतिष्ठित हैं[1]।

इस वर्ष भगवान् ने वर्षावास राजगृह में ही किया।

वर्षाकाल पूरा होते ही भगवान् ने राजगृह से पश्चिमोत्तर प्रदेश की ओर विहार किया और गाँवों में धर्म-प्रचार करते हुए कचंगला नगरी के छत्रपलास चैत्य में पधारे। कचंगलानिवासी तथा आसपास के गाँवों के अनेक भाविक लोग भगवान् का आगमन सुन कर छत्रपलास में एकत्र हुए और वन्दन-नमस्कार पूर्वक धर्म-श्रवण कर अपने-अपने स्थान पर गये।

२३-तेईसवाँ वर्ष (वि० पू० ४९०-४८९)

उस समय श्रावस्ती के समीप एक मठ में गर्दभालिशिष्य कात्यायन गोत्रीय स्कन्दक नामक परिव्राजक रहता था। वह वेद, वेदाङ्ग, पुराण आदि वैदिक साहित्य का पारंगत विद्वान् तथा तत्त्वान्वेषी और जिज्ञासु तपस्वी था। जिस समय भगवान् छत्रपलास में पधारे स्कन्दक कार्यवश श्रावस्ती आया हुआ था। वहाँ उसे 'पिंगलक' नामक कात्यायन गोत्रीय एक निर्ग्रन्थ श्रमण मिले। श्रमण पिंगलक ने स्कन्दक से पूछा 'मागध ! इस लोक का अन्त है या नहीं ? जीव का अन्त है या नहीं ? सिद्धि का अन्त है या नहीं ? सिद्धों का अन्त हैं या नहीं ? और हे मागध ! किस मरण से मरता हुआ जीव बढ़ता और घटता है ?' पाँचों प्रश्न एक साथ पूछ कर निर्ग्रन्थ ने उत्तर की प्रतीक्षा की।

स्कन्दक-प्रव्रज्या

स्कन्दक कात्यायन ने पाँचों प्रश्नों को अच्छी तरह सुना और उनपर खूब विचार भी किया परन्तु उनका उत्तर नहीं दे सका। उल्टा वह ज्यों-ज्यों उनपर विचार करता जाता शंकाकुल हो विशेष उलझता जाता। पिंगलक ने दूसरी और तीसरी बार भी उन प्रश्नों की आवृत्ति की पर स्कन्दक की तरफ से कोई उत्तर नहीं मिला।

ठीक इसी समय भगवान् महावीर के छत्रपलास चैत्य में पधारने

---

1 भ० श० १, उ० ६, पृ० ८१

के समाचार श्रावस्ती में पहुँचे। चौक, बाजार, मुहल्ले और गलियों में उनकी चर्चा होने लगी और क्षणभर में श्रावस्ती की आस्तिक प्रजा से छत्रपलास के मार्ग पट गये।

नगरवासियों की यह चर्चा और प्रवृत्ति कात्यायन स्कन्दक ने देखी और वे भी सावधान हो गये। ज्ञानी महावीर के पास जाकर वन्दन-नमस्कार और धर्मचर्चा करने के विचार से वे श्रावस्ती से जल्दी लौट कर अपने आश्रम में आये और गेरुआ वस्त्र धारणकर त्रिदंड, कुण्डिका, कञ्चनिका, कटोरिका, विसिका, केसरिका, छन्नालक, अंकुशक, पवित्रिका तथा गणेत्रिका ले पादुकाएँ पहन आश्रम से निकले और श्रावस्ती के मध्य में होते हुए छत्रपलास चैत्य की सीमा में पहुँचे।

उधर भगवान् महावीर ने गौतम से कहा—गौतम ! आज तुम अपने एक पूर्वपरिचित को देखोगे।

गौतम—भगवन् ! मैं किस पूर्वपरिचित को देखूँगा ?

महावीर—आज तुम कात्यायन स्कन्दक परिव्राजक को देखोगे।

गौतम—भगवन् यह कैसे ! स्कन्दक यहाँ कैसे मिलेगा ?

महावीर—श्रावस्ती में पिंगलक निर्ग्रन्थ ने स्कन्दक से कुछ प्रश्न पूछे थे जिनका उत्तर वह नहीं दे सका। फिर हमारा यहाँ आगमन सुनकर वह अपने आश्रम में लौट गया और वहाँ से गेरुआ वस्त्र पहन त्रिदण्ड कुण्डिकादि उपकरण ले यहाँ आने के लिये प्रस्थान कर चुका है। तुम्हारा पूर्वपरिचित स्कन्दक अभी मार्ग में आ रहा है। वह अब बहुत दूर नहीं, थोड़े ही समय में तुम्हारे दृष्टिगोचर होगा।

गौतम— भगवन् ! क्या कात्यायन स्कन्दक में आपका शिष्य होने की योग्यता है ?

महावीर—स्कन्दक में शिष्य होने की योग्यता है और वह हमारा शिष्य हो जायगा।

भगवान् महावीर और गौतम का वार्तालाप हो ही रहा था कि इतने में स्कन्दक समवसरण के निकट आ पहुँचे। उन्हें देखते ही गौतम उठे और सामने जाकर स्वागत करते हुए बोले—मागध ! क्या यह सच है कि श्रावस्ती में पिंगल निर्ग्रन्थ ने आपसे कुछ प्रश्न पूछे थे और उनका

ठीक उत्तर न सूझने पर उसके समाधान के लिये आपका यहाँ आना हुआ है ?

स्कन्दक—बिलकुल ठीक है। पर गौतम ! ऐसा कौन ज्ञानी और तपस्वी है जिसने मेरे दिल की यह गुप्त बात तुम्हें कह दी ?

गौतम—महानुभाव स्कन्दक ! मेरे धर्माचार्य भगवान् महावीर ऐसे ज्ञानी और तपस्वी हैं जो भूत-भविष्यत् और वर्तमान तीनों काल के सब भावों को जानते और देखते हैं। इन्हीं महापुरुष के कहने से मैं तुम्हारे दिल की गुप्त बात जान सका हूँ।

स्कन्दक—अच्छा, तब चलिये गौतम, तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन कर लूँ।

गौतम—बहुत अच्छा, चलिये।

इन्द्रभूति, गौतम और स्कन्दक दोनों भगवान् महावीर के पास पहुँचे। स्कन्दक की दृष्टि उनके तेजस्वी शरीर पर पड़ते ही उनके अलौकिक रूप, रंग और तेज से वह आश्चर्य-चकित हो गया। महातपस्वी, महाज्ञानी और दिव्यतेजस्वी महावीर के दर्शनमात्र से स्कन्दक का हृदय हर्षावेग से भर गया। वे भगवान् के निकट आये, त्रिप्रदक्षिणा पूर्वक वन्दन किया और हाथ जोड़कर सामने खड़े हो गए।

स्कन्दक के मनोभाव को प्रकट करते हुए महावीर ने कहा—स्कन्दक ! पिंगलक के 'लोक सादि है या अनन्त ?' इत्यादि प्रश्नों से तुम्हारे मन में संशय उत्पन्न हुआ है ?

स्कन्दक—जी हाँ, इस विषय में मेरा मन शंकित है और इसी लिए आपके चरणों में आया हूँ।

महावीर—स्कन्दक ! द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव-भेद से लोक चार प्रकार का है। द्रव्य स्वरूप से लोक सान्त (अन्तवाला) है, क्योंकि वह धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय रूप केवल पञ्चद्रव्यामय है। क्षेत्रस्वरूप से लोक असंख्यात योजन कोटाकोटि लंबा, असंख्यात योजन कोटाकोटि चौड़ा और असंख्यात योजन कोटाकोटि विस्तृत है, फिर भी वह सान्त है। काल-स्वरूप से लोक अनन्त, नित्य और शाश्वत है क्योंकि वह पहले था,

अब है और आगे रहेगा। त्रिकालवर्ती होने से कालात्मक लोक अनन्त है। और भावस्वरूप से भी लोक अनन्त है, क्योंकि वह अनन्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान, गुरु-लघु और अगुरु-लघु पर्यायात्मक है, अनन्त पर्यायात्मक होने से भावलोक 'अनन्त' है। जीव भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव स्वरूप से विचारणीय है। द्रव्यस्वरूप से जीव—द्रव्य एक होने से सान्त है। क्षेत्रस्वरूप से जीव असंख्यातप्रदेशिक और असंख्य-आकाशप्रदेश—व्यापी है, तथापि वह सान्त है। कालस्वरूप से जीव अनन्त है, क्योंकि यह पहले था, अब है, और भविष्य में रहेगा, त्रिकालवर्ती होने से कालापेक्षया जीव नित्य (शाश्वत) है। भावस्वरूप से भी जीव अनन्त है। ज्ञान, दर्शन और चरित्र के अनन्तानन्त पर्यायों से भरपूर और अनन्त अगुरुलघु पर्याय स्वरूप होने से भाव से जीव अनन्त है।

स्कन्दक ! इसी प्रकार सिद्धि भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इन चार प्रकारों से विचारणीय है। द्रव्यस्वरूप से सिद्धि एक होने से सान्त है। क्षेत्रस्वरूप से सिद्धि पैंतालीस लाख योजन लंबी-चौड़ी और एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ योजन और कुछ कम दो कोस की परिधिवाली है। कालस्वरूप से सिद्धि अनन्त है, इसका पहले कभी अभाव नहीं था, वर्तमान में अभाव नहीं है और भविष्य में कभी अभाव नहीं होगा। यह शाश्वत है और रहेगी। भावस्वरूप से भी अनन्त पर्यायात्मक होने से सिद्धि अनन्त है।

सिद्ध भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के भेद से चार प्रकार के हैं। द्रव्यापेक्षया सिद्ध एक होने से सान्त है। क्षेत्रविचार से सिद्ध असंख्य-प्रदेशात्मक तथा असंख्याकाशप्रदेशव्यापी होने पर भी सान्त है। कालस्वरूप से सिद्ध की आदि होने पर भी उसका अन्त नहीं होता अतः वह अनन्त है। भावस्वरूप से सिद्ध अनन्त है, क्योंकि वह अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र और अगुरु-लघु पर्यायमय होता है।

स्कन्दक ! मरण मैंने दो तरह के कहे हैं—एक बालमरण और दूसरा पंडित-मरण। बालमरण के बारह भेद हैं—१. भूख की पीड़ा

से तड़प कर, २. विषय-भोग की अप्राप्ति से निराश होकर, ३. जीवन भर में किए हुए पापों को हृदय में गुप्त रखकर, ४. वर्तमान जीवन की विशेष सफलता न कर फिर इसी गति का आयुष्य बाँध कर, ५. पर्वत से गिर कर, ६. वृक्ष से गिर कर, ७. जल में डूब कर, ८. अग्नि में जल कर, ९. विष खाकर, १०. शस्त्र प्रयोग से, ११. फाँसी लगा कर और १२. गीध पक्षी अथवा अन्य माँसभक्षी पक्षियों से नुचवा कर मरना।

स्कन्दक! इन बारह प्रकार के मरणों में से किसी भी मृत्यु से मरता हुआ जीव नरक और तिर्यंगति का अधिकारी और चतुर्गत्यात्मक संसार भ्रमण को बढ़ाता है। मरण से बढ़ना इसी को कहते हैं।

पण्डित—मरण के दो भेद हैं—१. पादपोपगमन और २. भक्त-प्रत्याख्यान।

आयुष्य का अन्त निकट जान कर खड़े-खड़े, बैठे-बैठे अथवा सोते-सोते जिस आसन में अनशन स्वीकार किया जाय उसी आसन में अन्त तक रहकर शुभ ध्यान पूर्वक प्राण त्याग करना पादपोपगमन मरण है।

अनशन करके भी दूसरी चेष्टाओंका त्याग न कर अपनी आवश्यक क्रियाओं को करते हुए समाधिपूर्वक प्राणत्याग करना भक्तप्रत्याख्यान मरण है।

स्कन्दक! इन पंडित—मरणों से मरते हुए ज्ञानी मनुष्य नरक-तिर्यंगति के भ्रमण कम कर देते हैं और इस अनादि-अनन्त दीर्घसंसार को कम करके मुक्ति के निकट जा पहुँचते हैं।

इस स्पष्टीकरण से प्रतिबुद्ध हो स्कन्दक ने भगवान् महावीर को वन्दन कर निर्ग्रन्थ प्रवचन का विशेष उपदेश सुनने की इच्छा प्रकट की। भगवान् ने उसी समय स्कन्दक तथा अन्य उपस्थित महानुभावों के समक्ष निर्ग्रन्थ-धर्म का उपदेश किया जिसे सुन कर स्कन्दक आनन्दित होकर बोले—'भगवन् मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन को चाहता हूँ, मैं इस पर पूर्ण श्रद्धा करता हूँ, आपका कथन निस्संदेह सत्य है मैं आपके प्रवचन को स्वीकार करता हूँ।' यह कहकर स्कन्दक ईशानकोण की तरफ कुछ दूर गये और त्रिदण्ड, कमण्डलु, पादुका आदि परिव्राजकोप-

करणों को एकान्त में छोड़ फिर भगवान् के पास आये और वन्दन कर बोले—'भगवन् ! यह संसार चारों ओर से आग में जलते हुए घर के समान है। जलते घर में से जो भी सारभूत पदार्थ हाथ लगे उसे लेकर गृहस्वामी बाहर निकल जाता है। हे भगवन् ! इस जलते हुए संसार दावानल में 'आत्मा' ही मेरा सर्वस्व है। इसको बचाने के लिये इस दावानल तुल्य संसार से दूर होना ही मेरे लिये हितकर है।' यह कहकर स्कन्दक ने महावीर के पास श्रमणधर्म की दीक्षा ली।

श्रमण भगवान् ने उसे निर्ग्रन्थ मार्ग में प्रविष्ट कर तत्संबन्धी शिक्षा और सामाचारी से परिचय कराया।

भगवान् की सेवा में रहते, श्रमण-धर्म की आराधना करते और जिन प्रवचन का अभ्यास करते हुए अनगार स्कन्दक ने एकादशाङ्गी का अध्ययन किया।

कात्यायन स्कन्दक पहले ही से तपस्वी थे। भगवान् महावीर के पास दीक्षित होने के बाद वे और भी विशिष्ट तपस्वी हो गये, भिक्षु-प्रतिमा, गुणरत्नसंवत्सरतप आदि विविध तप और विशिष्ट साधनाओं से कर्मक्षय करने में स्कन्दक ने शक्ति भर प्रयत्न किया। और पूरे १२ वर्ष तक श्रामण्य पालने के उपरान्त स्कन्दक अनगार ने अन्त में विपुलाचल पर्वत पर जाकर अनशन कर दिया और समाधिपूर्वक देह छोड़ 'अच्युत कल्प' नामक स्वर्ग में देवपद प्राप्त किया। वहाँ से महाविदेह में मनुष्य जन्म पाकर पुनः धर्म की अराधना से निर्वाणपद प्राप्त करेंगे[1]।

छत्रपलास चैत्य से विहार कर भगवान् श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में पधारे। भगवान् के आगमन पर श्रावस्ती की प्रजा आपके दर्शन वन्दन के लिये उमड़ पड़ी। श्रमण भगवान् की धर्मदेशना से अनेक भाविक मनुष्यों को धर्म प्राप्ति हुई, अनेक गृहस्थों ने गृहस्थधर्म के व्रत लिये, जिनमें गाथापति नन्दिनी पिता, उसकी स्त्री अश्विनी, गाथापति सालिही-पिता और उसकी स्त्री फाल्गुनी के नाम उल्लेखनीय हैं।

श्रावस्ती से भगवान् विदेह भूमि की तरफ पधारे और वाणिज्य-ग्राम में जाकर वर्षावास किया।

---

१ भग० श० २, उ० १, प० ११२-१२८।

वर्षाकाल पूर्ण होने पर भगवान् वाणिज्यग्राम से ब्राह्मणकुण्ड के बहुसाल चैत्य में पधारे। यहाँ पर जमालि अनगार को अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ पृथक् विहार करने की इच्छा हुई, वे उठे और भगवान् को वन्दन कर बोले—'भगवन्! आपकी आज्ञा से मैं अपने परिवार के साथ पृथक विहार करना चाहता हूँ।' जमालि की इस प्रार्थना का भगवान् ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया।

२४—चौवीसवां वर्ष
(वि० पू० ४८९–४८८)

जमालि ने दूसरी तीसरी बार भी इसी तरह वन्दनपूर्वक पृथक विहार की आज्ञा माँगी परन्तु श्रमण भगवान् की तरफ से उसे कोई उत्तर नहीं मिला, तब जमालि बिना आज्ञा ही अपने अनुयायी पाँच सौ साधुओं के साथ बहुसाल चैत्य से निकल गया। ब्राह्मणकुण्ड से श्रमण भगवान् ने वत्सभूमि में प्रवेश किया और निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचार करते हुए कौशांबी पधारे। यहाँ पर आपको सूर्य और चन्द्र वन्दन करने के लिए पृथ्वी पर आये।

कौशांबी से काशी राष्ट्र में से होकर भगवान् राजगृह के गुणशील चैत्य में पधारे। उन दिनों कुछ पार्श्वापत्य स्थविर पाँच सौ अनगारों के साथ विचरते हुए राजगृह के निकटवर्ती तुंगीया नगरी के पुष्पवतीक चैत्य में आये हुए थे। स्थविरों का आगमन सुनकर तुंगीया के अनेक श्रमणोपासक वन्दन तथा धर्मोपदेश श्रवण करने के लिए उद्यान में गये। श्रमणोपासक तथा सभा के सामने स्थविरों ने चातुर्याम-धर्म का उपदेश किया। जिसे सुनकर श्रमणोपासकगण संतुष्ट हुआ और फिर वन्दन कर विशेष जिज्ञासा से ज्ञानगोष्ठी करने लगा, उन्होंने पूछा—भगवन्! संयम का फल क्या है, और तप का फल क्या है?

पार्श्वापत्यों की देशना का श्रमण भगवान् द्वारा समर्थन

स्थविर—आर्यो! संयम का फल है 'अनाश्रव' और तप का फल है 'निर्जरा'।

श्रमणो०—भगवन्! यदि संयम का फल अनाश्रव और तप का फल 'निर्जरा' है तो देवलोक में देव किस कारण से उत्पन्न होते हैं?

कालियपुत्र स्थविर—आर्यो ! प्राथमिक तप से देवलोक में देव उत्पन्न होते हैं।

मेहिल स्थविर—आर्यो ! प्राथमिक संयम से देवलोक में देव उत्पन्न होते हैं।

आनन्दरक्षित स्थविर—आर्यो ! कार्मिकता से देवलोक में देव उत्पन्न होते हैं।

काश्यप स्थविर—आर्यो ! संगिकता (आसक्ति) से देवलोक में देव उत्पन्न होते हैं। पूर्वतप, पूर्वसंयम, कार्मिकता और संगिकता से देवलोक में देव उत्पन्न होते हैं।

स्थविरों के उत्तर सुनकर श्रमणोपासक बहुत प्रसन्न हुए और स्थविरों को वन्दन कर अपने-अपने स्थान पर गये। बाद में स्थविर भी वहाँ से विहार कर अन्यत्र चले गये।

उसी समय इन्द्रभूति गौतम भगवान् की आज्ञा ले राजगृह में भिक्षाचर्या के लिए निकले, ऊँच, नीच, मध्यम-कुलों में भिक्षाटन करते हुए उन्होंने पूर्वोक्त पार्श्वापत्य स्थविरों से तुंगीया के श्रमणोपासकों द्वारा पूछे गये प्रश्नों और स्थविरों की तरफ से दिये गये उनके उत्तरों के विषय में लोकचर्चा सुनी। इस पर गौतम को कुछ संदेह हुआ और स्थविरों के उत्तर ठीक हैं या नहीं इसका निर्णय करने का विचार कर वे भगवान् के पास गये। भिक्षाचर्या की आलोचना करने के बाद उन्होंने पूछा—भगवन् ! मैंने राजगृह में स्थविरों के प्रश्नोत्तर संबन्धी जो चर्चा सुनी है क्या वह ठीक है ? स्थविरों ने जो उत्तर दिये क्या वे ठीक हैं ? ऐसे उत्तर देने में वे समर्थ हो सकते हैं ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! तुंगीयानिवासी श्रमणोपासकों के प्रश्नों के पार्श्वापत्य स्थविरों ने जो उत्तर दिये हैं वे यथार्थ हैं। उन्होंने जो कुछ कहा सत्य है। हे गौतम ! इस विषय में मेरा भी यही सिद्धान्त है कि पूर्वतप तथा पूर्वसंयम से देव देवलोक में उत्पन्न होते हैं[1]।

---

१ (भ० श० २, उ० ५, प० १३८–१४०)

इसी वर्ष में भगवान् के शिष्य वेहास, अभय आदि अनगारों ने राजगृह के पार्श्ववर्ती विपुल पर्वत पर अनशन कर देवपद प्राप्त किया। वर्षा चातुर्मास्य भगवान् ने राजगृह में किया। चातुर्मास्य समाप्त होते ही भगवान् ने चम्पा नगरी की ओर विहार कर दिया। मगधपति श्रेणिक के देहावसान के बाद कोणिक ने चम्पा को अपनी राजधानी बनाया था, इस कारण मगध का राजकुटुम्ब चम्पा में ही रहता था। भगवान् भी उसी चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में ठहरे।

२५–पचीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४८८–४८७)

राजा कोणिक ने बड़ी सजधज के साथ भगवान् का स्वागत किया। सम्पूर्ण नगर राजा का अनुगामी बनकर भगवान् को वन्दन नमस्कार करने के लिए गया। भगवान् ने कोणिक तथा नागरिकगण के सामने निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश किया, जिससे अनेक भव्यात्माओं को जिन-धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न हुई और अनेक गृहस्थों ने मुनि-धर्म अंगीकार किया। मुनिधर्म अंगीकार करनेवालों में पद्म, महापद्म, भद्र, सुभद्र, पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनीगुल्म, आनन्द और नन्दन के नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी मगधपति श्रेणिक के पौत्र थे। इनके पिता क्रमशः काल, सुकाल, महाकाल, कृष्ण, सुकृष्ण, महाकृष्ण, वीरकृष्ण, रामकृष्ण, पितृसेनकृष्ण और महासेनकृष्ण नाम के श्रेणिक के पुत्र थे जो कोणिक के षड्यंत्र में शामिल होकर श्रेणिक को पदच्युत करने में सहायक बने थे। इसके अतिरिक्त जिनपालित आदि अनेक समृद्ध नागरिकों ने भी भगवान् के पास निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म अंगीकार किया और पालितादि अनेक गृहस्थों ने श्राद्धधर्म को ग्रहण किया।

चम्पा से श्रमण भगवान् विदेह भूमि में विचरे। बीच में काकन्दी में गाथापति क्षेमक, धृतिधर आदि को श्रमणधर्म में दीक्षित किया। इस साल का वर्षावास भगवान् ने मिथिला में किया। चातुर्मास्य के अन्त में भगवान् ने अंगदेश की तरफ विहार किया। इन दिनों विदेह की राजधानी वैशाली रणभूमि बनी हुई थी। एक ओर मगधपति कोणिक और उसके काल आदि दस सौतेले भाई अपने-अपने दलबल के

२६–छब्बीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४८७–४८६)

साथ वैशाली पर चढ़ गये थे दूसरी ओर वैशालीपति चेटकराज और काशि-कोशल के अठारह गणराज अपनी-अपनी सेनाएँ सजाकर बचाव के लिये तैयार खड़े थे। बड़े जोरों से संग्राम छिड़ा और प्रतिदिन सैनिक और प्रधान पुरुषों का क्षय होने लगा।

कोणिक ने अपने विमातृक भाई कालकुमार को अपना सेनापति नियुक्त किया। पहले ही दिन राजा चेटक के बाण से वह मारा गया।

दूसरे धावे में कोणिक ने सुकाल नामक अपने भाई को सेनानायक बनाया और वह भी युद्ध में काम आया।

क्रमशः कोणिक के दसों सौतेले भाई मुख्य सेनापति बन बनकर रण में काम आ चुके थे। फिर भी लड़ाई बड़े जोरों से चल रही थी।

इसी समय भगवान् महावीर चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में पधारे। नागरिकजन भगवान् के दर्शन-वन्दनार्थ गये जिनमें राजकुलीन स्त्रियों का समुदाय भी शामिल था।

राजकुलीन स्त्रियों में राजा श्रेणिक की काली आदि विधवा रानियाँ भी शामिल थीं, जिनके पुत्र वैशाली की लड़ाई में गये हुए थे।

भगवान् ने सभाजनों के समक्ष धर्मदेशना की जिसे सुनकर सभा विसर्जित हुई।

तब अवसर पाकर काली आदि राजमाताओं ने भगवान् से पूछा— भगवन्! कालकुमार आदि लड़ाई में गये हुए हैं। क्या वे सकुशल वापस लौटेंगे?

भगवान् ने उन्हें वस्तुस्थिति से परिचित कराया और उन्हें संसार की असारता और संयोगों की वियोगान्तता का दिग्दर्शन कराया, जिससे प्रतिबोध पाकर काली आदि दस राजमाताओं ने भगवान् के पास श्रमणधर्म की दीक्षा ले श्रमणी-संघ में प्रवेश किया।

कुछ समय तक चम्पा में ठहरकर भगवान् वापस मिथिला की तरफ विहार कर गये। वर्षावास मिथिला में व्यतीत किया।

२७–सत्ताइसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४८६–४८५)

मिथिला में चातुर्मास्य समाप्त कर भगवान् ने वैशाली के निकट होकर श्रावस्ती की तरफ विहार किया। कोणिक के भाई वेहास (हल्ल),

वेहल्ल जिनके निमित्त वैशाली में युद्ध हो रहा था किसी तरह भगवान् के पास पहुँचे और निर्ग्रन्थ श्रमण धर्म की दीक्षा लेकर उनके शिष्य हो गये।

भगवान् विचरते हुए श्रावस्ती पहुँचे और श्रावस्ती के ईशान कोणस्थित कोष्टक चैत्य में ठहरे।

उन दिनों मंखलिपुत्र गोशालक भी श्रावस्ती में था। महावीर से जुदा होने के बाद वह अधिकांश श्रावस्ती की तरफ ही घूमता था।

गोशालक प्रकरण

तेजोलेश्या और निमित्तशास्त्र का अभ्यास गोशालक ने श्रावस्ती में ही किया था और अपने को 'तीर्थंकर' नाम से प्रकट करने की भावना भी उसे श्रावस्ती में जागृत हुई थी।

श्रावस्ती में दो मनुष्य गोशालक के परम भक्त थे। एक 'हालाहला' कुम्हारिन और दूसरा 'अयंपुल' नामक गाथापति। गोशालक जब कभी श्रावस्ती में आता इसी हालाहला की भाण्डशाला में ठहरता।

जब भगवान् महावीर को दीक्षा लिए करीब दो वर्ष होने आये थे तब गोशालक उनका स्वयंभू शिष्य बना था, और लगभग छः वर्ष तक साथ रहने के बाद वह उनसे पृथक् हो गया था, जिस बात को भी करीब अठारह वर्ष पूरे हो चुके थे। गोशालक को श्रमण बने करीब चौबीस वर्ष हो चुके थे। २४ वाँ वर्षा चातुर्मास्य उसने श्रावस्ती में हालाहला की भाण्डशाला में ही किया था। चातुर्मास्य समाप्त हो चुका था फिर भी गोशालक अभी श्रावस्ती में ही ठहरा हुआ था।

जब तक गोशालक भगवान् महावीर के साथ रहा उसमें चपलता और कुतूहलवृत्ति अधिक रही और सब से अधिक रहा महावीर विषयक भक्ति-भाव। कहीं कुछ भी प्रसंग आता और गोशालक अपने धर्माचार्य भगवान् महावीर के तपस्तेज की स्तुति करने लगता। यही नहीं इनके मुकाबले में अन्य श्रमण-निर्ग्रन्थों का तिरस्कार तक कर देता, पर जिस समय की हम बात कर रहे हैं उस समय में ये सब बातें इतिहास बन चुकी थीं। पग पग पर महावीर के तपस्तेज की दुहाई देनेवाला गोशालक अब आजीवक मत का धर्माचार्य था। वह अपने को तीर्थंकर के नाम से प्रख्यात करता हुआ आजीवक मत का प्रचार कर रहा था।

इसी अवसर में श्रमण भगवान् महावीर भी विचरते हुए श्रावस्ती

के ईशान कोणस्थित कोष्ठक चैत्य में पधारे। आपके मुख्य शिष्य इन्द्र-भूति गौतम आपकी आज्ञा ले भिक्षाचर्यार्थ श्रावस्ती में गये। वस्ती में फिरते हुए गौतम ने अनेक स्थानों पर जनप्रवाद सुना—'आजकल श्रावस्ती में दो तीर्थंकर विचर रहे हैं—एक श्रमण भगवान् महावीर और दूसरे मंखलि श्रमण गोशालक।' गौतम को इस बात से बड़ा आश्चर्य हुआ कि श्रावस्ती में अनेक लोग गोशालक को तीर्थंकर और सर्वज्ञ पुकार रहे हैं। वे भिक्षाभ्रमण से निवृत्त होकर कोष्ठकोद्यान में आये और सभाके समक्ष इस विषय को छेड़ते हुए बोले—भगवन्! आजकल श्रावस्ती में दो तीर्थंकर होने की चर्चा हो रही है, यह कैसे? क्या गोशा-लक सर्वज्ञ और तीर्थंकर है?

इन्द्रभूति गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—गौतम! गोशालक के विषय में जो बातें हो रही हैं वे सब मिथ्या हैं। गोशालक जिन, तीर्थंकर कहलाने के योग्य नहीं है। वह जिन शब्द का दुरुपयोग कर रहा है। गौतम! गोशालक जिन या सर्वज्ञ कुछ भी नहीं है। यह शरवनग्राम के बहुल ब्राह्मण की गोशाला में जन्म लेने से गोशालक और मंखलि नामक मंख का पुत्र होने से मंखलिपुत्र कहलाता है। यह आज से चौबीस वर्ष पहले हमारा धर्मशिष्य होकर हमारे साथ रहता था परन्तु कुछ वर्षों के बाद यह हम से जुदा हो गया और तब से वह स्वच्छन्द विचरता है, स्वच्छन्द ही बोलता है।

गौतम को उत्तर देते हुए महावीर ने गोशालक संबन्धी सब हाल सभा के सामने प्रकट कर दिया। सुननेवाले अपने अपने स्थानों की ओर चल दिए। गोशालक उस समय कोष्ठकोद्यान और श्रावस्ती के मध्य-प्रदेश में नगर के बाहर आतापना कर रहा था। उसके पास से जाते हुए नगरवासियों में गौतम और महावीर के प्रश्नोत्तरों की चर्चा हो रही थी—'महावीर के कथनानुसार गोशालक मंखलिपुत्र है। वह तीर्थंकर जिन नहीं, छद्मस्थ मनुष्य है।' ये शब्द वहाँ खड़े गोशा-लक के कानों तक पहुँचे। वह कुपित होकर वहाँ से जल्दी-जल्दी श्रावस्ती की तरफ चला और अपने निवास-स्थान हालाहला की भाण्डशाला में जाकर अपने शिष्य समुदाय के साथ मंत्रणा करने बैठा।

उस समय महावीरके शिष्य आनन्द नामक अनगार भिक्षाचर्याके लिए घूमते हुए गोशालक के निवास स्थान के आगे होकर जा रहे थे। गोशालक देखते ही उन्हें रोक कर बोला—देवानुप्रिय आनन्द ! जरा ठहर और एक बात कहता हूँ, उसे सुन।

पूर्व समय की बात है। एक नगर में रहनेवाले कुछ व्यापारी किराने की गाड़ियाँ भर व्यापार के लिए परदेश चले। चलते हुए वे एक भयंकर जंगल में पहुँचे। व्यापारी उसे लाँघते हुए आगे बढ़ते चले पर कहीं भी उस जंगल का अन्त आता दिखायी नहीं दिया। उनके पास का पानी समाप्त हो चुका था और वे उस भीषण जंगल में पानी की खोज में इधर-उधर घूमने लगे। घूमते फिरते वे एक हरियालीवाले निम्नप्रदेश में पहुँचे। वहाँ जल तो नहीं पर जलार्द्र चार बाँबी मिलीं। व्यापारियों ने एक बाँबी को खोदा तो उसके नीचे से स्वच्छ जल निकला। सब ने जल पिया और अपने अपने बरतनों में भी भर लिया। तब उनमें से एक सुबुद्धि वणिक ने कहा—अब चलिये, अपना काम हो गया। पर लोभी वणिक बोले—पहले वल्मीक में से जल निकला है तो दूसरे में से सुवर्ण आदि कुछ बहुमूल्य पदार्थ निकलेगा यह कहते हुए उन्होंने दूसरा वल्मीक तोड़ा और उसमें से सोना ही निकला। लोभियों का लोभ बढ़ा। वे बोले—पहले में से जल और दूसरे में से सोना निकला है तो तीसरे में से अवश्य ही मणिरत्न निकलेंगे। सुबुद्धि ने कहा—अतिलोभ को छोड़िये। सोना हाथ लगा है इसे लेकर चलें, पर लोभियों ने उसकी एक न सुनी और तीसरा वल्मीक भी तोड़ डाला और सचमुच ही उसमें से मणिरत्नों का खजाना निकला। लोभी वणिक बोले—आइये, अब इस आखिरी वल्मीक में से हीरे निकाल लें। सुबुद्धि ने कहा—अतिलोभ को छोडोगे भी ? यह आखिरी वल्मीक है, न मालूम हीरों के स्थान कहीं विषधर साँप ही निकल पड़े ! जो मिला है वही बहुत है। अब अति लोभ करना अच्छा नहीं। पर लोभी वणिक उसकी कब सुननेवाले थे ! उन्होंने चौथा वल्मीक भी तोड़ ही दिया और उसमें से जो दृष्टिविष सर्प निकला उसके दृष्टिपात मात्र से वे सब जल कर खाक हो गये। केवल

वह संतोषी सुबुद्धि वणिक, जो उनका हित-शिक्षक था, उस उत्पात से बचने पाया।

आनन्द! उक्त उपमा तेरे धर्माचार्य को बराबर लागू होती है। तेरे धर्माचार्य श्रमण ज्ञातपुत्र को आज संपूर्ण लाभ मिल चुके हैं, फिर भी उन्हें संतोष नहीं। मानों संसार में वे आप ही अद्वितीय जिन हैं, दूसरा कोई भी उनके मुकाबले में हो ही नहीं सकता। जहाँ तहाँ वे मेरे संबंध में कहते फिरते हैं—'यह गोशालक है, मंखलिपुत्र है, मेरा शिष्य है, छद्मस्थ है।' ठीक है, आनन्द! अब तू जा और अपने गुरु को सावधान कर दे। मैं आता हूँ और विपरीत भाषी तेरे धर्माचार्य को उन दुर्बुद्धि वणिकों की सी दशा करता हूँ।

गोशालक का क्रोधपूर्ण भाषण सुनकर अनगार आनन्द भयभीत हो गया। वह जल्दी जल्दी महावीर के पास गया और गोशालक की सब बातें कहकर बोला—भगवन्! गोशालक अपने तपस्तेज से किसीको जलाकर भस्म करने में क्या समर्थ है? किसीको एकदम जलाकर खाक कर देना क्या गोशालक की शक्ति का विषय है?

भगवान् ने कहा—हाँ, आनन्द! अपने तपस्तेज से एकदम जलाकर भस्म कर देने में गोशालक समर्थ है। वैसा करना गोशालक की शक्ति का विषय है। फिर भी यह तेजःशक्ति तीर्थंकर को जला नहीं सकती। आनन्द! जितना तपोबल गोशालक में है उससे अनन्तगुना तपोबल निर्ग्रन्थ अनगारों में है पर अनगार क्षमाशील होते हैं, वे अपनी तपःशक्ति का उपयोग नहीं करते। जो तपः-सामर्थ्य अनगारों में है उससे अनन्तगुना सामर्थ्य भगवान् स्थविरों में है पर स्थविर क्षमावान् होते हैं, वे अपने सामर्थ्य का प्रयोग नहीं करते। और जितनी तपोलब्धि स्थविरों में है उससे अनन्तगुनी अधिक तपोलब्धि भगवान् अर्हन्तों में होती है पर भगवान् अर्हन्त क्षमावान् होते हैं, वे अपनी तपोलब्धि का उपयोग नहीं करते।

आनन्द! इस बात की सूचना गौतमादि स्थविरों को कर दे और उन्हें कह दे कि गोशालक इधर आ रहा है। इस समय वह द्वेष और म्लेच्छभाव से परिपूर्ण है। इसलिये आकर वह कुछ भी कहे, कुछ भी

करे पर तुम्हें उसका प्रतिवाद नहीं करना चाहिये,-यहाँ तक कि तुममें से कोई भी उसके साथ धार्मिक चर्चा तक न करे।

अनगार आनन्द ने भगवान् का संदेश गौतम प्रमुख मुनिमण्डल को सुना दिया और सब अनगार अपने अपने कार्यों में प्रवृत्त हो गये।

अनगार आनन्द को आये अभी अधिक समय नहीं हुआ था कि गोशालक भी अपने आजीवक भिक्षुसंघ के साथ महावीर के पास पहुँचा और उनसे थोड़ी दूरी पर ठहर गया।

क्षण भर मौन रखने के बाद गोशालक महावीर को लक्ष्य कर बोला—तुमने खूब कहा काश्यप ! मैं गोशालक मंखलिपुत्र हूँ ? मैं तुम्हारा धर्मशिष्य हूँ ? कितना अन्धेर है ? आयुष्मन् ! तुम्हें पता भी है कि तुम्हारा शिष्य वह मंखलिपुत्र गोशालक कभी का परलोक सिधार चुका है ! आर्य काश्यप ! मैं तुम्हारा शिष्य मंखलि गोशालक नहीं पर एक भिन्न ही आत्मा हूँ। यद्यपि मैंने परीपहक्षम गोशालक का शरीर धारण किया है फिर भी मैं गोशालक नहीं, किन्तु गोशालक-शरीर-प्रविष्ट उदायी कुण्डियायन नामक धर्मप्रवर्तक हूँ। यह मेरा सातवाँ शरीरान्तर-प्रवेश है। इस प्रकार मैंने अन्यान्य शरीरों में प्रवेश क्यों किया ? यह प्रश्न हो सकता है और इसका कारण अपने धर्मसिद्धान्त के अनुसार समझाऊँगा।

आर्य ! हमारे धर्म में जो मोक्ष गये हैं, जाते हैं और भविष्य में जायेंगे वे सब चौरासी लाख महाकल्पों के उपरान्त सात दिव्य सांयूथिक और सात संनिगर्भक भव करने के बाद सात शरीरान्तर-प्रवेश करके पँसठ लाख साठ हजार छः सौ तीन (६५६०६०३) कर्मांशों का क्षय करके गये हैं, जाते हैं और जायेंगे।

आयुष्मन् ! हमारे महाकल्प और मानस आदि क्या हैं, सो सुनिये।

हमारी शास्त्रीय परिभाषा में साढ़े चार सौ योजन लम्बी, आधा-योजन चौड़ी और पाँच सौ धनुष्य गहरी नदी का नाम गंगा है।

७ गंगा = १ महागंगा।

७ महागंगा = १ सादीन गंगा।

७ सादीन गंगा = १ मृत्यु गंगा।

७ मृत्यु गंगा = १ लोहित गंगा।
७ लोहित गंगा = १ आवती गंगा और
७ आवती गंगा = १ परमावती गंगा।

इस प्रकार एक से दूसरी का सात-सात गुना प्रमाण मानने से अन्तिम परमावती गंगा का प्रमाण एक लाख सत्रह हजार छः सौ उनचास (११७६४९) गंगाओं के बराबर हुआ।

इन सब गंगाओं के वालुकापिण्ड में से प्रतिशत वर्ष में एक बालुका कण के निकालने पर जितने समय में संपूर्ण वालुकापिण्ड निकल चुके उतने काल का नाम हमारे शास्त्र में सरःप्रमाण अथवा मानससर कहलाता है।

ऐसे तीन लाख 'सरों' अथवा 'मानसों' का एक 'महाकल्प' और चौरासी लाख 'महाकल्पों' का एक 'महामानस' होता है।

जब जीव मोक्षाभिमुख होता है तब अनन्त संयूथ (अनन्त जीव राशि) में से निकलकर पहले वह मानस प्रमाण आयुष्यवाले ऊपर के संयूथ में (देवलोक में) उत्पन्न होता है और वहाँ दिव्य सुख भोगने के बाद पहला मनुष्य जन्म प्राप्त करता है।

फिर वह मानसप्रमाण आयुष्यवाले मध्यम देव संयूथ में जाता है और वहाँ दिव्य सुख भोगकर दूसरा मनुष्य भव करता है।

इसके बाद वह मानस प्रमाण आयुष्यवाले नीचे के देवसंयूथ में देवगति को प्राप्त होता है और वहाँ से निकलकर तीसरा मनुष्य जन्म ग्रहण करता है।

बाद में वह ऊपर के मानसोत्तर देव संयूथ में मानसोत्तर अर्थात् महामानस प्रमाण आयुष्यवाला देव होकर फिर चौथा मनुष्य भव प्राप्त करता है।

वहाँ से मध्य मानसोत्तर संयूथ में देव होता है और फिर पाँचवाँ मनुष्य जन्म पाता है।

फिर वह उससे नीचे मानसोत्तर संयूथ में देवपद प्राप्त करता है और वहाँ के दिव्य सुख भोगकर छठीबार मनुष्य जन्म धारण करता है।

छठा मनुष्यभव पूरा करके वह दस सागरोपम प्रमाण आयुष्य

स्थितिवाले ब्रह्मदेवलोक में सुकुमारदेव होता है और वहाँ दस सागर समय पर्यन्त दिव्य सुखों का उपभोग करके वह सातवाँ मनुष्य भव ग्रहण करता है।

सातवें मनुष्य भव में वह बाल्यावस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण कर लेता है और धर्माराधन कर अन्त में एक के बाद दूसरा ऐसे सात शरीरान्तर-प्रवेश करता है और उन शरीरों में क्रमशः बाईस, इक्कीस, बीस, उन्नीस, अठारह, सत्रह और सोलह वर्ष तक रहता है।

इस प्रकार सात शरीरान्तर-प्रवेश करके एक सौ तेंतीस वर्ष तक उनमें रहने के बाद वह पवित्र आत्मा सर्व कर्मों का नाश करके दुःखों से मुक्त हो जाता है।

काश्यप! उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार मैंने सात दिव्य सांयूथिक और सात मनुष्य भव कर लिये हैं और सातवें मनुष्य भव में सात शरीरान्तर-प्रवेश भी कर चुका हूँ, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१—सातवें मनुष्य भव में मैं उदायी कुंडियायन था। राजगृह नगर के बाहर मंडितकुक्षि-चैत्य में उदायी कुंडियायन का शरीर छोड़ कर मैंने ऐणेयक के शरीर में प्रवेश किया और बाईस वर्ष तक उसमें रहा।

२—उद्दंडपुर नगर के चन्द्रावतरण चैत्य में ऐणेयक का शरीर छोड़ा और मल्लराम के शरीर में प्रवेश कर इक्कीस वर्ष उसमें रहा।

३—चम्पानगरी के अंगमंदिर चैत्य में मल्लराम का शरीर छोड़ कर माल्यमंडित के शरीर में प्रवेश किया और बीस वर्ष उसमें रहा।

४—वाराणसी नगरी के काम महावन में माल्यमंडित का शरीर छोड़ कर रोह के शरीर में प्रवेश किया और उन्नीस वर्ष उसमें रहा।

५—आलभिका नगरी के पत्तकालय चैत्य में रोह के शरीर से निकल कर भारद्वाज के शरीर में प्रवेश किया और अठारह वर्ष वहाँ रहा।

६—वैशाली नगरी के कोण्डियायन चैत्य में गौतमपुत्र अर्जुन के शरीर में प्रवेश कर सत्रह वर्ष उसमें रहा।

७—श्रावस्ती में हालाहला की भाण्डशाला में अर्जुन के शरीर से निकल स्थिर, दृढ़ तथा कष्टक्षम इस गोशालक के शरीर में प्रवेश किया

है। इस शरीर में सोलह वर्ष तक रहने के उपरान्त सर्व दुःखों का अन्त करके मुक्त हो जाऊँगा।

आर्य काश्यप ! अब तुम जान गये होगे कि मैं कौन हूँ। तुम मुझे गोशालक के नाम से पुकारते हो पर मैं वास्तव में गोशालक नहीं, गोशालक शरीरधारी उदायी कुण्डियायन हूँ।

गोशालक का उक्त आत्मगोपक भाषण सुनने के बाद महावीर ने कहा—गोशालक ! जैसे कोई चोर एक आध ऊन के रेशे से, सन के रेशे से अथवा रुई के पहले से अपने को ढक कर मान ले कि मैं ढक गया वैसे ही तू दूसरा न होते हुए भी 'दूसरा हूँ' कह कर अपने को छिपाना चाहता है। महानुभाव, इस प्रकार अपनी आत्मा को छिपाने का व्यर्थ प्रयत्न न कर ! तू वही मंखलिपुत्र गोशालक है जो मेरा शिष्य होकर रहा था। महानुभाव ! तुझे इस प्रकार आत्मगोपन करना उचित नहीं है।

महावीर के इन सत्य वचनों से अतिक्रुद्ध होकर तुच्छ और कठोर वचनों की बौछार करता हुआ बोला—धृष्ट काश्यप ! अब तेरा विनाशकाल आ पहुँचा है। अब तू भ्रष्ट होने की तैयारी में है। अब समझ ले कि तू इस दुनिया में था ही नहीं। मेरी तरफ से तुझे सुख नहीं है, काश्यप।

गोशालक के ये अपमानजनक वचन महावीर के विनीत और भद्र शिष्य सर्वानुभूति अनगार से न सहे गये। वे उठ कर गोशालक के पास जाकर बोले—महानुभाव गोशालक ! यदि कोई व्यक्ति किसी पवित्र साधु महात्मा से एक भी धार्मिक वचन सुनता है तो वह उन्हें वन्दन नमस्कार करता है और तुमको तो इन भगवान् ने ही दीक्षा दी और भगवान् ने ही योग्य शिक्षा तथा श्रुतज्ञान दिया है फिर इनके ऊपर तुम ऐसा म्लेच्छभाव रखते हो ! महानुभाव ! ऐसा न करो, ऐसा करना तुम्हें उचित नहीं है।

सर्वानुभूति की इस हितशिक्षा ने गोशालक की क्रोधाग्नि में घृताहुति का काम किया। शान्त होने के बदले उसका क्रोध और भी बढ़ गया। उसने अपनी तेजोलेश्या को एकत्र करके सर्वानुभूति अनगार पर छोड़ दिया। तेजोलेश्या की प्रचण्ड ज्वालाओं से मुनि का शरीर जल

कर भस्म हो गया और उनकी आत्मा सहस्रार देवलोक में देवपद को प्राप्त हुई।

गोशालक फिर महावीर को धिक्कारने लगा। यह देख कौशलिक सुनक्षत्र अनगार की सहिष्णुता टूट गई। अपने परमगुरु के अपमान से उत्तेजित होकर वे उठे और सर्वानुभूति की ही तरह गोशालक को हितवचन कहने लगे। गोशालक ने इनके ऊपर भी तेजोलेश्या छोड़ी और सुनक्षत्र उससे घायल होकर गिर पड़े। वे अपने धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन कर अपने सतीर्थ्य साधु साध्वियों के साथ क्षमापन करते हुए प्राणमुक्त होकर अच्युत देवलोक में देवपद को प्राप्त हुए।

निरपराध दो मुनियों के बलिदान से भी गोशालक की क्रोधज्वाला शान्त नहीं हुई। वह क्रोधावेश में अनर्गल बक रहा था। यह देखकर भगवान् महावीर ने कहा—गोशालक! एक अक्षर देनेवाला भी विद्या-गुरु कहलाता है, एक भी आर्यधर्म-का वचन सुनानेवाला धर्मगुरु माना जाता है। मैंने तो तुझे दीक्षित और शिक्षित किया है, मैंने ही तुझे पढ़ाया और मेरे ही साथ तेरा यह बरताव! गोशालक, तू अनुचित कर रहा है। महानुभाव! तुझे ऐसा करना उचित नहीं।

महावीर के हितवचनों का भी विपरीत परिणाम हुआ। शान्त होने के स्थान पर गोशालक अधिक उत्तेजित हो गया। वह अपने स्थान से सात आठ कदम पीछे हटा और तेजःसमुद्घात करने लगा। उसने क्षण भर में अपनी तेजःशक्ति को भगवान् महावीर के ऊपर छोड़ दिया। उसका अटल विश्वास था कि इस प्रयोग से वह अपने प्रतिपक्ष का अन्त कर देगा, पर उसकी धारणा निष्फल सिद्ध हुई। पहाड़ से टकराती हुई हवा की तरह गोशालक-निसृष्ट तेजोलेश्या महावीर से टकराकर चक्कर काटती हुई ऊँची चढ़कर वापस गोशालक के शरीर में घुस गई। तेजोज्वाला के शरीर में घुसते ही जलता और आकुल होता हुआ गोशालक बोला—आयुष्मन् काश्यप! मेरे तपस्तेज से तेरा शरीर व्याप्त हो गया है। अब तू पित्त और दाह ज्वर से पीड़ित होकर छः महीनों के भीतर छद्मस्थ दशा में ही मृत्यु को प्राप्त हो जायगा।

श्रमण भगवान् ने कहा—गोशालक तेरे तपस्तेज से मेरा नहीं, तेरा खुद का ही शरीर दग्ध हो गया है। मैं तो अभी सोलह वर्ष तक इस भूमंडल पर सुखपूर्वक विचरूँगा और तू स्वयं ही पित्तज्वर की पीड़ा से सात दिन के भीतर छद्मस्थावस्था में मृत्यु को प्राप्त होगा। गोशालक तूने बुरा किया। देवानुप्रिय ! इस कार्य का तुझे पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

महावीर और गोशालक के इस विवाद के समाचार उद्यान से नगर तक पहुँच गये। लोग कहने लगे—आज कोष्टकोद्यान में दो जिनों के बीच वाद हो रहा है। एक कहता है तू पहले मरेगा और दूसरा कहता है तू। भला इनमें सत्यवादी कौन होगा और मिथ्यावादी कौन ? इस पर समझदार मनुष्य कहते कि इसमें संशय की बात क्या हैं ? भगवान् महावीर ही तीर्थंकर और सर्वज्ञ हैं और वे ही सत्यवादी हैं। गोशालक जिन नहीं पाखण्डी है और वही मिथ्यावादी है। श्रावस्ती के प्रत्येक चौक और मुहल्ले में ये बातें हो रही थीं।

अब गोशालक की तेजोलेश्या क्षीण हो चुकी थी। वह निर्विष नाग की तरह निस्तेज हालत में महावीर के सामने खड़ा था। इस समय अपने अनगार शिष्यों को संबोधन करते हुए भगवान् ने कहा—आयुष्मन् श्रमणो ! अग्नि से जली हुई घास जिस तरह निस्तेज हो जाती है उसी तरह गोशालक अब तेजोलेश्या से हीन हो गया है। अब इसके साथ तुम कुछ भी प्रश्नोत्तर करके इसे पराजित कर सकते हो। अब इसके साथ धार्मिक विवाद करने में तुम्हें कोई भय नहीं।

भगवान् महावीर की आज्ञा पाते ही निर्ग्रन्थ श्रमण गोशालक के पास जाकर उससे धार्मिक प्रश्नोत्तर करने लगे पर गोशालक इस चर्चा में अपना पक्ष-समर्थन नहीं कर सका। अपने धर्माचार्य की इस कमजोरी को देखकर उसके कितने ही शिष्यों ने आजीवक संप्रदाय का त्याग कर भगवान् महावीर के पास निर्ग्रन्थ प्रवचन को स्वीकार किया। इस घटना से गोशालक के धैर्य का अन्त हो गया। उसने अपनी भय-कातर दृष्टि चारों ओर फेंकी और 'हाय मरा' इस प्रकार की करुण चीख के बाद वहाँ से लौट कर वह अपने स्थान गया।

गोशालक की अवस्था बड़ी दयनीय हो रही थी। अपनी तेजोलेश्या

के प्रवेश से उसके शरीर में असह्य पीड़ा हो रही थी जिसे शान्त करने के लिये गोशालक विविध उपाय कर रहा था। एक आम की गुठली अपने हाथ में लेकर उसे बार बार चूसता, आन्तर वेदना को दबाने के लिये बार-बार मदिरा पान करता, शारीरिक ताप शान्त करने के लिये अपने शरीर पर मिट्टी मिला जल सींचता, क्षण-क्षणमें उन्मादवश हो नाचता गाता और हालाहला को नमस्कार करता हुआ वह बड़े कष्ट से समय व्यतीत करने लगा।

उस समय श्रावस्ती निवासी आजीवकोपासक अयंपुल गाथापति को 'हल्ला' वनस्पति के संस्थान के विषय में शंका उत्पन्न हुई कि 'हल्ला' का आकार कैसा होता होगा। यह तर्क उसके हृदय में पिछली रात को उठा और प्रभात समय अपने धर्माचार्य से इसका खुलासा पूछने के विचार से वह हालाहला की भाण्डशाला में गया, पर गोशालक की तत्कालीन उन्मत्त दशा को देखते ही लज्जित होकर वह पीछे हटा। आजीवक भिक्षु अयंपुल का मनोभाव ताड़ गये। उन्होंने तुरंत उसे अपने पास बुलाया और बातचीत में आगमन का कारण जान लिया।

गोशालक के तत्कालीन आचरणों का बचाव करते हुए भिक्षुओं ने उसे कहा—अयंपुल! अपने धर्माचार्य को तुमने जिस स्थिति में देखा है उसके संबंध में उनका यह कहना है कि ये आठ बातें अन्तिम तीर्थंकर के समय में अवश्यंभावी होती हैं, जैसे—१ चरम पान, २ चरम गान, ३ चरम नृत्य, ४ चरम अञ्जलि-कर्म (नमस्कार) ५ चरम पुष्कर संवर्तक महामेघ, ६ चरम सेचनक गन्धहस्ती, ७ चरम महाशिला कंटक संग्राम और ८ चरम 'मैं तीर्थंकर'। ये आठों ही वस्तु चरम (अन्तिम) हैं, इस अवसर्पिणी काल में ये फिर होनेवाली नहीं।

आर्य अयंपुल, जल के विषय में भगवान् का कथन यह है कि भिक्षु के काम में आने योग्य चार तो पेय जल होते हैं और चार अपेय।

पेय जल ये हैं—१ गोपृष्ठज, २ हस्तमर्दित, ३ आतपतप्त और ४ शिलाप्रभ्रष्ट।

१—गौ के पीठ का स्पर्श करके गिरा हुआ जल 'गोपृष्ठज।'

२—मिट्टी आदि पदार्थों से लिप्त हाथों से बिलोड़ा हुआ जल 'हस्तमर्दित।'

३—सूर्य और अग्नि के ताप से तपा हुआ जल 'आतपतप्त', और

४—पत्थर, शिला के ऊपर से जोर से गिरा हुआ जल 'शिला-प्रभ्रष्ट' कहलाता है।

पिये न जा सकें पर किसी अंश में जल का काम दें वैसे चार अपेय जल इस प्रकार कहे हैं—स्थाल जल, २ त्वचा जल, ३ फली जल और ४ शुद्ध जल।

१—जल से भीगी खस की टट्टी और जलार्द्र घट वगैरह पदार्थ जिनका शीतल स्पर्श दाह की शान्ति करता है "स्थाल जल" कहलाता है।

२ कच्चे आम, वेर वगैरह जिनको चूसकर शीतलता प्राप्त की जाती है "त्वचा जल" कहलाता है।

३ मूँग, उड़द, वगैरह की कच्चा फली को मुख में चबाकर जो शीतलता प्राप्त की जाती है उसको "फली जल" कहते हैं।

४ कोई मनुष्य छः मास तक शुद्ध खाद्य वस्तु का सेवन करे। इस बीच दो मास जमीन पर, दो मास काठ पर और दो मास कुश की पथारी पर सोवे तब छठे महीने की आखिरी रात में पूर्णभद्र और माणिभद्र नामक दो महर्द्धिक देव वहाँ प्रकट होते हैं और अपने जल भीगे शीतल हाथ से साधक के शरीर को छूते हैं। यदि इस स्पर्श-सुख से खुश होकर साधक अनुमोदन करता है तो उसे आशीविष लब्धि प्राप्त होती है अर्थात् उसकी दाढ़ में साँप के विष से भी अधिक उग्र विष प्रकट होता है और जो उन स्पर्शक देवों का अनुमोदन नहीं करता उसके शरीर में अग्निकाय की उत्पत्ति होती है। उस अग्नि से अपने शरीर को जलाकर वह उसी भव में सब दुःखों का अन्त करके संसार से मुक्त हो जाता है। उक्त देव के जल भीगे हाथ का शीतल स्पर्श ही 'शुद्ध जल' कहलाता है।

अयंपुल ! अपने धर्माचार्य ने उपर्युक्त आठ चरम, चार पेय जलों और चार अपेय जलों की प्ररूपणा की है। इस वास्ते वे जो नाच, गान,

पान, अञ्जलिकर्म और शरीर पर मृत्तिका-जल सींचते हैं वह सब ठीक है। ये कार्य अन्तिम तीर्थंकर के अवश्य कर्त्तव्य हैं। इनमें कुछ भी अनुचित नहीं। आर्य अयंपुल ! ख़ुशी से अपने धर्माचार्य के पास जाइये और प्रश्न पूछकर अपनी शंका की निवृत्ति कीजिए।

आजीवक भिक्षुओं ने अयंपुल के मन का समाधान कर उसे गोशालक की तरफ भेजा और उसके वहाँ पहुँचने के पहले ही दूसरे रास्ते से अंदर जाकर गोशालक को उन्होंने सावधान रहने और अमुक प्रश्न का उत्तर देने का इशारा कर दिया।

अयंपुल गोशालक के पास अंदर गया और तीन प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन-नमस्कार करके उचित स्थान पर बैठ गया। वह अभी प्रश्न पूछने ही नहीं पाया था कि गोशालक ने उसकी शंका को प्रकट करते हुए कहा—अयंपुल ! आज पिछली रात को कुटुम्ब-चिन्ता करते हुए तुझे हल्ला के संस्थान के विषय में शंका उत्पन्न हुई और उसका समाधान करने के लिये तू यहाँ आया। क्यों यह ठीक है ?

अयंपुल ने हाथ जोड़ कर कहा—जी हाँ, मेरे अभी यहाँ आने का यही प्रयोजन है।

'परन्तु यह आम की गुठली नहीं उसकी छाल है············क्या कहा—हल्ला का संस्थान कैसा होता है ? हल्ला का संस्थान बाँस के मूल जैसा होता है। ······बीन बजा अरे वीरका ! बीन बजा !'

मदिरा के नशे और दाहज्वर की पीड़ा से विकल गोशालक अयंपुल को उत्तर देता हुआ असंबद्ध प्रलाप कर रहा था तो भी श्रद्धालु अयंपुल पर उसका कुछ भी विपरीत प्रभाव नहीं हुआ। वह अपने धर्माचार्य के उत्तर से संतुष्ट होकर तथा अन्य भी कतिपय प्रश्न पूछ कर उनके उत्तरों से आनन्दित होकर अपने घर गया।

गोशालक की शक्ति प्रतिक्षण क्षीण हो रही थी इससे, और 'तू स्वयं पित्तज्वर की पीड़ा से सात दिन के भीतर छद्मस्थावस्था में मृत्यु को प्राप्त होगा' इस महावीर की भविष्यवाणी के स्मरण से, गोशालक को निश्चय हो गया कि अब उसकी जीवन-लीला समाप्त होने को है। उसने अपने शिष्यों को पास बुलाकर कहा—भिक्षुओ ! मेरे प्राण-त्याग के

बाद मेरे इस शरीर को सुगंधित जल से नहलाना, सुगन्धित कापायवस्त्र से पोंछना और गोशीर्ष चन्दन के रस से विलेपन करना। फिर इसे श्वेत वस्त्र से ढककर हजार पुरुषों से उठाने योग्य पालकी में रखकर श्रावस्ती के मुख्य मुख्य सब चौक बाजारों में फिराना और ऊँचे स्वर से उद्घोषित करना कि 'इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम जिन कर्म खपाकर मुक्त हो गये।'

गोशालक की उक्त आज्ञा को आजीवक स्थविरों ने विनय के साथ सिर पर चढ़ाया।

गोशालक की बीमारी का सातवाँ दिन था। उसका शरीर काफी कमजोर हो गया था पर विचारशक्ति तबतक लुप्त नहीं हुई थी। वह सोता था पर उसके हृदय में जीवन के भले बुरे प्रसंगों की स्मृति चक्कर काट रही थी। अपना मंखजीवन, महावीर के पीछे पड़ कर उनका शिष्य होना, कई बार उसके प्रति बताया हुआ दयाभाव इत्यादि बातें उसके हृदय में ताजी हो रही थीं। साथ ही अपने मुख से की गई महावीर की बुराइयाँ, क्रोधवश हो की हुई सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि की हत्या और महावीर पर तेजोलेश्या छोड़ना इत्यादि कृतघ्नतासूचक प्रवृत्तियाँ भी स्मृतिपट पर ताजी होकर उसके चित्त को आकुल कर रही थीं। पहले केवल शरीर में ही जलन थी पर अब तो उसका मन भी पश्चाताप की आग में जलने लगा। क्षण भर उसने नीरव और निश्चेष्ट होकर हृदयमन्थन किया, फिर अपने शिष्यों को पास बुलाकर कहा—भिक्षुओ! मैं तुम्हें एक कार्य की सूचना करना चाहता हूँ, क्या तुम उस पर अमल करोगे?

स्थविर—अवश्य, आपकी बातों पर अमल करना हमारा सर्वप्रथम कर्तव्य है।

गोशालक—तुम आज्ञाकारी हो! मेरी आज्ञा मानने में तुमने कभी आनाकानी नहीं की, फिर भी मेरे विश्वास के लिए शपथपूर्वक कहो कि मेरा कहना सफल होगा।

स्थविर—हम शपथ-बद्ध होकर कहते हैं कि आपकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करेंगे।

गोशालक—भिक्षुओ ! मैं बड़ा पापी हूँ। मैंने तुम्हें ठगा है। मैंने संसार को भी ठगा है। मैं जिन न होते हुए भी जिन और सर्वज्ञ के नाम से पूजाता रहा हूँ, यह मेरा दंभ था। मैं श्रमणघातक तथा अपने धर्माचार्य की अपकीर्ति करनेवाला हूँ। अब मैं मृत्यु के समीप हूँ और क्षणों में मर जाऊँगा। अब मेरे मरने के बाद तुम्हारा जो कर्तव्य है उसे सुनो—जब मैं मर जाऊँ तो मेरे शव के बाएँ पाँव में मुंज की रस्सी बाँधकर मुख में तीन बार थूकना, फिर उसे खींचते हुए श्रावस्ती के सब चौक बाजारों में फिराना और साथ-साथ उच्च स्वर से उद्घोषित करना—'यह मंखलि गोशालक मर गया ! जिन न होने पर भी जिन होने का ढोंग करनेवाला, श्रमणघातक, गुरुद्रोही गोशालक मर गया।'

भिक्षुओ ! यही मेरा अन्तिम आदेश है जिसके पालन के लिये तुम शपथबद्ध हुए हो। इसका पालन करना। मेरी आत्मशान्ति के लिये इस पर अमल करना।

पश्चात्ताप की आग में अशुभ कर्मों को जलाकर गोशालक शुद्ध हो गया। सम्यक्त्व की प्राप्ति के साथ देह छोड़कर वह अच्युत देवलोक में देवपद को प्राप्त हुआ।

आजीवक स्थविरों के लिये गोशालक के मरण से भी उसके अन्तिम आदेश का पालन करना अधिक दुःखदायक था। इसके पालन में गोशालक के साथ उनका अपना अपमान था पर शपथबद्ध होने के कारण वे इस बात का अनादर भी नहीं कर सकते थे। खूब सोच विचार के बाद उन्होंने शपथ-मोक्ष का उपाय खोज निकाला। तुरंत हालाहला की भाण्डशाला का द्वार बन्द किया और चौक के मध्य में श्रावस्ती की एक विस्तृत नकशे के रूप में रचना की। बाद में गोशालक के आदेशानुसार उसके शव को उस कल्पित श्रावस्ती में सर्वत्र फिराया और अतिमन्द स्वर से उस प्रकार की उद्घोषणा भी कर दी।

इस प्रकार आजीवक स्थविरों ने अपने धर्माचार्य के आदेश के पालन का नाटक खेला। फिर शव को नहलाकर चन्दन-विलेपनपूर्वक

उज्ज्वल वस्त्र से ढककर पालकी में रखा और सारी श्रावस्ती में फिराकर उसका उचित संस्कार किया[1]।

गोशालक के देहान्त के बाद भगवान् महावीर श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य से विहार कर फिरते हुए मेंढिक गाँव के बाहर सालकोष्ठक चैत्य में पधारे।

भगवान् का आगमन सुनकर श्रद्धालु जन वन्दन और धर्मश्रवण के लिये सम्मिलित हुए। भगवान् ने धर्मदेशना दी जिसे सुनकर सभा विसर्जित हुई।

संखलि गोशालक ने श्रावस्ती के उद्यान में भगवान् पर जो तेजो-लेश्या छोड़ी थी उससे यद्यपि तात्कालिक हानि नहीं हुई थी, पर उसकी प्रचण्ड ज्वालाएँ अपना थोड़ा सा प्रभाव उन पर कर ही गईं। उसके ताप से आपके शरीर में पित्तज्वर हो गया था। जिस समय आप मेंढिक में विराजते थे, गोशालक-घटना को छः महीने होने आये थे। तबतक पित्तज्वर और खून के दस्तों से महावीर का शरीर काफी शिथिल और कृश हो गया था। भगवान् की यह दशा देखकर वहाँ से वापस जाते हुए नगरवासी आपस में बातें कर रहे थे—'भगवान् का शरीर क्षीण हो रहा है, कहीं गोशालक की भविष्यवाणी सत्य न हो जाय ?'

श्रमण भगवान् की बीमारी

सालकोष्ठक चैत्य के पास मालुकाकच्छ में ध्यान करते हुए भगवान् के शिष्य 'सिंह' अनगार ने उक्त लोक-चर्चा सुनी। छट्ठ-छट्ठ तप और धूप में आतापना करनेवाले महातपस्वी सिंह अनगार का ध्यान टूट गया। वे सोचने लगे—भगवान् को करीब छः महीने हुए पित्तज्वर हुआ है। साथ में खून के दस्त भी हो रहे हैं। शरीर बिलकुल कृश गया है। क्या सचमुच ही गोशालक का भविष्य-कथन सत्य होगा ? यदि ऐसा ही हुआ तो मेरे धर्मोपदेशक धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर के संबंध में संसार क्या कहेगा ? इत्यादि विचार करते करते उनका दिल हिल गया। उन्होंने तपोभूमि से प्रस्थान किया और कच्छ के मध्य भाग में आते-आते रो पड़े, वहीं खड़े-खड़े वे फूट-फूटकर रोने लगे।

---

१ भगवतीसूत्र, शतक १५ वां पत्र ६५९ से ६९५ ।

भगवान् ने अनगार सिंह का रोना और उसका कारण जान लिया। अपने शिष्यों को संबोधन करते हुए महावीर ने कहा—आर्यो ! सुनते हो। मेरा शिष्य सिंह मेरे रोग की चिन्ता से मालुकाकच्छ में रो रहा है ! श्रमणो ! तुम जाओ और अनगार सिंह को मेरे पास बुला लाओ।

भगवान् का आदेश पाते ही श्रमण निर्ग्रन्थों ने सिंह के पास जाकर कहा—चलो सिंह ! तुम्हें धर्माचार्य बुलाते हैं।

श्रमणों के साथ सिंह सालकोष्ठक चैत्य की तरफ चले और आकर भगवान् को त्रिप्रदक्षिणापूर्वक वन्दन-नमस्कार कर हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े हुए।

सिंह के मानसिक दुःख का कारण प्रकट करते हुए भगवान् बोले—वत्स सिंह ! मेरे अनिष्ट भावी की चिन्ता से तू रो पड़ा।

सिंह—भगवन् ! बहुत समय से आपकी तबीयत अच्छी नहीं रहती इससे और गोशालक की बात के स्मरण से मेरा चित्त उचट गया।

महावीर—वत्स ! इस विषय में तुम्हें कुछ भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। मैं अभी साढ़े पंद्रह वर्ष तक सुखपूर्वक इस भूमण्डल पर विचरूँगा।

सिंह—भगवन् ! आपका वचन सत्य हो। हम यही चाहते हैं, परन्तु भगवन् ! आपका शरीर प्रतिदिन क्षीण होता जाता है यह बड़े दुःख की बात है। क्या इस बीमारी को हटाने का कोई उपाय नहीं ?

महावीर—आर्य ! तेरी यही इच्छा है तो तू मेंढिय गाँव में रेवती गाथापतिनी के यहाँ जा। उसके घर कुम्हड़े और बीजोरे से बनी हुई दो ओषधियाँ तैयार हैं। इनमें पहली जो हमारे लिये बनाई गई है, उसकी जरूरत नहीं। दूसरी जो रेवती ने अन्य प्रयोजनवश बनाई है वह इस रोग-निवृत्ति के लिये उपयुक्त है, उसे ले आ।

भगवान् की आज्ञा पाकर सिंह बहुत प्रसन्न हुए। भगवान् को वन्दन कर वे मेंढिक ग्राम में रेवती के घर पहुँचे। मुनि को आते देख कर रेवती सात आठ कदम आगे गई और सविनय वन्दन कर बोली—पूज्य ! किस निमित्त आना हुआ ? कहिये, क्या आज्ञा है ?

सिंह ने कहा—गाथापतिनी ! तुम्हारे यहाँ जो दो ओषधियाँ हैं,

जिनमें एक भगवान् महावीर के लिये बनाई है उसकी आवश्यकता नहीं। जो तुमने अन्य उद्देश से बीजोरे से ओपधि तैयार की है उसकी आवश्यकता है। उसके लिये मैं आया हूँ।

आश्चर्यचकित होकर रेवती बोली—मुनि! तुम्हें किस ज्ञानी या तपस्वी ने मेरे इस गुप्त कार्य का भेद कहा? मेरे यहाँ अमुक ओपधियाँ हैं और वे अमुक अमुक उद्देश से बनाई गई हैं यह रहस्य तुमने किसके कहने से जाना?

सिंह ने उत्तर दिया—श्राविके! यह रहस्य मैं भगवान् महावीर के कहने से जानता हूँ। भगवान् ने ही इसके लिये मुझे यहाँ भेजा है।

अनगार सिंह की बात से रेवती को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह अपने रसोईघर में गई और बीजोरा-पाक लाकर मुनि के पात्र में रख दिया। इस शुभ दान और शुभ भाव से रेवती का मनुष्य-जन्म सफल हो गया। उसने शुभाध्यवसाय से देवगति का आयुष्य बाँधा।

रेवती के घर से लाये हुए औपधमिश्र आहार के सेवन से भगवान् के पित्तज्वर और रक्तातीसार की पीड़ा बन्द हो गई। धीरे-धीरे उनका शरीर पहले की तरह तेजस्वी होकर चमकने लगा।

भगवान् की रोग-निवृत्ति से सबको आनन्द हुआ। साधु साध्वियाँ और श्रावक श्राविकाएँ ही नहीं, स्वर्ग के देव तक भगवान् की नीरोगता से परम संतुष्ट हुए[1]।

भगवान् की आज्ञा के बिना स्वतंत्र होकर विचरता हुआ जमालि एक समय श्रावस्ती गया और तिन्दुकोद्यान में ठहरा।

जमालि का मतभेद

उस समय जमालि पित्तज्वर से पीड़ित था। साधु उसके लिये पथारी बिछा रहे थे। जमालि ने पूछा—संथारा हो गया? साधुओं ने कहा—हो गया। इस पर जमालि सोने के लिये उठा, पर संथारा अभी तक पूरा नहीं हुआ था। निर्बलता के कारण जमालि को खड़ा रहना कठिन हो गया था। उसने झुँझला कर कहा—'करेमाणे कडे' (किया जाने लगा सो किया) ऐसा सिद्धान्त

१ भ० श० १५, प० ६८५-८७।

है, पर मैं देख रहा हूँ कि 'करेमाणे कडे' का कोई मतलब नहीं। कोई भी कार्य जब पूरा हो जाता है, तभी कार्य-साधक हो सकता है अतः उसी अवस्था में 'कडे' (किया) कहना चाहिये।

जमालि का यह तर्क कई साधुओं ने ठीक समझा। तब कई स्थविरों ने इसका विरोध भी किया। उन्होंने कहा—भगवान् महावीर का 'करेमाणे कडे' यह कथन निश्चयनय की अपेक्षा से सत्य है। निश्चयनय क्रियाकाल और निष्ठाकाल को अभिन्न मानता है। इसके मत से कोई भी क्रिया अपने समय में कुछ भी कार्य करके ही निवृत्त होती है। तात्पर्य इसका यह है कि यदि क्रियाकाल में कार्य न होगा तो उसकी निवृत्ति के बाद वह किस कारण से होगा? इसलिए निश्चयनय का यह सिद्धान्त तर्कसंगत है और इसी निश्चयात्मक नय को लक्ष्य में रखकर भगवान् का 'करेमाणे कडे' यह कथन हुआ है जो तार्किक दृष्टि से बिलकुल ठीक है। दूसरी भी अनेक युक्तियों से स्थविरों ने जमालि को समझाया पर वह अपने हठ पर अड़ा रहा। परिणामस्वरूप बहुतेरे समझदार स्थविर श्रमण उसको छोड़कर भगवान् महावीर के पास चले आए।

स्वस्थ होने पर जमालि ने श्रावस्ती से विहार कर दिया, पर उसने जो नया तर्क स्थापित किया था उसकी चर्चा हर जगह करता रहता।

एक समय भगवान् महावीर चम्पा नगरी के पूर्णभद्र चैत्य में ठहरे हुए थे। जमालि भगवान् के निवास स्थान पर आया और उनसे कुछ दूर खड़ा होकर बोला—देवानुप्रिय! आपके बहुतेरे शिष्य जिस प्रकार छद्मस्थ-विहार से विचरे हैं वैसा आप मेरे संबंध में न समझें। मैं केवली-विहार से विचरा हूँ।

जमालि का उक्त आत्मश्लाघात्मक भाषण सुनकर महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति उसे संबोधन कर बोले—जमालि! केवलज्ञान, केवलदर्शन को तूने क्या समझ रक्खा है? केवलज्ञान और केवलदर्शन वह ज्योति है जो लोक और अलोक तक अपना प्रकाश फैलाती है, जिसका सर्वव्यापक प्रकाश नदी, समुद्र और गगनभेदी पर्वतमालाओं से भी स्खलित नहीं होता, जिस प्रकाश के आगे अन्धेरी गुफायें और

तमस् क्षेत्र भी करामलकवत् प्रकाशित होते हैं। महानुभाव जमालि! जिसमें इस दिव्य ज्योति का प्रादुर्भाव होता है वह आत्मा छिपी नहीं रहती। तू केवली है या नहीं इस संबंध में अधिक चर्चा करना निरर्थक समझता हूँ। सिर्फ दो प्रश्न पूछता हूँ इनका उत्तर दे—(१) लोक शाश्वत है या अशाश्वत? और (२) जीव शाश्वत है या अशाश्वत?

इन्द्रभूति गौतम के उक्त प्रश्नों का जमालि ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इस पर भगवान् महावीर ने कहा—जमालि! मेरे बहुतेरे ऐसे शिष्य हैं जो छद्मस्थ होते हुए भी इन प्रश्नों के यथार्थ उत्तर देने में समर्थ हैं, तथापि वे केवली होने का दावा नहीं करते। देवानुप्रिय! केवलज्ञान कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसका अस्तित्व बताने के लिये केवली को अपने मुख से घोषणा करनी पड़े।

जमालि! लोक 'शाश्वत है, क्योंकि यह अनन्तकाल पहले भी था, अब है और भविष्य में सदाकाल रहेगा।

अन्य अपेक्षा से लोक 'अशाश्वत' भी है। कालस्वरूप से वह उत्सर्पिणी मिटकर अवसर्पिणी बनता है और अवसर्पिणी मिटकर उत्सर्पिणी। इसी प्रकार अन्य जो लोकात्मक द्रव्य हैं उनमें अथवा उनके अवयवों में पर्याय परिवर्तन (आकार परावर्तन) होता ही रहता है। इस वास्ते लोक को 'अशाश्वत' भी कह सकते हैं।

इसी तरह जीव भी शाश्वत है और अशाश्वत भी। शाश्वत इसलिये कि उसका अस्तित्व त्रिकालवर्ती है और अशाश्वत इसलिये कि पर्यायरूप से वह सदाकाल एकसा नहीं रहता। कभी वह नारकरूप धारण करता है तो कभी तिर्यग् बनता है, कभी वह मनुष्य बनता है और कभी देव। इस प्रकार अनेक पर्यायों के उत्पाद और व्यय की अपेक्षा से जीव 'अशाश्वत' है।

जमालि को पूछे गये गौतम के प्रश्नों का स्पष्टीकरण करके भगवान् ने बहुत समझाया पर उसने अपना कदाग्रह नहीं छोड़ा। वह चला गया और दुराग्रहवश अनेक मिथ्या बातों से लोगों को बहकाता और अपने मतवाद में मिलाता हुआ विचरता रहा।

जमालि के ५०० साधुओं में-से कतिपय साधु और प्रियदर्शना प्रमुख १००० साध्वियाँ भी जमालि के पंथ में मिल गई थीं।

एक समय प्रियदर्शना अपने साध्वी-परिवार के साथ विहार करती हुई श्रावस्ती पहुँची और ढंक कुम्हार को भाण्डशाला में ठहरीं।

ढंक भगवान् महावीर का भक्त श्रावक था। जमालि के मतभेद से वह पहले ही परिचित था। प्रियदर्शना जमालि का मत माननेवाली है यह भी उसे मालूम था। जमालि तथा उसके अनुयायी किसी तरह समझें और भगवान् के साथ जो विरोध खड़ा किया है उसे मिटा दें यह ढंक की उत्कट इच्छा थी। इसी विषय को लक्ष्य में रखकर उसने प्रियदर्शना की संघाटी (चादर) पर अग्निकण फेंका। संघाटी जलने लगी जिसे देखकर प्रियदर्शना बोल उठी, 'आर्य! यह क्या किया, मेरी संघाटी जला दी?' ढंक ने कहा—संघाटी जली नहीं, अभी जल रही है। जलते हुए को 'जला' कहना यह भगवान् महावीर का मत है। तुम्हारा मत जले हुए को 'जला' कहने का है, फिर तुमने जलती संघाटी को 'जली' कैसे कहा?

ढंक की इस युक्ति से प्रियदर्शना समझ गई, बोली—'आर्य! तूने अच्छा बोध दिया।' प्रियदर्शना ने उसी समय जमालि का मत छोड़ कर अपने परिवार के साथ भगवान् महावीर के संघ में प्रवेश किया।

जमालि के साथ जो साधु रहे थे वे भी धीरे-धीरे उसे छोड़कर महावीर के श्रमण संघ में मिल गये फिर भी जमालि अपने हठाग्रह से पीछे नहीं हटा। जहाँ जाता वहीं अपने मतवाद का प्रचार करता और भगवान् महावीर के विरुद्ध लोगों को बहकाता।

बहुत वर्षों तक श्रमणधर्म पालने के उपरान्त जमालि ने अनशन किया और पंद्रह दिन तक निराहार रह देह छोड़ा और लान्तक देवलोक में किल्बिष जाति का देव हुआ।

मेंढिय ग्राम से विहार करते हुए भगवान् मिथिला पहुँचे और वर्षावास मिथिला में ही किया। चातुर्मास्य पूरा होते ही भगवान् ने मिथिला से पश्चिम के जनपदों की तरफ विहार कर दिया।

भगवान् कोशलभूमि में विचरते हुए पश्चिम की ओर धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। इसी बीच में इन्द्रभूति गौतम अपने शिष्यगण के साथ आगे निकल कर श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में जा ठहरे।

२८—अट्ठाइसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४८५–४८४)

उन दिनों पार्श्वापत्य केशीकुमार श्रवण भी अपने शिष्यगण सहित श्रावस्ती के तिन्दुकोद्यान में आए हुए थे।

केशी-गौतम संवाद

दोनों स्थविरों के शिष्य एक दूसरे समुदाय में आचार-भिन्नता देखकर सोचने लगे—'यह धर्म कैसा और वह कैसा ? यह आचार व्यवस्था कैसी और वह कैसी ? महामुनि पार्श्वनाथ का धर्म चातुर्याम और वर्धमान का पंचशिक्षिक, एक धर्म सचेलक और दूसरा अचेलक ? मोक्षप्राप्तिरूप एक ही कार्य की साधना में प्रवृत्त होनेवालों के धर्म तथा आचार मार्ग में इस प्रकार विभेद होने का क्या कारण होगा ? अपने शिष्यगणों में चर्चास्पद बनी हुई बातें केशी और गौतम ने सुनी और परस्पर मिल कर इनका समाधान करने का उन्होंने निश्चय किया।

गौतम उचितवेदी थे। वे यह समझ कर कि कुमार-श्रमण केशी वृद्ध कुल के पुरुष हैं, अपने शिष्य समुदाय के साथ केशी के स्थान पर तिन्दुकोद्यान में गये।

केशी ने गौतम का उचित आदर किया। कुशासन देकर बैठने का इशारा किया। गौतम बैठे। दोनों स्थविर सूर्य और चन्द्र की तरह शोभायमान होने लगे।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ और वर्धमान के श्रमणों का यह सम्मेलन एक अभूतपूर्व घटना थी। इसे देखने और संवाद सुनने के लिये अनेक अन्यतीर्थिक साधु और हजारों गृहस्थ लोग वहाँ एकत्र हुए।

केशी ने कहा—महाभाग गौतम ! आपसे कुछ पूछूँ ?

गौतम—पूज्य कुमारश्रमण ! आपको जो कुछ पूछना हो, हर्ष से पूछें।

केशी—महानुभाव गौतम ! महामुनि पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म का उपदेश किया और भगवान् वर्धमान ने पञ्चशिक्षिक धर्म का। इस

मत-भेद का क्या कारण है ? समान मुक्ति-मार्ग के साधकों के धर्म-मार्ग में इस प्रकार की विभिन्नता क्यों ? गौतम ! इस मतभेद को देख कर आपको शंका और अश्रद्धा नहीं उत्पन्न होती ?

गौतम—पूज्य कुमारश्रमण ! सर्वत्र धर्म-तत्त्व का निर्णय बुद्धि से होता है। इसलिए जिस समय में जैसी बुद्धिवाले मनुष्य हों उस समय में उसी प्रकार की बुद्धि के अनुकूल धर्म का उपदेश करना योग्य है।

प्रथम तीर्थंकर के समय में मनुष्य सरल परन्तु जड़ बुद्धिवाले थे। उनके लिये आचार मार्ग का शुद्ध रखना कठिन था। अन्तिम तीर्थंकर के समय में प्रायः कुटिल और जड़ बुद्धिवाले जीवों की अधिकता रहती है। उनके लिये आचार-पालन कठिन है। इस कारण प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों ने पाञ्चमहाव्रतिक धर्म का उपदेश किया, परन्तु मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के समय में जीव सरल और चतुर होते थे। वे थोड़े में बहुत समझ लेते और आचार को शुद्ध पाल सकते थे। इसी कारण बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्याम धर्म का उपदेश किया।

केशी—गौतम ! तुम्हारी बुद्धि को धन्यवाद ! मेरा यह संशय दूर हो गया। अब मेरी दूसरी शंकाओं को सुनो—

भगवान् वर्धमान ने अचेलक धर्म कहा और महायशस्वी पार्श्वनाथ ने सवस्त्र धर्मका उपदेश दिया। एक ही कार्यमें प्रवृत्त दो पुरुषों के उपदेश में यह भेद कैसा ? क्यों गौतम ! इस प्रकार साधु वेष में भिन्नता देख कर तुम्हारे हृदय में संशय उत्पन्न नहीं होता ?

गौतम—पूज्य कुमारश्रमण ! धर्म की साधना ज्ञान के साथ संबन्ध रखती है, बाह्य वेष के साथ नहीं। बाह्य वेष पहचान और संयम-निर्वाह का कारणमात्र है। मोक्ष-प्राप्ति ज्ञान, दर्शन और चारित्र के स्वीकार से ही होती है।

केशी—गौतम ! तुम हजारों शत्रुओं के बीच में रहते हो और शत्रु तुम पर हमला भी करते हैं फिर भी तुम उन्हें कैसे जीत लेते हो ?

गौतम—कुमारश्रमण ! पहले मैं अपने एक शत्रु को जीतता हूँ और तब पाँच शत्रुओं को सहज जीत लेता हूँ। पाँच को जीत कर दस को और दस को जीतने के बाद हजारों को आसानी से जीत लेता हूँ।

केशी—गौतम ! वे शत्रु कौन ?

गौतम—हे मुनि ! 'वेवस' आत्मा ही अपना शत्रु है जिसके जीतने से क्रोध, मान, माया, लोभ नामक कषाय-शत्रु जीत लिए जाते हैं और इस तरह इन पाँच के जीत लेने से श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शात्मक पाँच इन्द्रियरूप शत्रु जीते जाते हैं। इन दस शत्रुओं को यथान्याय जीत कर मैं सुख से विचरता हूँ।

केशी—गौतम ! इस लोक में बहुसंख्यक लोग पाशों से बँधे हुए हैं, तो तुम इस प्रकार स्वतंत्र होकर कैसे फिरते हो ?

गौतम—हे मुनि ! मैंने उपाय से उन पाशों को काट दिया है और उनका सर्वथा नाश कर पाशमुक्त होकर फिरता हूँ।

केशी—वे पाश कौन ?

गौतम—राग, द्वेष और स्नेह-बन्धन ये तीव्र और भयंकर पाश हैं। इन सबका यथान्याय उच्छेद करके आचारके अनुसार विचरता हूँ।

केशी—जीव के हृदय में एक वेल उगती है, बढ़ती है और विषैले फ़लों से फलती है। गौतम ! उस वेल को तुमने कैसे उखाड़ दिया ?

गौतम—उस संपूर्ण वेल को पहले काटा, फिर उसका मूल उखाड़ा और ऐसा करके मैं विषैले फलों के भोग से बच गया हूँ।

केशी—गौतम ! वह वेल कौन ?

गौतम—हे महामुनि ! वह वेल है 'भवतृष्णा'। यह स्वयं भयंकर है और भयंकर फल देती है। इसे मूल से उखाड़ कर मैं यथान्याय विचरता हूँ।

केशी—शरीर में जाज्वल्य घोर अग्नि रहती है जो शरीर को जलाती रहती है। गौतम ! उस देहस्थ अग्नि को तुमने किस प्रकार शान्त किया ?

गौतम—महामेघ से बरसे हुए उत्तम जल को लेकर उस अग्नि में छिड़का करता हूँ जिससे मुझे वह नहीं जलाती।

केशी—गौतम ! वह अग्नि कौन ?

गौतम—कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) विविध प्रकार की 'अग्नि' है और श्रुतज्ञान, शील और तप 'जल'। इस श्रुत शीलादि की

जलधारा से छिड़की हुई कषाय-अग्नि शान्त हो जाती है। वह मुझे जला नहीं सकती।

केशी—गौतम ! जिस पर तुम चढ़े हो वह घोड़ा बड़ा साहसिक, भयंकर और दुष्ट है। वह बड़ा तेज दौड़ता है। वह घोड़ा तुम्हें उन्मार्ग पर नहीं ले जाता ?

गौतम—दौड़ते हुए उस घोड़े को मैं श्रुतज्ञान की लगाम से पकड़े रखता हूँ जिससे वह मार्ग को नहीं छोड़ता।

केशी—गौतम ! वह घोड़ा कौन ?

गौतम—'मन' यह साहसिक, भयंकर और अत्यन्त तेज दौड़ने वाला दुष्ट घोड़ा है जिसे मैं धर्मशिक्षा से वश में किये रहता हूँ।

केशी—गौतम ! इस जगत् में अनेक कुमार्ग हैं जिन पर चढ़ कर जीव भटकते हुए मर जाते हैं, परन्तु गौतम ! तुम मार्ग में कैसे भूले नहीं पड़ते ?

गौतम—कुमारश्रमण ! जो मार्ग पर चलते हैं और जो उन्मार्ग-गामी हैं उन सब को मैं जानता हूँ। यही कारण है कि मैं मार्ग नहीं भूलता।

केशी—वह मार्ग कौन ?

गौतम—जिनोपदिष्ट 'प्रवचन' सन्मार्ग है और इसके विपरीत 'कुप्रवचन' उन्मार्ग। जो जिन-प्रवचन के अनुसार चलते हैं वे मार्ग-गामी हैं और कुप्रवचन पर चलनेवाले उन्मार्गगामी।

केशी—मुनि गौतम ! जलप्रवाह के वेग में बहते हुए प्राणियों की शरण और आधार क्या है ?

गौतम—जल के बीच एक महाद्वीप है जिसका विस्तार अतिमहान् है और जहाँ जल के महावेग की गति नहीं होती, वही शरण है।

केशी—गौतम ! वह द्वीप कौन ?

गौतम—जरा-मरण के महावेग में बहते हुए प्राणियों के लिये शरण, आधार और अवलंबनदायक 'धर्म' ही द्वीप है।

केशी—जिसमें तुम बैठे हो यह नाव समुद्र में चारों ओर घसीटी

जा रही है। गौतम! इस तरह तुम इस अगाध समुद्र को कैसे पार कर सकोगे ?

गौतम—सच्छिद्र नाव समुद्र पार नहीं कर सकती पर जो नाव निश्छिद्र होती है वह समुद्र पार कर सकती है। मैं निश्छिद्र नाव में बैठा हूँ अतः समुद्र को पार करूँगा।

केशी—गौतम वह नाव कौन ?

गौतम—शरीर नाव है, जीव नाविक और यह संसार समुद्र जिसे महर्षि लोग पार करते हैं।

केशी—गौतम वहुत से प्राणधारी जो घोर अंधकार में रहते हैं उनके लिये लोक में प्रकाश कौन करेगा ?

गौतम—सम्पूर्ण लोक को प्रकाशित करनेवाला निर्मल सूर्य अखिल लोक में जीवों को प्रकाश देगा।

केशी—गौतम ! वह सूर्य कौन ?

गौतन—जिनके जन्म-मरण टल गये हैं ऐसे सर्वज्ञ 'जिन' ही सूर्य हैं। वे उदय पाकर सम्पूर्णलोक में जीवों को प्रकाश देते हैं।

केशी—हे गौतम ! शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित प्राणधारियों के लिए निर्बाध और निरुपद्रव कौनसा स्थान है ?

गौतम—लोक के अग्रभाग में ऐसा स्थान है जो निश्चल और दुरारोह है। वहाँ जरा-मरण और व्याधि-वेदना कुछ भी नहीं है।

केशी—गौतम ! वह स्थान कौन ?

गौतम—निर्वाण, अनाबाध, सिद्धि और लोकाग्र इत्यादि नामों से वह पहचाना जाता है। वह कल्याणकारक, निरुपद्रव और निर्बाध है। इसकी स्थिति शाश्वती और चढ़ाव दुरारोह है। संसार-प्रवाह को तैर कर जो महर्षि इस स्थान को प्राप्त होते हैं वे सब शोकों से परे हो जाते हैं।

केशी—गौतम ! तुम्हारी बुद्धि को साधुवाद ! मेरे सभी संशय दूर हो गये। सर्वसूत्रों के महासागर गौतम ! तुम्हें नमस्कार हो।'

इस प्रकार अपने संदेह दूर होते ही केशी कुमारश्रमण ने

को सिर झुका कर अभिवादन किया और वहीं भगवान् महावीर के मार्गानुगत पाञ्चमहाव्रतिक धर्म का स्वीकार किया।

केशी और गौतम के इस संमेलन से वहाँ श्रुतज्ञान और संयम धर्म का बड़ा उत्कर्ष हुआ और अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्वों का निर्णय हुआ। वहाँ एकत्रित सभा भी संतुष्ट होकर सन्मार्ग के स्वीकार में तत्पर हुई।

भगवान् महावीर श्रावस्ती पधारे और कुछ समय वहाँ ठहरने के उपरान्त पाञ्चाल को तरफ विहार करके अहिच्छत्रा पधारे। वहाँ प्रचार करने के बाद कुरु जनपद की ओर उन्होंने विहार किया और हस्तिनापुर पहुँच कर नगर के बाहर सहस्राम्रवन नामक उद्यान में ठहरे।

शिवराजर्षि

हस्तिनापुर के राजा शिव सुखी, संतोषी, और धर्मप्रेमी रईस थे। एक दिन मध्यरात्रि में शिव की नींद टूट गई। वे राजकाज की चिन्ता करते करते अपनी वर्तमान स्थिति और उसके कारणों की मीमांसा में उतर पड़े। सोचने लगे—अहा! मैं इस समय सब प्रकार से सुखी हूँ। पुत्र, पशु, राज्य, राष्ट्र, सेना, वाहन, कोप, स्त्री और धन-संपदा आदि सब बातों से मैं बढ़ रहा हूँ। यह सब मेरे पूर्वभव के शुभ कर्मों का फल है। धर्म का यह फल भोगते हुए मुझे भविष्य के लिये भी कुछ करना चाहिए। अच्छा, तो अब मैं कल ही लोहमय कड़ाह, कडुच्छुय और ताम्रीय भाजन बनवाऊँगा और कुमार शिवभद्र को राज्याभिषिक्त कर लोही, लोहकड़ाह, कडुच्छुय और ताम्र-भाजन लेकर गंगातटवासी दिशाप्रोक्षक वानप्रस्थ तापसों के समीप जाकर परिव्रज्या स्वीकार कर लूँगा। उसी समय नियम धारण करूँगा कि 'आज से जीवन पर्यन्त में दिशा-चक्रवाल तप करूँगा।'

प्रातःकाल होते ही शिव ने अपने सेवकों को बुलाया और सब तैयारियाँ करवाईं। युवराज शिवभद्र का राज्याभिषेक करके उसने एक बड़ी जातीय सभा बुलाई जिसमें ज्ञातिजनों के उपरान्त मित्र और स्नेही

---

१ उत्तराध्ययन अध्ययन २३, पृ० ३९९–४१४

संबन्धियों को भी आमंत्रित किया। आगन्तुक मेहमानों का भोजनादि से योग्य सत्कार करने के उपरान्त शिव ने उनके सामने अपना अभिप्राय प्रकट किया और शिवभद्र तथा उन सबकी सम्मति प्राप्त कर लोही, लोहकड़ाह, कडुच्छुय, ताम्रभाजनादि लेकर शिव दिशा-प्रोक्षक तापसों के निकट पहुँचे और उनके मत की परिव्रज्या ले दिशा-प्रोक्षक तापस हो गए।

शिवराजर्षि अपने निश्चयानुसार प्रतिज्ञा कर छट्ठ-छट्ठ से दिशा-चक्रवाल तप करने लगे।

पहला छट्ठ पूरा होने पर वल्कल पहने हुए शिवराजर्षि तपोभूमि से अपनी कुटिया में आये और किठिन-सांकायिका को लेकर पूर्व दिशा का प्रोक्षण करते हुए बोले—'पूर्व दिशा में सोम महाराजा प्रस्थान-प्रस्थित शिवराजर्षि का अभिरक्षण करो और वहाँ के कंद, मूल, त्वचा, पत्र, पुष्प, फल, बीज, हरियाली और तृणों के ग्रहण करने की आज्ञा प्रदान करो।'

उक्त प्रार्थना कर वे पूर्व दिशा में चले और वहाँ से कंद, मूल, त्वचा, पत्र, पुष्प, फलादि से किठिन-सांकायिका को भर कर तथा दर्भ, कुश, समिध्, पत्रामोट आदि लेकर अपने झोंपड़े में लौटे। किठिन-सांकायिका को एक तरफ रख कर वेदिका को झाड़ा तथा लीपा। फिर दर्भगर्भित कलश लिए गंगा में गये। वहाँ स्नान-मज्जन किया और दैवत-पितरों को जलादि अर्पण करके कलश भर कर कुटिया को लौटे। दर्भ-कुश और बालुका की रचना की। अरणि को शर से रगड़ कर आग उत्पन्न की और समिध् काष्ठों से उसे जलाया। अग्नि कुंड की दाहिनी तरफ सकथा, वल्कल, स्थान, शय्या-भाण्ड, कमण्डलु, काष्ठदण्ड और आत्मा को एकत्र कर शहद, घृत और तंदुलों से अग्नि में आहुतियाँ दे चरु तैयार किया। उसमें वैश्वदैव-बलि करने के उपरान्त अतिथि-पूजन किया और फिर स्वयं भोजन किया।

इसके बाद शिवराजर्षि दूसरा षष्ठक्षपण कर तपोभूमि में गये और पूर्ववत् ध्यान किया। पारणा के दिन वे अपने झोंपड़े में आए और दक्षिण दिशा का प्रोक्षण कर बोले—'दक्षिण दिशा में यम महाराजा प्रस्थान-

प्रस्थित शिवराजर्षि का अभिरक्षण करो।' फिर वही क्रिया की जो पहले पारणा के दिन की थी।

इसी तरह तीसरा छट्ठ कर पारणा के दिन पश्चिम दिशा का प्रोक्षण कर शिव ने कहा—'पश्चिम दिशा में वरुण महाराजा प्रस्थान-प्रस्थित शिवराजर्षि का अभिरक्षण करो।' शेष सब विधान पूर्ववत् किया।

चौथे छट्ठ के अन्त में उत्तर दिशा का प्रोक्षण कर शिव बोले—'उत्तर दिशा में वैश्रमण महाराजा प्रस्थान-प्रस्थित शिवराजर्षि का अभिरक्षण करो।' शेष सभी क्रियाएँ पूर्ववत् कीं।

शिवराजर्षि ने लम्बे समय तक तप किया—आतापना की, जिसके फलस्वरूप उन्हें विभंग-ज्ञान हुआ और सात समुद्रों तक स्थूल सूक्ष्म रूपी पदार्थों को जानने-देखने लगे।

इस ज्ञानदृष्टि से शिवराजर्षि के मन में यह संकल्प उत्पन्न हुआ कि मुझे विशिष्ट ज्ञान-दर्शन उत्पन्न हुए हैं। इन ज्ञान-दर्शन से मैं जानता और देखता हूँ कि इस लोक में सात द्वीप और सात ही समुद्र हैं। इन के उपरान्त न द्वीप हैं, न समुद्र।

ज्ञान उत्पन्न होने के उपरान्त शिव तपोभूमि से अपने झोंपड़े में गये और वल्कल पहन लोही, लोहकडुच्छुय, दण्ड, कमण्डल, ताम्र-भाजन और किठिन-सांकायिका लिये हस्तिनापुरके तापसाश्रम में गये और भाजनादि सामग्री वहाँ रख कर हस्तिनापुर में गये। वहाँ पर उन्होंने अपने ज्ञान से जाने हुए सात द्वीप-समुद्रों की बात कही और बोले—संसार भर में सात ही द्वीप और समुद्र हैं, अधिक नहीं।

जिस समय भगवान् महावीर हस्तिनापुर पधारे थे उस समय शिव भी वहीं थे और अपने सात द्वीप-समुद्र विषयक सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहे थे। लोगों में इस नये सिद्धान्त पर टीका-टिप्पणियाँ हो रही थीं।

इन्द्रभूति गौतम भगवान् की आज्ञा ले हस्तिनापुर में भिक्षाचर्य्या को गये तो उन्होंने भी सात द्वीप-समुद्रों की बात सुनी। गौतम ने सहस्राम्रवन में लौट कर उक्त जनप्रवाद के संबन्ध में भगवान् से पूछा कि 'सात ही द्वीप-समुद्र हैं' यह शिवर्षि का कथन ठीक है क्या? और इस विषय में आपका क्या सिद्धान्त है?

भगवान् ने कहा—सात द्वीप-समुद्र संबन्धी शिवर्षि का सिद्धान्त मिथ्या है। इस विषय में मेरा कथन यह है कि जम्बूद्वीप प्रभृति असंख्य द्वीप और लवण आदि असंख्य ही समुद्र हैं। इन सब का आकार विधान तो एक-सा है पर विस्तार भिन्न-भिन्न है।

भगवान् के पास उस समय सभा जमी हुई थी। दर्शन, वन्दन और धर्मश्रवण के निमित्त आए हुए नगर-निवासी अभी वहीं बैठे हुए थे। धर्मश्रवण कर नगर-निवासीजन अपने अपने स्थान पर गये। सब के मुँह में सुने हुए उपदेश की—विशेषतः शिवर्षि के सिद्धान्त विषयक गौतम के प्रश्नोत्तर की चर्चा थी। वे कहते थे—'शिवर्षि का सात द्वीप-समुद्र संबन्धी सिद्धान्त ठीक नहीं है। श्रमण भगवान् महावीर कहते हैं कि द्वीप-समुद्र सात ही नहीं, असंख्य है।'

शिवर्षि महावीर की योग्यता से अपरिचित नहीं थे। उनके ज्ञान और महत्त्व की बातें उन्होंने कई बार सुन रक्खी थीं। जब उन्होंने अपने सिद्धान्त के विषय में महावीर का अभिप्राय सुना तो वे विचार में पड़ गये। मन ही मन बोले—'यह कैसी बात है ? द्वीप-समुद्र असंख्य हैं ? मैं तो सात ही देख रहा हूँ और महावीर असंख्य बताते हैं ? क्या मेरा ज्ञान अपूर्ण है ?' इस प्रकार संकल्प-विकल्प करते हुए वे शंकाशील होते गये। परिणामस्वरूप उनको जो कुछ आत्मिक साक्षात्कार हुआ था वह तिरोहित हो गया। तब उन्होंने सोचा कि अवश्य ही इस विषय में महावीर का कथन सत्य होगा। वे ज्ञानी तीर्थंकर हैं। उन्हें अनेक योग विभूतियाँ प्राप्त हो चुकी हैं। ऐसे अर्हन्तों का दर्शन तो क्या नाम-श्रवण भी दुर्लभ होता है। अच्छा, तो अब मैं भी इन महापुरुष के पास जाऊँ और उपदेश सुनूँ।

शिवराजर्षि वहाँ से तापसाश्रम में गये और लोही, लोहकडाह तथा किठिन-सांकायिका को लेकर हस्तिनापुर के मध्य में से होते हुए सहस्राम्रवन में पहुँचे और महावीर के पास जा कर त्रिप्रदक्षिणापूर्वक उनको वन्दन कर के योग्य स्थान पर बैठ गये।

श्रमण भगवान् ने शिवराजर्षि तथा उस महती सभा के समक्ष निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश दिया जिसे सुन कर शिवर्षि परम संतुष्ट

हुए। वे उठे और हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना करते हुए बोले—'भगवन् ! निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। भगवन् ! मुझे भी हस्तालम्बन दीजिये। निर्ग्रन्थ मार्ग की दीक्षा देकर आप मुझे भी मोक्षमार्ग का पथिक बनाइये।

भगवान् ने शिवराजर्षि की प्रार्थना को स्वीकार किया। राजर्षि लोही, लोहकड़ाह और किठिन-सांकायिका को लेकर ईशान दिशा की तरफ चले। थोड़ी दूर जाकर अपने उपकरणों को छोड़ दिया और पंचमुष्टिक लोच कर महावीर के पास लौटे। भगवान् ने उन्हें पंच महाव्रत दिए और श्रमण-धर्म की विशेष शिक्षा-दीक्षा के लिये उन्होंने स्थविरों के सुपुर्द कर दिया।

निर्ग्रन्थ मार्ग में प्रवेश करने के बाद भी शिवर्षि ने अनेकविध कठिन तप किये और एकादशाङ्ग निर्ग्रन्थ प्रवचन का अध्ययन किया।

अन्त में शिवराजर्षि सर्व कर्मों का नाश कर निर्वाण को प्राप्त हुए[1]।

भगवान् महावीर के इस समवसरण में अन्य कई धर्मार्थियों ने निर्ग्रन्थ प्रवचन की दीक्षा ली जिनमें अनगार पुट्टिल का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

हस्तिनापुर से भगवान् मोका नगरी की तरफ पधारे और मोका के नन्दन चैत्य में ठहरे जहाँ पर उन्होंने अग्निभूति और वायुभूति के प्रश्नों के उत्तर में देवों की विकुर्वणाशक्ति का वर्णन करते उपरान्त ईशानेन्द्र और चमरेन्द्र के पूर्वभवों का निरूपण किया।

मोका से भगवान् वापस लौटे और वाणिज्य ग्राम में जाकर वर्षा चातुर्मास्य व्यतीत किया।

वर्षा काल की समाप्ति होते ही भगवान् ने विदेह भूमि से मगध की तरफ प्रयाण किया और विहार करते हुए आप राजगृह के गुणशील चैत्य में पधारे। उस समय राजगृह में निर्ग्रंथ प्रवचन के अनुयायियों की संख्या विशाल थी फिर भी अन्य दार्शनिकों का वहाँ अभाव नहीं था। बौद्ध, आजीवक

२९ उनतीसवाँ वर्ष (वि० पू० ४८४–४८३)

---

१ भगवती श० ११, उ० ९, पृ० ५१४–५१९।

और अन्यान्य संप्रदाय के श्रमण और गृहस्थ भी वहाँ अच्छी संख्या में बसते थे और समय समय पर एक दूसरे की मान्यताओं का खण्डन और उपहास किया करते थे।

एक समय आजीवक भिक्षुओं के संबन्ध में इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् से पूछा—आजीविक लोग स्थविरों से पूछते हैं कि निर्ग्रन्थो! तुम्हारे श्रमणोपासक का, जब वह सामायिकव्रत में रहा हुआ हो, कोई भाण्ड चोरी चला जाय तो सामायिक पूरा कर वह उसकी तलाश करता है या नहीं? यदि करता है तो वह अपने भाण्ड की तलाश करता है या पराये की?

उत्तर में भगवान् ने कहा—गौतम! वह अपने भाण्ड की तलाश करता है, पराये की नहीं।

गौतम—भगवन्! शीलव्रत, गुणव्रत, प्रत्याख्यान और पौषधोपवास से उसका भाण्ड 'अभाण्ड' नहीं हो जाता?

महावीर—हाँ, सामायिक, पौषधादि व्रत में स्थित श्रमणोपासक का भाण्ड 'अभाण्ड' हो जाता है।

गौतम—भगवन्! जब व्रतिदशा में उसका वह भाण्ड 'अभाण्ड' हो गया तो उस दशा में चोरी हुए उस भाण्ड की व्रत पूरा करने के बाद श्रमणोपासक के तलाश करने पर 'वह अपने भाण्ड की तलाश करता है' यह कैसे कहा जायगा? जब उसका वह भाण्ड ही नहीं रहा तो उसकी तलाश करने का उसे क्या अधिकार है?

महावीर—गौतम! व्रतिदशा में उसकी भावना यह होती है कि यह सोना, रूपा, कांस्य, दूष्य या मणि-रत्नादि कोई पदार्थ मेरा नहीं है। इस प्रकार उस समय उन पदार्थों से वह अपना संबन्ध छोड़ देता है—उनका उपयोग नहीं करता। पर उन पदार्थों पर से उसका ममत्व-भाव नहीं छूटता और ममत्वभाव के न छूटने से वह पदार्थ पराया नहीं होता, उसी का रहता है।

गौतम—भगवन्! सामायिकव्रत में स्थित श्रमणोपासक की भार्या से कोई संगम करे तो क्या कहा जायगा—भार्या से संगम? या अभार्या से?

महावीर—श्रमणोपासक की भार्या से संगम करता है यही कहना चाहिये।

गौतम—भगवन्! शीलव्रत, गुणव्रत और पौषधोपवास से भार्या 'अभार्या' हो सकती है?

महावीर—हाँ, गौतम! व्रतिदशा में श्रमणोपासक की यह भावना होती है कि माता, पिता, भाई, बहन, भार्या, पुत्र, पुत्री और पुत्रवधू कोई मेरा नहीं है। यह भावना होते हुए भी उनसे उसके प्रेमबन्धनों का विच्छेद नहीं होता। इसलिये भार्या-संगम ही कहा जायगा 'अभार्या संगम' नहीं[1]।

श्रमणोपासक और आजीवकोपासक

श्रमणोपासक गतकाल में किए हुए प्राणातिपात का ४९ प्रकार से प्रतिक्रमण करता है, वर्तमानकालीन प्राणातिपात का ४९ प्रकार से नियमन करता है और अनागत काल के प्राणातिपात का ४९ प्रकार से निषेध करता है। इस प्रकार श्रमणोपासक के स्थूल प्राणातिपात-विरमण व्रत के कुल १४७ भेद होते हैं।

इसी प्रकार स्थूल मृषावाद-विरमण, स्थूल अदत्तादान-विरमण, स्थूल मैथुन-विरमण और स्थूल परिग्रह-विरमण के भी प्रत्येक के १४७–१४७ भेद होते हैं जिनमें से अमुक व्रत का अमुक भेद पालन करनेवाला भी श्रमणोपासक होता है। इस प्रकार विविध भंग से व्रत पालनेवाले श्रमणोपासक होते हैं, आजीवकोपासक नहीं होते।

आजीवक मत के शास्त्रों का अर्थ ही यह है कि सचित्त पदार्थों का भोजन करना—सर्व प्राणियों का छेदन-भेदन और विनाश कर उनका भोजन करना।

आजीवक मत में ये बारह प्रसिद्ध आजीवकोपासक कहे गये हैं—ताल, तालपलंब, उव्विह, संविह, अवविह, उदय, नामुदय, नमोदय, अणुवालय, संखवालय, अयंपुल और कायरय। ये सभी आजीवकोपासक अरिहंत को देव माननेवाले और माता-पिता की सेवा करने-

---

१ भगवती श० ८, उ० ५, पृ० ३६७।

वाले थे। ये गूलर, बड़, बेर, सतर (शहतूत) और पीपल इन पाँच जाति के फलों और प्याज, लहसुन आदि कन्दमूल को नहीं खाते थे। ये त्रसजीवों की रक्षा करते हुए ऐसे बैलों से अपनी जीविका चलाते जो न बधिया होते और न नाक बींधे हुए।

जब आजीवकोपासक भी इस प्रकार निर्दोषरीत्या जीविका चलाते थे तो श्रमणोपासकों का तो कहना ही क्या? इन्हें तो पंन्द्रह ही कर्मादानों का त्याग करना चाहिये[1]।

इस वर्ष राजगृह के विपुल पर्वत पर अनेक अनगारों ने अनशन किया।

वर्षा चातुर्मास्य भगवान् ने राजगृह में किया। चातुर्मास्य की समाप्ति होने पर भगवान् ने राजगृह से चम्पा की ओर विहार कर

३० तीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४८३–४८२)

चम्पा के पश्चिम में 'पृष्ठचम्पा' नामक उपनगर में ठहरे। पृष्ठ चम्पा के राजा शाल और उसके छोटे भाई युवराज महाशाल ने महावीर का उपदेश सुना। संसार से विरक्त होकर शाल ने कहा—भगवन्! मैं निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ और अपना राज्य युवराज महाशाल को सौंप कर आपके चरणों में आकर श्रमण धर्म को स्वीकार करूँगा।

भगवान् ने कहा—प्रतिबन्ध न रक्खो।

घर जाकर शाल ने अपने छोटे भाई को राज्यारूढ़ होने की प्रार्थना की पर महाशाल ने उसका स्वीकार नहीं किया और कहा कि जो धर्म आपने सुना है वही मैंने भी सुना है। जैसे आप संसार से विरक्त हैं वैसे मैं भी विरक्त हूँ। मैं भी प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा।

महाशाल के अतिरिक्त शाल के राज्य का कोई उत्तराधिकारी नहीं था। महाशाल के अस्वीकार करने पर अपने भागिनेय गागली नामक राजकुमार को बुला कर उसे राज्यारूढ़ कर शाल तथा महाशाल ने भगवान् महावीर के वरद हाथ से श्रमण धर्म की दीक्षा ली।

---

१ भगवती श० ८, उ० ५, पृ० ३६९।

पृष्ठ चम्पा से भगवान् चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में पधारे। उन दिनों चम्पा निवासी श्रमणोपासक कामदेव अपने घर का कार्यभार ज्येष्ठ पुत्र के ऊपर छोड़ कर भगवान् महावीर के अन्तिम उपदेशों का पालन करने लगे थे ? एक दिन कामदेव अपनी पौषधशाला में पौषध करते हुए रात्रि के समय ध्यान कर रहे थे। करीब मध्य-रात्रि के समय वहाँ एक देव प्रकट हुआ और कामदेव को ध्यान से चलित करने का प्रयत्न करने लगा। पहले उसने पिशाचरूप में, फिर हाथी के रूप में और अन्त में सर्प के रूप में विविध विभीषिकाएँ और यातनाएँ दिखाईं पर कामदेव अपने ध्यान और विश्वास से विचलित न हुए। अन्त में देव हार कर उसकी प्रशंसा करता हुआ चला गया।

कामदेव के दृष्टान्त से श्रमण-निर्ग्रन्थों को उपदेश

प्रातः समय कामदेव भगवान् महावीर के समवसरण में गए और वन्दन नमस्कार कर धर्मोपदेश सुनने बैठे।

धर्मोपदेश पूर्ण होने के बाद भगवान् ने कामदेव को संबोधन करते हुए कहा—कामदेव ! गत रात्रि में किसी देव ने पिशाच, हाथी और सर्प के रूप बना कर तुझे ध्यान-भ्रष्ट करने के लिए विविध उपसर्ग किए, यह सत्य है ?

कामदेव—जी हाँ, यह बात सत्य है।

निर्ग्रन्थ श्रमण-श्रमणियों को संबोधन करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—आर्यो ! घर में रहते हुए गृहस्थ श्रमणोपासक भी दिव्य, मानुषिक और तिर्यग्योनि सम्बन्धी उपसर्ग सहन कर सकते हैं तो द्वादशाङ्गगणिपिटकपाठी श्रमण निर्ग्रन्थों को तो अवश्य ही इस प्रकार के उपसर्ग सहन करने चाहिए।

निर्ग्रन्थ श्रमण-श्रमणियों ने भगवान् का वचन विनयपूर्वक स्वीकार किया[1]।

चम्पा से भगवान् ने दशार्णपुर को प्रयाण किया। दशार्ण का राजा

---

१ उपासकदशा, अध्ययन २, पृ० १९–३१।

दशार्णभद्र आपका भक्त था। आपके आगमन पर उसने बड़ा उत्सव किया और बड़े ही ठाटबाट के साथ वह वन्दन करने गया।

दशार्णभद्र को अपनी ऋद्धि समृद्धि का बड़ा अभिमान था पर भगवान् के वन्दनार्थ आये हुए देवेन्द्र की ऋद्धि देख कर उसका अभिमान उतर गया। भगवान् के पास श्रमण-धर्म को स्वीकार कर वह श्रमण संघ में दाखिल हुआ।

दशार्णपुर से भगवान् विदेह भूमि की तरफ प्रयाण कर वाणिज्यग्राम पधारे।

पण्डित सोमिल की ज्ञानगोष्ठी

वाणिज्यग्राम में सोमिल नामक एक विद्वान् ब्राह्मण रहता था जो धनी, मानी, अपने कुटुम्ब का मुखिया और पाँच सौ विद्यार्थियों का अध्यापक था। उस ने जब सुना कि तीर्थंकर भगवान् महावीर नगर के दूतिपलास चैत्य में पधारे हैं तो उसने भी वहाँ जाने का विचार किया—यह सोच कर कि वहाँ जाकर उन्हें कई प्रश्न पूछूँ।

सोमिल एक सौ छात्रों के साथ अपने घर से निकला और वाणिज्यग्राम के मध्य में से होता हुआ दूतिपलास पहुँचा। वहाँ भगवान् से कुछ दूर खड़े रह कर बोला—भगवन्! तुम्हारे सिद्धान्त में यात्रा है? यापनीय है? अव्याबाध है? प्रासुक विहार है?

महावीर—हाँ, सोमिल! मेरे यहाँ यात्रा भी है, यापनीय भी अव्याबाध भी है और प्रासुक विहार भी है।

सोमिल—भगवन्! आपकी यात्रा क्या है?

महावीर—तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यकादि योगों में जो यतना—उद्यम है वह मेरी यात्रा है।

सोमिल—भगवन्! आपका यापनीय क्या है?

महावीर—सोमिल! यापनीय दो प्रकार का कहा है—एक इन्द्रिय-यापनीय और दूसरा नोइन्द्रिय-यापनीय। श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, जिह्वेन्द्रिय तथा स्पर्शेन्द्रिय इन पाँच इन्द्रियों को वश में रखता हूँ—यह मेरा 'इन्द्रिय-यापनीय' है और मेरे क्रोध, मान, माया,

लोभ विच्छिन्न हो गये हैं। इन कषायों का कभी प्रादुर्भाव नहीं होता। यह मेरा 'नोइन्द्रिययापनीय' है।

सोमिल—भगवन्! आपका अव्याबाध क्या है?

महावीर—सोमिल! मेरे शरीरगत वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक, सांनिपातिक आदि विविध रोगातङ्क दोष उपशान्त हो गये हैं। कभी वे प्रकट नहीं होते। यही मेरा अव्याबाध है।

सोमिल—भगवन्! आपका प्रासुक विहार क्या है?

महावीर—सोमिल! आरामों, उद्यानों, देवकुलों, सभाओं, प्रपाओं और स्त्री-पशु-पण्डक वर्जित बस्तिओं में प्रासुक तथा कल्पनीय पीठ-फलक, शय्या, संस्तारक स्वीकार करके विचरता हूँ। यही मेरा प्रासुक विहार है।

सोमिल—भगवन्! सरिसवय आपके भक्ष्य हैं या अभक्ष्य?

महावीर—सरिसवय भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी।

सोमिल—दोनों प्रकार कैसे?

महावीर—ब्राह्मण्यनयों में (ब्राह्मणों के ग्रन्थों में) सरिसवय शब्द के दो अर्थ होते हैं—एक मित्र सरिसवय (सदृशवयाः) और दूसरा धान्य सरिस (सर्षपः)। इनमें मित्र-सरिसवय तीन प्रकार के कहे हैं—१ सहजात, २ सहवर्धित और ३ सहपांशुक्रीडित। ये सरिसवय श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

धान्य-सरिसवय दो प्रकार के होते हैं—१ शस्त्र-परिणत और २ अशस्त्र-परिणत। इनमें जो अशस्त्र-परिणत होते हैं वे श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

शस्त्रपरिणत सरिसवय भी दो प्रकार के होते हैं—१ एषणीय और २ अनेषणीय। इनमें अनेषणीय श्रमण निर्ग्रन्थों के अभक्ष्य हैं।

एषणीय भी दो प्रकार के होते हैं—याचित और अयाचित। इनमें अयाचित श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

याचित भी दो प्रकार के होते हैं—लब्ध और अलब्ध। इनमें अलब्ध श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

केवल शस्त्रपरिणत एषणीय याचित और लब्ध धान्य सरिसवय ही

श्रमण निर्ग्रन्थों को भक्ष्य हैं। इस कारण सरिसवय भक्ष्य भी कहे जा सकते हैं और अभक्ष्य भी।

सोमिल—भगवन्! 'मास' आपको भक्ष्य हैं या अभक्ष्य?

महावीर—ब्राह्मण्यनयों में 'मास' दो प्रकार के कहे गये हैं—द्रव्यमास (माष) और कालमास। इनमें कालमास श्रावण से आषाढ़ पर्यन्त बारह हैं, जो अभक्ष्य हैं।

द्रव्यमास (ष) दो प्रकार के कहे हैं—अर्थमास (माष) और धान्य-मास (माष)। इनमें से अर्थमाष दो प्रकार के होते हैं—सुवर्णमाष और रूप्यमाष। ये दोनों श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं। रहे धान्यमाष, सो उनके भी शस्त्रपरिणत, अशस्त्रपरिणत, एषणीय, अनेषणीय, याचित, अयाचित, लब्ध, अलब्ध आदि अनेक प्रकार हैं। इनमें शस्त्रपरिणत एषणीय याचित और लब्ध धान्यमाष श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए भक्ष्य हैं, शेष अभक्ष्य।

सोमिल—भगवन्? 'कुलत्था' आपके भक्ष्य हैं या अभक्ष्य?

महावीर—कुलत्था भक्ष्य भी हैं, अभक्ष्य भी।

सोमिल—यह कैसे?।

महावीर—ब्राह्मण्य-ग्रन्थों में 'कुलत्था' शब्द के दो अर्थ होते हैं—कुलथी धान्य और कुलीन स्त्री।

कुलीन स्त्री तीन प्रकार की होती है—कुलकन्या, कुलवधू और कुलमाता। ये कुलत्था श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

'कुलत्था' धान्य भी सरिसवय की तरह अनेक तरह का होता है, उसमें शस्त्रपरिणत एषणीय याचित और लब्ध 'कुलत्था' श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए भक्ष्य हैं, शेष अभक्ष्य।

सोमिल—भगवन्! आप एक हैं या दो? तथा आप अक्षय, अव्यय और अवस्थित हैं या भूत-वर्तमान-भविष्यत् के अनेक रूप धारी?

महावीर—मैं एक भी हूँ और दो भी। मैं अक्षय-अव्यय-अवस्थित हूँ और भूत-वर्तमान-भविष्यद्रूपधारी भी।

सोमिल—भगवन्, यह कैसे?।

महावीर—सोमिल! मैं आत्मद्रव्य रूप से एक हूँ और ज्ञान-दर्शन

रूप से दो भी। मैं आत्मप्रदेशों की अपेक्षा से अक्षय अव्यय अवस्थित हूँ पर उपयोग—पर्याय की अपेक्षा से भूत, वर्तमान और भविष्यत् के नाना रूपधारी भी हूँ।

धर्म-चर्चा सुन कर सोमिल ब्राह्मण तत्त्वमार्ग को समझ गया। वह वन्दन करके बोला—भगवन्! आपका कथन यथार्थ है। मैं आपके निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा करता हूँ। मैं अन्य राजा-महाराजाओं और सेठ साहुकारों की तरह आपके पास निर्ग्रन्थ श्रमणमार्ग की प्रव्रज्या ग्रहण करने में तो समर्थ नहीं हूँ, परन्तु मैं आपके पास श्रावकधर्म को स्वीकार कर सकता हूँ। भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर सोमिल ने श्रावकधर्म के द्वादश व्रत ग्रहण किए और भगवान् को वन्दन कर अपने घर गया।

श्रमणोपासक होने के बाद सोमिल ने निर्ग्रन्थ प्रवचन का विशेष तत्त्वज्ञान प्राप्त किया और अन्त में समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर स्वर्गवासी हुआ[1]।

भगवान् महावीर ने तीसवाँ वर्षा चातुर्मास्य वाणिज्यग्राम में व्यतीत किया।

३१-इकतीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४८२-४८१)

वर्षा चातुर्मास्य समाप्त होते ही भगवान् महावीर कोशलराष्ट्र के साकेत, श्रावस्ती आदि नगरों में ठहरते हुए पाञ्चाल की ओर पधारे और काम्पिल्य के बाहर सहस्राम्रवन में वास किया।

श्रमणोपासक अम्मड परिव्राजक

काम्पिल्यपुर में 'अम्मड' नामक ब्राह्मण परिव्राजक, जो कि सात सौ परिव्राजक शिष्यों के गुरु थे, रहते थे। अम्मड और इनके शिष्य भगवान् महावीर के उपदेश से जैनधर्म के उपासक बने थे। परिव्राजक का बाह्य वेप और आचार रखते हुए भी वे जैन श्रावकों के पालने योग्य व्रत-नियम पालते थे।

काम्पिल्यपुर में इन्द्रभूति गौतम ने अम्मड के विषय में जो बातें

---

१ भ० सू० श० १८, उ० १०, प० ७५८-७६०।

सुनीं, उनसे इन्द्रभूति गौतम का दिल सशंक हो गया। उन्होंने भगवान् से पूछा—भगवन् ! बहुत से लोग यह कहते और प्रतिपादन करते हैं कि अम्मड परिव्राजक काम्पिल्यपुर में एक ही समय सौ घरों में भोजन करता और सौ घरों में रहता है, सो यह कैसे ?

महावीर—गौतम ! अम्मड के विषय में लोगों का यह कहना यथार्थ है।

गौतम—भगवन् ! यह कैसे ?

महावीर—गौतम ! अम्मड परिव्राजक विनीत और भद्र प्रकृति का पुरुष है। वह निरन्तर छट्ठ छट्ठ का तप करता है। सूर्य के सामने मुख कर दोनों भुजायें ऊँची करके धूप में खड़ा होकर आतापना करता है। इस दुष्कर तप, शुभ परिणाम और प्रशस्त लेश्याओं की शुद्धि से विशेष कर्मों का क्षयोपशम होकर अम्मड को वीर्य-लब्धि, वैक्रिय-लब्धि और अवधिज्ञान-लब्धि प्राप्त हुई है। इन लब्धियों के बल से अम्मड अपने सौ रूप बना कर सौ घरों में रहता और भोजन करता हुआ लोगों को आश्चर्य दिखाता है।

गौतम—भगवन् ! क्या अम्मड परिव्राजक निर्ग्रन्थ धर्म की दीक्षा लेकर आपका शिष्य होने की योग्यता रखता है ?

महावीर—नहीं, गौतम ! अम्मड हमारा श्रमण शिष्य नहीं होगा। अम्मड जीवाजीवादि-तत्त्वज्ञ श्रमणोपासक है और श्रमणोपासक ही रहेगा। वह स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य तथा स्थूल अदत्तादान का त्यागी, सर्वथा ब्रह्मचारी और संतोषी है। वह मुसाफिरी में मार्ग के बीच आनेवाले जल के अतिरिक्त कूप, नदी आदि किसी प्रकार के जलाशय में नहीं उतरता। वह गाड़ी, रथ, पालकी आदि यान अथवा घोड़ा, हाथी, ऊँट, बैल, भैंसा, गदहा आदि वाहन पर बैठकर यात्रा नहीं करता।

अम्मड नाटक और खेल तमाशे नहीं देखता। वह स्त्री कथा, भोजन कथा, देश कथा, राज कथा, चौर कथा तथा अन्य अनर्थकारी विकथाओं से दूर रहता है।

अम्मड हरी वनस्पति का छेदन-भेदन और स्पर्श तक नहीं करता।

वह तुम्बा, काष्ठपात्र या मृत्तिकामात्र के अतिरिक्त लोह, त्रपु, ताम्र, जिस्त, सीसा, चाँदी, सोना आदि किसी प्रकार की धातु के पात्र नहीं रखता। वह लोह, त्रपु, ताम्र, आदि किसी भी धातु का बन्धन नहीं रखता। वह एक गेरुआ चादर के अतिरिक्त कोई भी रंगीन वस्त्र नहीं रखता। वह एक ताम्रमय पवित्रक के सिवा हार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, मुरवि, कण्ठमुरवि, प्रालंबक, त्रिसर, कटिसूत्र, मुद्रिका, कटक, त्रुटित, अंगद, केयूर, कुण्डल, मुकुट, चूडामणि आदि कुछ भी आभूषण नहीं पहनता। वह एक एक कर्णपूर के अतिरिक्त किसी प्रकार का पुष्पमाल्य नहीं धारण करता। वह गंगा नदी की मिट्टी के अतिरिक्त अगर, चन्दन, कुंकुम आदि से गात्र-विलेपन नहीं करता। वह अपने लिए बनाया, लाया, खरीदा तथा अन्य दूषित आहार ग्रहण नहीं करता। वह अपध्यान, प्रमादाचरित, हिंस्रप्रदान, और पापकर्मोपदेशरूप चतुर्विध अनर्थदण्ड से दूर रहता है। वह दिन में मागध आढक प्रमाण बहता हुआ स्वच्छ जल स्नान के लिए ग्रहण करता है और अर्ध आढक पीने तथा हाथ-पाँव धोने के लिए, परन्तु यह जल भी वह अन्य का दिया हुआ लेता है, स्वयं जलाशय से नहीं लेता।

वह अर्हन्तों और उनके चैत्यों (मूर्तियों) को छोड़ अन्यतीर्थिकों, उनके देवों और अन्यतीर्थिक-परिगृहीत अर्हच्चैत्यों को वन्दन नमस्कारादि नहीं करता।

गौतम—भगवन्! अम्मड परिव्राजक आयुष्य पूर्ण कर यहाँ से किस गति में जायगा?

महावीर—गौतम! अम्मड छोटे बड़े शीलव्रत, गुणव्रत, पौषधोपवासादि से आत्म-चिन्तन करता हुआ बहुत वर्षों तक श्रमणोपासक वृत्ति में रह कर अन्त में एक मास का अनशन करके देह का त्याग कर ब्रह्मदेवलोक में देवपद को प्राप्त करेगा और अन्त में अम्मड का जीव महाविदेह में मनुष्य जन्म पाकर निर्वाण प्राप्त करेगा[1]।

---

१ औपपातिकसूत्र।

काम्पिल्य से भगवान् ने वापस विदेहभूमि की तरफ प्रस्थान किया और वर्षावास वैशाली में किया।

वर्षा ऋतु के अनन्तर भगवान् ने काशीकोशल के प्रदेशों में विहार किया और ग्रीष्मकाल में आप फिर विदेहभूमि को लौटे।

३२–बत्तीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४८१–४८०)

भगवान् वाणिज्यग्राम के बाहर दूतिपलाश चैत्य में ठहरे हुए थे। प्रतिदिन धार्मिक व्याख्यान होते थे। एक दिन व्याख्यान समाप्त हो चुका था। सभाजन अपने-अपने स्थानों को प्रयाण कर चुके थे। उस समय गांगेय नामक एक पार्श्वापत्य मुनि वहाँ आये और भगवान् से कुछ दूर खड़े रहकर बोले—भगवन्! नरकावास में नारक सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर?

गांगेय की प्रश्न-परम्परा

महावीर—गांगेय! नारक सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी।

गांगेय—भगवन्! असुरकुमारादि भुवनपति देव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर?

महावीर—गांगेय! भुवनपति सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी।

गांगेय—भगवन्! पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय जीव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर?

महावीर—गांगेय! पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय जीव अपने अपने स्थानों में निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं।

गांगेय—भगवन्! द्वीन्द्रिय जीव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर?

महावीर—गांगेय! द्वीन्द्रिय जीव सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी।

इसी तरह त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव भी सान्तर और निरन्तर उत्पन्न होते हैं।

गांगेय—भगवन्! नारक जीव नरक-स्थान से सान्तर निकलते हैं या निरन्तर?

महावीर—गांगेय ! नारक सान्तर भी निकलते हैं और निरन्तर भी। इसी तरह द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देव भी कभी सान्तर कभी निरन्तर अपने अपने स्थानों से निकल कर दूसरे स्थानों में प्रवेश करते हैं। परन्तु पृथ्वीकायिकादि निरन्तर उत्पन्न होनेवाले एकेन्द्रिय जीव निरन्तर ही निकलते हैं।

गांगेय—भगवन् ! 'प्रवेशन' कितने प्रकार के कहे हैं ?

महावीर—गांगेय ! प्रवेशन चार प्रकार के कहे हैं—१ नैरयिक प्रवेशन, २ तिर्यग्योनिकप्रवेशन, ३ मनुष्यप्रवेशन और ४ देवप्रवेशन[1]।

गांगेय—भगवन् ! 'सत्' नारक उत्पन्न होते हैं या 'असत्' ? इसी तरह 'सत्' तिर्यञ्च, मनुष्य और देव उत्पन्न होते हैं या 'असत्' ?

महावीर—गांगेय ! सभी सत् उत्पन्न होते हैं, असत् कोई भी नहीं उत्पन्न होता।

गांगेय—भगवन् ! नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य सत् निकलते (मरते) हैं या असत् ? इसी तरह देव भी सत् च्युत होते (मरते) हैं या असत् ?

महावीर—गांगेय ! सभी सत् निकलते और च्यवते हैं, असत् कोई नहीं मरता च्यवता।

गांगेय—भगवन् ! यह कैसे ? सत् की उत्पत्ति कैसी ? और मरे हुए की सत्ता कैसी ?

महावीर—गांगेय ! पुरुषादानीय पार्श्व अर्हन्त ने लोक को 'शाश्वत' कहा है, इसमें 'सर्वथा असत्' की उत्पत्ति नहीं होती और 'सत्' का सर्वथा नाश भी नहीं होता।

गांगेय—भगवन् ! यह वस्तुतत्त्व आप स्वयं आत्मप्रत्यक्ष से जानते हैं या किसी हेतुप्रयुक्त अनुमान से अथवा किसी आगम के आधार से ?

महावीर—गांगेय ! यह सब मैं स्वयं जानता हूँ। किसी भी अनुमान अथवा आगम के आधार पर मैं नहीं कहता, आत्मप्रत्यक्ष से जानी हुई बात ही कहता हूँ।

---

१ प्रवेशन के संबंध में अन्य भी बहुत से प्रश्नोत्तर हैं जो यहाँ नहीं दिये गये।

गांगेय—भगवन् ! यह कैसे ? अनुमान और आगम के आधार के बिना यह विषय कैसे जाना जा सकता है ?

महावीर—गांगेय ! केवली पूर्व से जानता है और पश्चिम से भी जानता है। वह दक्षिण से जानता है और उत्तर से भी जानता है। केवली परिमित जानता है और अपरिमित भी जानता है। केवली का ज्ञान प्रत्यक्ष होने से उसमें सर्ववस्तुतत्त्व प्रतिभासित होते हैं।

गांगेय—भगवन् ! नरक में नारक, तिर्यंगति में तिर्यञ्च, मनुष्यगति में मनुष्य और देवगतिमें देव स्वयं उत्पन्न होते हैं या किसी की प्रेरणा से ? और वे अपनी गतियों में से स्वयं निकलते हैं या उन्हें कोई निकालता है ?

महावीर—आर्य गांगेय ! सब जीव अपने अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार शुभाशुभ गतियों में उत्पन्न होते हैं और वहां से निकलते हैं। इसमें दूसरा कोई भी प्रेरक नहीं है।

उपर्युक्त प्रश्नोत्तरों के उपरान्त अनगार गांगेय ने भगवान् महावीर को यथार्थरूप से पहचाना। अब उन्हें विश्वास हो गया कि वास्तव में भगवान् सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं।

इसके बाद गांगेय ने महावीर को त्रिप्रदक्षिणापूर्वक वन्दन-नमस्कार किया और पार्श्वनाथ की चातुर्यामिक धर्मपरम्परा से निकल कर वे महावीर की पाञ्चमहाव्रतिक परम्परा में प्रविष्ट हुए।

अनगार गांगेय ने दीर्घकाल पर्यन्त श्रमण-धर्म का आराधन कर अन्त में निर्वाण प्राप्त किया[1]।

इसके अनन्तर भगवान् महावीर वैशाली पधारे और वर्षा चातुर्मास्य वहीं व्यतीत किया।

शीत काल में भगवान् ने मगध भूमि की ओर विहार किया और अनेक स्थानों में धर्मदेशना करते हुए राजगृह के गुणशील वन में पधारे।

३३-तेतीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४८०–४७९)

---

१ भ० श० ९, उ० ३२, पृ० ४३९–४५५।

उन दिनों गुणशील उद्यान में अनेक अन्यतीर्थिक रहते थे और अपने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए दूसरे के मतों का खण्डन करते थे। अन्यतीर्थिकों की मान्यता के विषय में भगवान् का अभिप्राय जानने के लिये गौतम ने जो प्रश्न किये और महावीर ने उनके जो उत्तर दिये, वे नीचे दिये जाते हैं।

अन्यतीर्थिकों की मान्यता के संबन्ध में गौतम के प्रश्न—

श्रुत और शील के विषय में

गौतम ने पूछा—भगवन्! कुछ अन्यतीर्थिक कहते हैं शील (सदाचार) श्रेष्ठ है, दूसरे कहते हैं श्रुत (ज्ञान) श्रेष्ठ है, तीसरे कहते हैं शील और श्रुत प्रत्येक श्रेष्ठ है। भगवन्! यह कैसे?

महावीर—गौतम! अन्यतीर्थिकों का यह कथन ठीक नहीं है। इस विषय में मेरा कथन इस प्रकार है—

पुरुष चार प्रकार के होते हैं—कुछ शील-संपन्न ही होते हैं, श्रुत-संपन्न नहीं होते। कुछ श्रुत-संपन्न होते हैं, शील-संपन्न नहीं। कुछ शील-संपन्न भी होते हैं और श्रुत-संपन्न भी। कुछ शील-संपन्न नहीं होते और श्रुत-संपन्न भी नहीं होते।

इनमें जो शीलवान् है पर श्रुतवान् नहीं अर्थात् पापप्रवृत्ति से दूर रहनेवाला है पर धर्म का ज्ञाता नहीं, उसको मैं देशाराधक (धर्म के अंश का आराधक) कहता हूँ। जो शीलवान् नहीं पर श्रुतवान् है अर्थात् पापप्रवृत्ति से दूर नहीं हुआ पर श्रुत ज्ञानी है, उसको मैं देश-विराधक (अंश से धर्म का बाधक) कहता हूँ और जो शीलवान् और श्रुतवान् (पाप मार्ग से निवृत्त और धर्म का ज्ञाता है) उसे मैं सर्वाराधक (संपूर्ण धर्म का साधक) कहता हूँ। जो न शीलवान् है न श्रुतवान् उसे मैं सर्वविराधक कहता हूँ[1]।

जीव और जीवात्मा के विषय में

गौतम ने कहा—भगवन्! अन्यतीर्थिक यह कहते हैं कि प्राणिहिंसा, मृषावाद, चौर्य, मैथुन, संग्रहेच्छा, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशून्य, हर्ष, शोक, परनिन्दा, माया, मृषा और मिथ्यात्व आदि

१ भ० श० ८, उ० १०, पृ० ४१७।

दुष्ट भावों में प्रवृत्ति करनेवाले प्राणी का 'जीव' जुदा है और उसका 'जीवात्मा' जुदा।

इसी प्रकार इन दुष्ट भावों का त्याग करके धर्म मार्ग में चलनेवाले प्राणी का भी 'जीव' अन्य है और 'जीवात्मा' अन्य। जो औत्पत्तिकी, पारिणामिकी आदि बुद्धियोंवाला है उसका जीव जुदा है और जीवात्मा जुदा। पदार्थ-ज्ञान, तर्क, निश्चय और अवधारण करनेवाले का जीव अन्य है और जीवात्मा अन्य। जो उत्थान और पराक्रम करनेवाला है उसका भी जीव अन्य है और जीवात्मा अन्य। यही नहीं नारक, देव और तिर्यग्जातीय पशु-पक्षी आदि देहधारियों का भी जीव अन्य है और जीवात्मा अन्य। ज्ञानावरणीयादि कर्मवान्, कृष्णलेश्यादि लेश्यावान्, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, दर्शनवान् और ज्ञानवान् इन सबका जीव अन्य है और जीवात्मा अन्य।

भगवन्! अन्यतीर्थिकों की इस मान्यता के विषय में क्या समझना चाहिये?

महावीर—गौतम! अन्यतीर्थिकों की यह मान्यता मिथ्या है। इस विषय में मेरा मत यह है कि पूर्वोक्त हिंसा, मृषावादादि में प्रवृत्ति और निवृत्ति करनेवाले प्राणी का 'जीव' और 'जीवात्मा' एक ही पदार्थ है। जो 'जीव' है वही 'जीवात्मा' है।[1]

केवली की भाषा के संबंध में

गौतम ने पूछा—भगवन्! अन्यतीर्थिक लोग कहते हैं कि यक्षावेश से परवश होकर कभी केवली भी मृषा अथवा सत्य-मृषा भाषा बोलते हैं, यह कैसे? क्या केवली उक्त दो प्रकार की भाषा बोलते हैं?

महावीर—अन्यतीर्थिकों का उक्त कथन मिथ्या है। इस संबंध में मेरा कहना यह है कि न कभी केवली को यक्षावेश होता है और न वे मृषा अथवा सत्यमृषा भाषा बोलते हैं। केवली असावद्य और अपीडक सत्य अथवा असत्यामृषा भाषा बोलते हैं[2]।

---

१ भ० श० १७, उ० २, प० ७२३–७२४।

२ भ० श० १८, उ० ७, प० ७४९।

राजगृह से भगवान् चम्पा की तरफ विचरे और पृष्ठचम्पा में पिठर, गागलि आदि की दीक्षायें हुईं। वहाँ से भगवान् वापस गुणशील चैत्य में पधारे। उन दिनों गुणशील चैत्य के निकट कालोदायी, शैलोदायी, शैवालोदायी, उदक, नामोदक, अन्नपाल, शैवाल, शंखपाल, सुहस्ती और गाथापति आदि अनेक अन्यतीर्थिक रहते थे।

एक समय वे श्रमण भगवान् महावीरप्ररूपित पञ्चास्तिकाय विषयक चर्चा करते हुए बोले—श्रमण ज्ञातपुत्र धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय इन पाँच 'अस्तिकायों' की प्ररूपणा करते हैं और इन पाँच में से 'जीवास्तिकाय' को वे 'जीवकाय' कहते हैं और शेष चारों को 'अजीवकाय', फिर वे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और जीवास्तिकाय इन चार अस्तिकायों को 'अरूपिकाय' बताते हैं और एक पुद्गलास्तिकाय को 'रूपिकाय।' आर्यो! श्रमण ज्ञातपुत्र का यह निरूपण क्या सत्य है? इस कथन में वास्तविकता क्या होनी चाहिये?

श्रमणोपासक मद्दुक और कालोदायी की तत्त्वचर्चा

जिस समय अन्यतीर्थिक उक्त चर्चा कर रहे थे, उसके पहले ही भगवान् के आगमन के समाचार राजगृह में पहुँच चुके थे और भाविक नागरिकगण वन्दन-नमस्कार और धर्मश्रवण के लिए गुणशील चैत्य की तरफ जा रहे थे। उन नागरिकगणों में एक मद्दुक नामक श्रमणोपासक भी था।

मद्दुक महावीर का भक्त और जिन-प्रवचन का ज्ञाता गृहस्थ था। यह पैदल महावीर के समवसरण में जा रहा था। कालोदायी आदि अन्यतीर्थिक बैठे हुए महावीर के पञ्चास्तिकाय की चर्चा कर रहे थे कि मद्दुक वहाँ से होकर गुजरा। उसे देखते ही वे एक दूसरे को संबोधन करते हुए बोले—देवानुप्रियो! देखिये यह श्रमणोपासक जा रहा है, चलिए हम इस विषय में इसे पूछें। यह ज्ञातपुत्र के तत्त्वों का खासा अभ्यासी है। यह कहते हुए वे मद्दुक के पास गये और उसे रोककर बोले—हे मद्दुक! तेरे धर्माचार्य धर्मोपदेशक श्रमण ज्ञातपुत्र पाँच अस्तिकायों का प्रतिपादन करते हैं और उनमें से किसीको

जीव कहते हैं किसीको अजीव, किसीको रूपी बतलाते हैं और किसीको अरूपी, सो मद्दुक ! तेरा इस विषय में क्या अभिप्राय है ? क्या तू इन धर्मास्तिकायादि को जानता और देखता है ?

मद्दुक—इनके कार्यों से इनका अनुमान किया जा सकता है, बाकी धर्मास्तिकायादि पदार्थ अरूपी होने से जाने और देखे नहीं जा सकते ।

अन्यतीर्थिक—अये मद्दुक ! तू कैसा श्रमणोपासक है जो अपने धर्माचार्य के कहे हुए धर्मास्तिकायादि पदार्थों को जानता और देखता नहीं है ?

मद्दुक—आयुष्मानो ! हवा चलती है, यह बात सत्य है ?

अन्यतीर्थिक—हाँ, हवा चलती है, पर इससे क्या ?

मद्दुक—आयुष्मानो ! तुम हवा का रंग-रूप देखते हो ?

अन्यतीर्थिक—नहीं, हवा का रूप देखा नहीं जाता ।

मद्दुक—आयुष्मानो ! घ्राणेन्द्रिय के साथ स्पर्श करनेवाले गन्ध के परमाणु होते हैं ?

अन्यतीर्थिक—हाँ, घ्राणेन्द्रिय का विषय गंध के परमाणु होते हैं ।

मद्दुक—आयुष्मानो ! तुम घ्राणेन्द्रिय का स्पर्श करनेवाले गन्ध के परमाणुओं का रूप देखते हो ?

अन्यतीर्थिक—नहीं, गन्ध के परमाणुओं का रूप देखा नहीं जाता ।

मद्दुक—आयुष्मानो ! अरणि-सहगत अग्नि होती है ?

अन्यतीर्थिक—हाँ, अरणि-सहगत अग्नि होती है ।

मद्दुक—आयुष्मानो ! तुम उस अरणि-सहगत अग्नि के रूप को देखते हो ?

अन्यतीर्थिक—नहीं, तिरोहित होने से वह देखा नहीं जाता ।

मद्दुक—आयुष्मानो ! समुद्र के उस पार कोई रूप है ?

अन्यतीर्थिक—हाँ, समुद्र के उस पार कई रूप हैं ।

मद्दुक—आयुष्मानो ! समुद्र के उस पार के रूपों को तुम देखते हो ?

अन्यतीर्थिक—नहीं, समुद्र के उस पार के रूप देखे नहीं जा सकते ।

मद्दुक—आयुष्मानो! देवलोकगत रूपों को तुम देख सकते हो?

अन्यतीर्थिक—नहीं, देवलोकगत रूप देखे नहीं जा सकते।

मद्दुक—इसी तरह हे आयुष्मानो! मैं, तुम या कोई अन्य छद्मस्थ मनुष्य जिस वस्तु को देख न सके वह वस्तु है ही नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। दृष्टिगत न होनेवाले पदार्थों को न मानोगे तो तुम्हें बहुत से पदार्थों के अस्तित्व का निषेध करना पड़ेगा। और ऐसा करनेपर तुम्हें अधिकांश-लोक के अस्तित्व का भी अस्वीकार करना पड़ेगा।

मद्दुक अपनी युक्तियों से अन्यतीर्थिकों को निरुत्तर कर भगवान् के पास पहुँचा और वन्दन नमस्कार पूर्वक पर्युपासना करने लगा।

मद्दुकने अन्यतीर्थिकों के कुतर्क का जो वास्तविक उत्तर दिया था उसका अनुमोदन करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—मद्दुक! तूने अन्यतीर्थिकों को बहुत ठीक उत्तर दिया है। किसी भी प्रश्न या उत्तर में बिना समझे सुने नहीं बोलना चाहिये। जो मनुष्य बिना समझे लोक समूह में हेतु-तर्क की चर्चा करता है अथवा बिना समझे किसी बात का प्रतिपादन करता है वह अर्हन्त केवली की तथा उनके धर्म की आशातना करता है। मद्दुक! तूने जो कहा है वह ठीक, उचित और यौक्तिक है।

भगवान् के मुख से अपनी प्रशंसा सुन कर मद्दुक बहुत संतुष्ट हुआ और अन्यान्य धर्म-चर्चा कर वह अपने स्थान पर गया।

मद्दुक के चले जाने के बाद गौतम ने पूछा—भगवन्! मद्दुक श्रमणोपासक आपके पास निर्ग्रन्थ-श्रामण्य धारण करने की योग्यता रखता है?

महावीर—गौतम! मद्दुक हमारे पास प्रवज्या लेने में समर्थ नहीं है। मद्दुक गृहस्थाश्रम में रहकर देशविरति गृहस्थ-धर्म की आराधना करेगा और अन्त में समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर 'अरुणाभ' देव विमान में देव होगा और वहाँ से फिर मनुष्य जन्म पाकर संसार से मुक्त होगा[1]।

इस साल का वर्षावास भगवान् ने राजगृह में किया।

---

१ भ० श० १८, उ० ७, प० ७५०–७५१।

हेमन्त ऋतु में राजगृह से महावीर ने बाहर के प्रदेश में विहार किया और अनेक ग्राम-नगरों में निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचार किया।

३४-चौतीसवाँ वर्ष (वि० पू० ४७९-४७८)

ग्रीष्मकाल में भगवान् फिर राजगृह पधारे और गुणशील चैत्य में वास किया।

अनगार इन्द्रभूति गौतम एक दिन राजगृह से भिक्षा लेकर भगवान् के पास गुणशील चैत्य में जा रहे थे, उस समय गुणशील चैत्य के मार्ग में कालोदायी, शैलोदायी प्रभृति अन्यतीर्थिक महावीर प्ररूपित पञ्चास्ति-कायों की चर्चा कर रहे थे। गौतम को देख कर वे एक दूसरे को संबोधन कर बोले—देवानुप्रियो! हम धर्मास्तिकायादि के विषय में ही चर्चा कर रहे हैं। देखो ये श्रमण ज्ञातपुत्र के शिष्य गौतम भी आ गये। चलिये इस विषय में हम गौतम को पूछें। यह कह कर कालो-दायी, शैलोदायी, शैवालोदायी प्रमुख अन्यतीर्थिक गौतम के पास पहुँचे और उन्हें ठहरा कर बोले—हे गौतम! तुम्हारे धर्माचार्य धर्मो-पदेशक श्रमण ज्ञातपुत्र धर्मास्तिकाय आदि पाँच अस्तिकायों की प्ररूपणा करते हैं। इनमें से चार को वे 'अजीवकाय' कहते हैं और एक को 'जीवकाय' तथा चार को 'अरूपिकाय' कहते हैं और एक को 'रूपिकाय'। इस विषय में क्या समझना चाहिये, गौतम? इस अस्तिकाय संबन्धी प्ररूपणा का रहस्य क्या है, गौतम?

गौतम—देवानुप्रियो! हम 'अस्तित्व' में नास्तित्व नहीं कहते और 'नास्तित्व' में अस्तित्व नहीं कहते। हम अस्ति को अस्ति और नास्ति को नास्ति कहते हैं। हे देवानुप्रियो! इस विषय में तुम स्वयं विचार करो जिससे कि इसका रहस्य समझ सको।

अन्यतीर्थिकों के प्रश्न का रहस्यपूर्ण उत्तर देकर गौतम महावीर के पास चले गये, पर कालोदायी गौतम के उत्तर का रहस्य नहीं समझ पाया। परिणामस्वरूप वह स्वयं गौतम के पीछे पीछे भगवान् के पास पहुँचा। महावीर उस समय सभा में धर्मदेशना कर रहे थे। प्रसंग आते ही उन्होंने कालोदायी को संबोधन कर के कहा—कालोदायिन्! तुम्हारी मण्डली में मेरे पञ्चास्तिकायनिरूपण की चर्चा चली?

कालोदायी—जी हाँ, आप पञ्चास्तिकाय की प्ररूपणा करते हैं यह बात हम ने जब से सुनी है तब से प्रसंगवश इस पर चर्चा हुआ करती है।

महावीर—कालोदायिन्! यह बात सत्य है कि मैं पञ्चास्तिकाय की प्ररूपणा करता हूँ। यह भी सत्य है कि चार अस्तिकायों को 'अजीवकाय' और एक को 'जीवकाय' तथा चार को 'अरूपिकाय' और एक को 'रूपिकाय' मानता हूँ।

कालोदायी—भगवन्! आपके माने हुए इन धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय अथवा जीवास्तिकाय पर कोई सो, बैठ या खड़ा रह सकता है?

महावीर—यह नहीं हो सकता कालोदायिन्! इन धर्मास्तिकायादि अरूपिकाय पर सोना-बैठना या चलना-फिरना नहीं हो सकता। ये सब क्रियाएँ केवल एक पुद्गलास्तिकाय पर, जो कि रूपी और अजीवकाय है, हो सकती हैं, अन्यत्र कहीं नहीं।

कालोदायी—भगवन्! पुद्गलास्तिकाय में जीवों के दुष्ट-विपाक पाप कर्म किये जाते हैं?

महावीर—नहीं कालोदायिन्! ऐसा नहीं होता।

कालोदायी—भगवन्! इस जीवास्तिकाय में दुष्ट-विपाक पाप कर्म किये जाते हैं?

महावीर—हाँ कालोदायिन्! किसी भी प्रकार के कर्म जीवास्तिकाय में ही किये जाते हैं।

पञ्चास्तिकाय विषयक प्रश्नों का सविस्तर उत्तर दे कर भगवान् ने कालोदायी के संशय को दूर किया। फलस्वरूप कालोदायी का चित्त निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने को उत्कण्ठित हुआ। भगवान् को वन्दन कर वह बोला—भगवन्! मैं विशेष प्रकार से आपका प्रवचन सुनना चाहता हूँ।

भगवान् ने कालोदायी को लक्ष्य कर के निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश दिया जिसे सुन कर वह आप के पास निर्ग्रन्थ मार्ग में दीक्षित हो गया।

कालोदायी अनगार क्रमशः निर्ग्रन्थ प्रवचन के एकादशाङ्ग सूत्रों का अध्ययन कर प्रवचन के रहस्य के ज्ञाता हुए[1]।

इन्द्रभूति गौतम और पार्श्वापत्य उदकपेढाल का संवाद

राजगृह नगर से ईशान दिशा में धनवानों के सैकडों प्रासादों से सुशोभित नालन्दा नामक एक समृद्ध उपनगर था। यहाँ 'लेव' नामक एक धनाढ्य गृहस्थ रहता था जो निर्ग्रन्थ प्रवचन का अनुयायी और जैन श्रमणों का परम भक्त था। नालंदा के उत्तर-पूर्व दिशा भाग में उक्त लेव श्रमणोपासक की 'शेषद्रविका' नाम की उदकशाला और उसके पास ही 'हस्तियाम' नामक उद्यान था।

एक समय भगवान् महावीर हस्तियाम में ठहरे हुए थे कि शेषद्रविका के पास इन्द्रभूति को मेतार्य गोत्रीय पेढालपुत्र उदक नामक एक पार्श्वापत्य निर्ग्रन्थ मिले और गौतम को संबोधन कर बोले—गौतम! तुमसे कुछ पूछना है। आयुष्मन्! मेरे प्रश्नोंका उपपत्तिपूर्वक उत्तर दीजियेगा।

गौतम—पूछिये।

उदक—आयुष्मन् गौतम! तुम्हारे प्रवचन का उपदेश करनेवाले कुमारपुत्रीय श्रमण अपने पास नियम लेने को तैयार हुए श्रमणोपासक को इस प्रकार प्रत्याख्यान कराते हैं—

'राजाज्ञा आदि कारण से किसी गृहस्थ अथवा चोर के बाँधने छोड़ने के अतिरिक्त मैं त्रसजीवों की हिंसा नहीं करूँगा।'

आर्य! इस प्रकार का प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। जो ऐसा प्रत्याख्यान कराते हैं वे दुष्प्रात्याख्यान कराते हैं। इस प्रकार का प्रत्याख्यान करने और करानेवाले अपनी प्रतिज्ञा में अतिचार लगाते हैं क्योंकि प्राणी संसारी हैं। स्थावर मर कर त्रसरूप में उत्पन्न होते हैं और त्रस मर कर स्थावर रूप में भी उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार जो जीव 'त्रसरूप' में 'अघात्य' थे वे ही स्थावररूप में उत्पन्न होने के बाद

---

१ भ० श० ७, उ० १०, पृ० ३२३-३२४।

'घात्य' हो जाते हैं। इस कारण प्रत्याख्यान इस प्रकार सविशेषण करना और कराना चाहिये—

'राजाज्ञा आदि कारण से किसी गृहस्थ अथवा चोर के बाँधने छोड़ने के अतिरिक्त मैं त्रसभूत जीवों की हिंसा नहीं करूँगा।'

इस प्रकार 'भूत' इस विशेषण के सामर्थ्य से उक्त दोषापत्ति टल जाती है। इस पर भी जो क्रोध अथवा लोभ से दूसरों को निर्विशेषण प्रत्याख्यान कराते हैं वह 'न्याय्य' नहीं है।

क्यों गौतम ! मेरी यह बात तुमको ठीक जँचती है कि नहीं ?

गौतम—आयुष्मन् उदक ! तुम्हारी बात मेरे दिल में ठीक नहीं बैठती। मेरी राय में ऐसा करनेवाले श्रमण-ब्राह्मण यथार्थ भाषा नहीं बोलते, वे अनुतापिनी भाषा बोलते हैं और श्रमण तथा ब्राह्मणों के ऊपर झूठा आरोप लगाते हैं। यही नहीं, बल्कि प्राणी-विशेष की हिंसा को छोड़नेवालों को भी वे दोषी ठहराते हैं क्योंकि प्राणी संसारी हैं, वे त्रस मिट कर स्थावर होते हैं और स्थावर मिट कर त्रस। फिर वे त्रसकाय से निकल कर स्थावर में जाते हैं और स्थावरकाय से त्रस में। संसारी जीवों की यह स्थिति है। इस वास्ते जब वे त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं तब त्रस कहलाते हैं और तभी त्रस हिंसाका जिसने प्रत्याख्यान किया है उस के लिए वे 'अघात्य' होते हैं। इसलिये प्रत्याख्यान में 'भूत' विशेषण जोड़ने की जरूरत नहीं है।

उदक—आयुष्मन् गौतम ! तुम 'त्रस' का अर्थ क्या करते हो ? 'त्रसप्राण सो त्रस' यह अथवा दूसरा ?

गौतम—आयुष्मन् उदक ! जिन जीवों को तुम 'त्रसभूतप्राण' कहते हो उन्हींको हम 'त्रसप्राण' कहते हैं। और जिन्हें हम 'त्रसप्राण' कहते हैं उन्हींको तुम 'त्रसभूतप्राण' कहते हो। ये दोनों तुल्यार्थक हैं, परन्तु आर्य उदक ! तुम्हारे विचार में इन दो में 'त्रसभूतप्राण त्रस' यह व्युत्पत्ति निर्दोष है और 'त्रसप्राण त्रस' यह सदोष। आयुष्मन् ! जिनमें वास्तविक भेद नहीं है ऐसे दो वाक्यों में से एक का खण्डन करना और दूसरे का मण्डन यह क्या न्याय्य है ?

हे उदक ! कितने ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो कहते हैं कि हम गृह त्याग कर श्रामण्य धारण करने में समर्थ नहीं हैं। अभी हम श्रावक धर्म स्वीकार करते हैं, क्रमशः चारित्र का भी स्पर्श करेंगे। वे अपनी अविरतिमय प्रवृत्तियों को मर्यादित करते हुए प्रतिज्ञा करते हैं कि 'राजाज्ञा आदि कारण से गृहपति अथवा चोर के बाँधने छोड़ने के अतिरिक्त हम त्रस जीवों की हिंसा नहीं करेंगे।' यह प्रतिज्ञा भी उनके कुशल का ही कारण है।

आर्य उदक ! 'त्रस मर कर स्थावर होते हैं अतः त्रसहिंसा के प्रत्याख्यानी के हाथ से उनकी हिंसा होने पर उसके प्रत्याख्यान का भंग हो जाता है' यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं है क्योंकि 'त्रस नामकर्म' के उदय से ही जीव 'त्रस' कहलाते हैं, परन्तु जब उनका त्रसगति का आयुष्य क्षीण हो जाता है और त्रसकाय की स्थिति को छोड़ कर वे स्थावरकाय में जाकर उत्पन्न होते हैं तब उनमें स्थावर नामकर्म का उदय होता है और वे 'स्थावरकायिक' कहलाते हैं। इसी तरह स्थावर कायका आयुष्य पूर्ण कर जब वे त्रसकाय में उत्पन्न होते हैं तब त्रस भी कहलाते हैं, प्राण भी कहलाते हैं। उनका शरीर बड़ा होता है और आयुष्यस्थिति भी लंबी होती है।

उदय—आयुष्मन् गौतम ! तब तो ऐसा कोई पर्याय ही नहीं मिलेगा जो त्याज्य-हिंसा का विषय हो और जब हिंसा का कोई विषय ही नहीं रहेगा तब श्रावक किसकी हिंसा का प्रत्याख्यान करेगा ? क्योंकि जीव संसारी हैं, वे सभी स्थावर मिटकर त्रस हो जाएँगे और सभी त्रस मिट कर स्थावर भी। अब यदि सब जीव त्रस मिटकर स्थावर हो जायें तो श्रमणोपासक का 'त्रसहिंसा-प्रत्याख्यान' किस प्रकार निभ सकेगा ? क्योंकि जिनकी हिंसा का उसने प्रत्याख्यान किया था वे सब जीव स्थावर हो गये हैं अतः उनकी हिंसा वह टाल नहीं सकता।

गौतम—आयुष्मन् उदय ! हमारे मत से कभी ऐसा होता ही नहीं कि सब स्थावर त्रस अथवा सब त्रस स्थावर हो जायें। थोड़ी देर के लिये तुम्हारा कथन प्रमाण मान लिया जाय तब भी श्रमणोपासक के त्रसहिंसा-प्रत्याख्यान में बाध नहीं आता क्योंकि स्थावर-पर्याय की

हिंसा में उसका व्रत खण्डित नहीं होता और त्रसपर्याय में वह अधिक त्रस जीवों की हिंसा को टालता है।

आर्य उदय! अधिक त्रस-जीवों की हिंसा से निवृत्त होनेवाले श्रमणोपासक के लिए 'उसके किसी भी पर्याय की हिंसा का प्रत्याख्यान नहीं है' यह तुम्हारा कथन क्या उचित है? आयुष्मन्! इस प्रकार निर्ग्रन्थ प्रवचन में मतभेद खड़ा करना न्याय्य नहीं है।

इस समय पार्श्वापत्य अन्य स्थविर भी वहाँ आ गये जिन्हें देख कर गौतम ने कहा—आर्य उदय! लो, इस विषय में तुम्हारे स्थविर निर्ग्रन्थों को ही पूछ लें। हे आयुष्मन् निर्ग्रन्थो! इस संसार में कितने ही ऐसे मनुष्य होते हैं जिनकी प्रतिज्ञा होती है कि 'जो ये अनगार साधु हैं इनको जीवनपर्यन्त नहीं मारूँगा।' बाद में उनमें से कोई साधु चार पाँच वर्ष या ज्यादा-कम समय विहारचर्या में रहकर फिर गृह-वास में चला जाय और साधुहिंसा-प्रत्याख्यानी गृहस्थ गृहवास में रहता हुआ उस पुरुष की हिंसा करे तो क्या साधु को न मारने की उसकी प्रतिज्ञा का भंग होगा?

निर्ग्रन्थ स्थविर—नहीं, इससे प्रतिज्ञा-भंग न होगा।

गौतम—निर्ग्रन्थो! इसी प्रकार त्रसकाय की हिंसा का त्यागी श्रमणोपासक स्थावरकाय की हिंसा करता हुआ भी अपने प्रत्याख्यान का भंग नहीं करता, यही जानना चाहिये।

हे निर्ग्रन्थो! कोई गृहपति अथवा गृहपतिपुत्र धर्म सुन संसार से विरक्त होकर सर्वसावद्य का त्यागी श्रमण हो जाय तो उस समय वह सर्व प्रकार की हिंसा का त्यागी कहा जायगा कि नहीं?

निर्ग्रन्थ—हाँ, उस समय वह सर्वथा हिंसात्यागी ही कहा जायगा।

गौतम—वही साधु चार पाँच अथवा अधिक कम समय तक श्रामण्य-पर्याय पाल कर फिर गृहस्थ हो जाय तो वह सर्वथा हिंसात्यागी कहा जायगा?

निर्ग्रन्थ—नहीं, गृहवासी होने के बाद वह सर्वहिंसा-त्यागी श्रमण नहीं कहला सकता।

गौतम—वही यह जीव है जो पहले सब जीवों की हिंसा का

त्यागी था, पर अब वैसा नहीं रहा क्योंकि पहले वह संयमी था पर अब असंयत है। इसी तरह त्रसकाय में से स्थावरकाय में गया हुआ जीव 'स्थावर' है 'त्रस' नहीं, यह जानना चाहिये।

निर्ग्रन्थो! कोई परिव्राजक या परिव्राजिका अन्य मत से निकल कर निर्ग्रन्थ प्रवचन में प्रवेश करके श्रमणधर्म को स्वीकार कर निर्ग्रन्थ-मार्ग में विचरे तो उसके साथ निर्ग्रन्थ श्रमण आहार-पानी आदिका व्यवहार करेंगे?

निर्ग्रन्थ—हाँ, उसके साथ आहार-पानी आदि का व्यवहार करने में कोई हानि नहीं है।

गौतम—निर्ग्रन्थो! यदि वह श्रमण बना हुआ परिव्राजक गृहस्थ हो जाय तो उसके साथ भोजनादि व्यवहार किया जायगा?

निर्ग्रन्थ—नहीं, फिर उसके साथ वैसा कोई भी व्यवहार नहीं किया जा सकता।

गौतम—निर्ग्रन्थो! वही यह जीव है जिसके साथ पहले भोजन किया जा सकता था, पर अब नहीं किया जा सकता क्योंकि पहले वह श्रमण था, पर अब वैसा नहीं है। इसी तरह त्रस में से स्थावरकाय में गया हुआ जीव त्रसहिंसा-प्रत्याख्यानी के प्रत्याख्यान का विषय नहीं है, यही समझना चाहिये।

उपर्युक्त अनेक दृष्टान्तों से गौतम ने निर्ग्रन्थ उदय की 'त्रस मर कर स्थावर हो और वहाँ उसकी हिंसा हो तो श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान का भंग होता है' इस मान्यता का निरसन किया।

'सब जीव स्थावर हो जायेंगे तब त्रस प्रत्याख्यानी का व्रत निर्विषय होगा' इस प्रकार के उदय के तर्क का खण्डन करते हुए गौतम ने कहा—जो श्रमणोपासक देशविरति-धर्म का पालन कर के अन्त में अनशनपूर्वक समाधिमरण से मरते हैं अथवा जो श्रमणोपासक प्रथम विशेष व्रत-प्रत्याख्यान का पालन नहीं कर सकते पर अन्त में अनशन-पूर्वक समाधि-मरण करते हैं, उनका मरण कैसा समझना चाहिये?

निर्ग्रन्थ—इस प्रकार का मरण प्रशंसनीय माना जाता है।

गौतम—जो जीव इस प्रकार के मरण से मरते हैं वे त्रस-प्राणी

के रूप में ही उत्पन्न होते हैं और ये ही त्रस जीव श्रमणोपासक के व्रत के विषय हो सकते हैं। बहुत से मनुष्य महालोभी, महारम्भी और परिग्रहधारी अधार्मिक होते हैं जो अपने अशुभ कर्मों से फिर अशुभ-गतियों में उत्पन्न होते हैं। अनारम्भी साधु और अल्पारम्भी धार्मिक मनुष्य मर कर शुभ गतियों में जाते हैं। आरण्यक, आवसथिक, ग्राम-नियंत्रिक और राहसिक आदि तापस मर कर भवान्तर में असुरों की गतियों में उत्पन्न होते हैं और वहाँ से निकल कर फिर मनुष्य गति में गूँगे बहरे मनुष्य का भव पाते हैं। दीर्घायुष्क, समायुष्क अथवा अल्पायुष्क जीव मर कर फिर त्रसरूप में उत्पन्न होते हैं।

उक्त सब प्रकार के जीव यहाँ 'त्रस' हैं और मर कर फिर त्रस होते हैं। ये सर्व त्रसजीव श्रमणोपासक के व्रत के विषय हैं।

कितने ही श्रमणोपासक अधिक व्रत-नियम नहीं पाल सकते, फिर भी वे 'देशावकाशिक' व्रत ग्रहण करते हैं। अमुक नियमित सीमा से बाहर जाने आने का प्रत्याख्यान करते हैं। उनके व्रत का विषय नियमित हद के बाहर के जीव तो हैं ही, परन्तु हद के भीतर भी जो त्रस जीव हैं, या त्रस मर कर फिर त्रस होते हैं अथवा स्थावर मर कर त्रस होते हैं और स्थावर जीव भी जिनकी निरर्थक हिंसा का श्रमणोपासक त्यागी होता है, श्रमाणोपासक के व्रत के विषय हैं।

निर्ग्रन्थो ! यह बात कदापि नहीं हो सकती कि सब त्रस जीव मिट कर स्थावर हो-जायँ अथवा स्थावर मिट कर त्रस। जब संसार की स्थिति ऐसी है तो फिर 'कोई ऐसा पर्याय नहीं जो श्रमणोपासक के व्रत का विषय हो' यह कथन क्या उचित होगा ? और ऐसी बातों को लेकर मतभेद खड़ा करना क्या न्यायानुगत है ?

आयुष्मन् उदय ! मैत्री बुद्धि से भी जो श्रमण-ब्राह्मण की निन्दा करता है वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र को पाकर भी परलोक की आराधना में विघ्न डालता है। जो गुणी श्रमण-ब्राह्मण की निन्दा न करके उसको मित्र भाव से देखता है वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र को पाकर परलोक का सुधार करता है।

गौतम का विस्तृत विवेचन और हितवचन सुन कर निर्ग्रन्थ उदय

वहाँ से चलने लगा तब गौतम ने कहा—आयुष्मन् उदय ! विशिष्ट श्रमण-ब्राह्मण के मुख से एक भी आर्य—धार्मिक वचन सुन कर अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के बल से योग-क्षेम को प्राप्त करनेवाला मनुष्य उस आर्य—धार्मिक वचन के उपदेशक का देव की तरह आदर करता है।

उदय—आयुष्मन् गौतम ! इन पदों का मुझे पहले ज्ञान नहीं था। इस कारण इस विषय में मेरा विश्वास नहीं जमा। परन्तु अब इन पदों को सुना और समझा है। अब मैं इस विषय में श्रद्धा करता हूँ।

गौतम—आयुष्मन् उदय ! इस विषय में तुम्हें अवश्य ही श्रद्धा और रुचि लाना चाहिये।

इसके बाद निर्ग्रन्थ उदय ने चातुर्याम-धर्म परम्परा से निकल कर पाञ्चमहाव्रतिक धर्म मार्ग स्वीकार करने की अपनी इच्छा व्यक्त की और गौतम उनका अनुमोदन करते हुए अपने साथ उन्हें भगवान् के पास ले गये।

भगवान् महावीर को विधिपूर्वक वन्दन नमस्कार कर निर्ग्रन्थ उदय ने कहा—भगवन् ! मैं आपके समीप चातुर्याम-धर्म से पाञ्चमहाव्रतिक धर्म में आना चाहता हूँ।

महावीर ने कहा—देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसे सुख हो वैसे करो। इस काम में प्रतिबन्ध या प्रमाद करना योग्य नहीं।

इसके बाद निर्ग्रन्थ उदय महावीर-प्ररूपित पाञ्चमहाव्रतिक सप्रतिक्रमण धर्म का स्वीकार कर महावीर के श्रमणसंघ में सम्मिलित हो गये।[1]

इस वर्ष जालि, मयालि आदि अनेक अनगारों ने विपुलाचल पर अनशन कर देह छोड़ा।

वर्षा चातुर्मास्य नालन्दा में किया।

३५—पैंतीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४७७–४७६)

वर्षा ऋतु की समाप्ति होते ही भगवान् ने नालन्दा से विहार किया और प्रत्येक ग्राम तथा नगर में धर्म का प्रचार करते हुए आप विदेह की राजधानी के निकटस्थ वाणीयग्राम पधारे।

---

1 सूत्रकृताङ्ग श्रुतस्कन्ध २, नालंदीयाध्ययन ७, प० ४०६–४२५।

सुदर्शन श्रेष्ठी की प्रव्रज्या

वाणियग्राम गंडकी नदी के तट पर बसा हुआ एक व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ बड़े-बड़े व्यापारियों की कोठियाँ और माल के गोदाम बने हुए थे। इस ग्राम में अनेक धनाढ्य जैन गृहस्थ रहते थे जिनमें एक का नाम सुदर्शन था।

भगवान् के वाणिय ग्राम के बाहर दूतिपलास चैत्य में पधारते ही नगर में समाचार पहुँच गये और नगरनिवासियों का समुदाय दूतिपलास में इकट्ठा होने लगा। हजारों मनुष्य आये, दर्शन वन्दन किया और धर्मोपदेश सुनकर अपने-अपने घर लौट गये।

सभा विसर्जित होने के बाद श्रेष्ठी सुदर्शन ने भगवान् से काल-विषयक अनेक प्रश्न पूछे। काल कितने प्रकार का होता है? प्रमाण-काल कितने प्रकार का होता है? प्रमाण-काल, यथायुष्क-निर्वृत्तिकाल, मरण-काल और अद्धाकाल का क्या स्वरूप है? पल्योपम और सागरोपमों की क्या आवश्यकता है? पल्योपम तथा सागरोपम काल का भी क्षय होता है कि नहीं? इत्यादि सुदर्शन ने अनेक प्रश्न किये जिनके भगवान् ने स्पष्ट उत्तर दिए।

अन्त में भगवान् ने सुदर्शन के पूर्वभवों का निरूपण करते हुए कहा—सुदर्शन! प्रपूर्व भव में तेरा जीव महाबल नामक राजकुमार था। महाबल ने गृहस्थाश्रम का त्याग कर श्रमण धर्म की दीक्षा ली और अरसे तक श्रामण्य पालने के उपरान्त आयुष्य पूर्ण कर ब्रह्मदेवलोक में दस सागरोपम की आयुष्यस्थितिवाला देव हुआ। वही महाबल का जीव ब्रह्मदेवलोक की आयुष्य स्थिति पूरी कर मनुष्यलोक में आकर तू सुदर्शन श्रेष्ठी हुआ है। प्रपूर्व भव में तेरे जीव ने जो श्रमण धर्म का आराधन किया था उसी के संस्कारवश इस जन्म में भी तू स्थविरों के मुख से धर्म सुनता और उसपर श्रद्धा करता है।

भगवान् के मुख से अपने पूर्व भव का वृत्तान्त सुनते ही सुदर्शन को जातिस्मरणज्ञान हुआ। इससे वह स्वयं अपने पूर्व भव का वृत्तान्त जानने लगा।

जब सुदर्शन ने अपना पूर्वभव देखा तब उसके नेत्र हर्षाश्रुओं से

वहाँ से चलने लगा तब गौतम ने कहा—आयुष्मन् उदय ! विशिष्ट श्रमण-ब्राह्मण के मुख से एक भी आर्य—धार्मिक वचन सुन कर अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के बल से योग-क्षेम को प्राप्त करनेवाला मनुष्य उस आर्य—धार्मिक वचन के उपदेशक का देव की तरह आदर करता है।

उदय—आयुष्मन् गौतम ! इन पदों का मुझे पहले ज्ञान नहीं था। इस कारण इस विषय में मेरा विश्वास नहीं जमा। परन्तु अब इन पदों को सुना और समझा है। अब मैं इस विषय में श्रद्धा करता हूँ।

गौतम—आयुष्मन् उदय ! इस विषय में तुम्हें अवश्य ही श्रद्धा और रुचि लाना चाहिये।

इसके बाद निर्ग्रन्थ उदय ने चातुर्याम-धर्म परम्परा से निकल कर पाञ्चमहाव्रतिक धर्म मार्ग स्वीकार करने की अपनी इच्छा व्यक्त की और गौतम उनका अनुमोदन करते हुए अपने साथ उन्हें भगवान् के पास ले गये।

भगवान् महावीर को विधिपूर्वक वन्दन नमस्कार कर निर्ग्रन्थ उदय ने कहा—भगवन् ! मैं आपके समीप चातुर्याम-धर्म से पाञ्चमहाव्रतिक धर्म में आना चाहता हूँ।

महावीर ने कहा—देवानुप्रिय ! तुम्हें जैसे सुख हो वैसे करो। इस काम में प्रतिबन्ध या प्रमाद करना योग्य नहीं।

इसके बाद निर्ग्रन्थ उदय महावीर-प्ररूपित पाञ्चमहाव्रतिक सप्रतिक्रमण धर्म का स्वीकार कर महावीर के श्रमणसंघ में सम्मिलित हो गये।[1]

इस वर्ष जालि, मयालि आदि अनेक अनगारों ने विपुलाचल पर अनशन कर देह छोड़ा।

वर्षा चातुर्मास्य नालन्दा में किया।

वर्षा ऋतु की समाप्ति होते ही भगवान् ने नालन्दा से विहार किया और प्रत्येक ग्राम तथा नगर में धर्म का प्रचार करते हुए आप विदेह की राजधानी के निकटस्थ वाणीयग्राम पधारे।

३५—पैंतीसवाँ वर्ष (वि० पू० ४७७–४७६)

---

१ सूत्रकृताङ्ग श्रुतस्कन्ध २, नालंदीयाध्ययन ७, प० ४०६–४२५।

में पाँच सौ योजन, उत्तर में क्षुद्रहिमवद्वर्षधर, ऊपर सौधर्मकल्प और नीचे लोलचुअ नामक नरकावास तक रूपी पदार्थों को जानता तथा देखता हूँ।

गौतम—आनन्द! श्रमणोपासक को अवधिज्ञान होता अवश्य है पर वह इतना दूरग्राही नहीं होता जितना कि तुम बतला रहे हो। आर्य! इस भ्रान्त कथन का तुम्हें आलोचनापूर्वक प्रायश्चित्त करना चाहिये।

आनन्द—भगवन्! क्या जैन प्रवचन में सत्य प्ररूपण करने में भी प्रायश्चित्त का विधान है?

गौतम—नहीं आनन्द! ऐसा नहीं है।

आनन्द—तब तो भगवन्! आप ही प्रायश्चित्त कीजिये क्योंकि आपने ही मेरे कथन का प्रतिवाद करते हुए असत्य प्ररूपणा की है।

आनन्द की इस बात से गौतम के हृदय में गहरी शंका उत्पन्न हो गई। वे दूतिपलाश गये और भगवान् महावीर के पास जाकर भिक्षाचर्या की आलोचना के उपरान्त आनन्द के विषय में पूछा—भगवन्! इस विषय में आनन्द को आलोचना—प्रायश्चित्त करना चाहिये या मुझे?

भगवान्—गौतम! इस विषय में तुम्हीं को प्रायश्चित्त करना चाहिये और आनन्द से क्षमा प्रार्थना करनी चाहिये।

भगवान् महावीर की आज्ञा पाते ही गौतम आनन्द के पास गये और अपनी भूल का मिथ्यादुष्कृत कर के आनन्द से क्षमा प्रार्थना की।[1]

इस साल का वर्षा चातुर्मास्य भगवान् ने वैशाली में व्यतीत किया।

३६-छत्तीसवाँ वर्ष
(वि०पू० ४७७-४७६)

चातुर्मास्य समाप्त होने पर भगवान् ने वैशाली से कोशलभूमि की तरफ प्रयाण किया और प्रत्येक ग्राम और नगर में निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश करते हुए साकेत नगर पहुँचे।

साकेत कोशलभूमि के प्रसिद्ध नगरों में से एक था। वहाँ का

---

1 उपासकदशा, अध्ययन 1, पृ० 1–11।

रहनेवाला जिनदेव श्रावक दिशायात्रा करता हुआ कोटिवर्ष नामक नगर में पहुँचा। उन दिनों वह म्लेच्छों का देश था। कोटिवर्ष का राजा किरात था। व्यवहारार्थ आये हुए सार्थवाह जिनदेवने किरातराजको ऐसे वस्त्र, मणि और रत्न भेंट किए जो अन्य किसी के कोप में नहीं थे।

कोटिवर्ष नगर के किरातराज की प्रव्रज्या

अदृष्टपूर्व वस्तुओं को पाकर किरातराज बोला—अहा! क्या सुन्दर रत्न हैं! भला ऐसे रत्न कहाँ उत्पन्न होते हैं!

जिनदेव—ये और इनसे भी बढ़िया रत्न हमारे देश में उत्पन्न होते हैं।

किरातराज—इच्छा तो यह होती है कि मैं स्वयं तुम्हारे देशमें चल कर रत्नों को देखूँ, परन्तु मैं तुम्हारे राजा से डरता हूँ।

जिनदेव—हमारे राजा से आप को डरने की कोई बात नहीं है। फिर भी आप चाहें तो मैं उनकी आज्ञा मँगवा लूँ। यह कह कर जिन-देवने इस बारे में अपने राजा को पत्र द्वारा पूछा जिसके उत्तर में साकेतराजने लिखा कि किरातराज के आने में कोई आपत्ति नहीं है।

साकेतराज की आज्ञा पाकर किरातराज जिनदेव के साथ साकेत गया और उसी का अतिथि होकर रहा।

इस अवसर पर भगवान् महावीर साकेत के उद्यान में पधारे। पवन-वेग से नगर में भगवान् के आगमन के समाचार पहुँचे। साकेत-राज शत्रुञ्जय सपरिवार महोत्सवपूर्वक भगवान् के पास गया। नाग-रिकगण भी अपने अपने कुटुम्ब-परिवार के साथ भगवान् के समव-सरण में जाने के लिए उद्यत हुए। यह चहल-पहल देखकर किरातराज बोला—सार्थवाह! ये सब कहाँ जा रहे हैं?

जिनदेव—राजन्! आज यहाँ पर वह रत्नों का व्यापारी आया है जो संसार के सबसे बढ़िया रत्नों का मालिक है।

किरातराज—मित्र! तब तो बहुत ही अच्छा हुआ! हम भी चलें और बढ़िया से बढ़िया रत्नों को देख लें। यह कह कर किरातराज जिनदेव के साथ भगवान् महावीर की धर्मसभा में पहुँचा। भगवान् के छत्राति-छत्र और सिंहासनादि दिव्य प्रातिहार्यों को देखकर किरातराज चकित

हो गया। उसने रत्नोंके भेद और उनके मूल्यके संबन्ध में कुछ प्रश्न किए जिनके उत्तर में भगवान् महावीरने कहा—देवानुप्रिय ! रत्न दो प्रकार के होते हैं—एक भाव-रत्न और दूसरे द्रव्य-रत्न। भाव-रत्नों के मुख्य तीन भेद हैं—दर्शन रत्न, ज्ञान रत्न और चारित्र रत्न।

भावरत्नत्रयी का विस्तृत वर्णन करके भगवान् ने फरमाया कि ये ऐसे प्रभावशाली रत्न हैं जो धारक की प्रतिष्ठा बढ़ाने के उपरान्त उसके इह-लोक-परलोक सम्बन्धी सभी कष्टों को दूर करते हैं। द्रव्यरत्न कैसे भी मूल्यवान् हों, पर उनका प्रभाव परिमित होता है। वे केवल वर्तमान भव में ही सुख देनेवाले होते हैं। भाव-रत्न भवान्तर में भी धारक को सद्गति और सुख देनेवाले हैं।

भगवान् का रत्न विषयक व्याख्यान सुन कर किरातराज बहुत संतुष्ट हुआ। वह हाथ जोड़कर बोला–भगवन् ! मुझे भाव-रत्न दीजिये। भगवान्ने रजोहरण, गुच्छक आदि दे दिये जिनको किरातराज ने सहर्ष स्वीकार किया और निर्ग्रन्थधर्म की प्रव्रज्या लेकर भगवान् के शिष्यगण में प्रविष्ट हो गया।

भगवान् ने साकेत से आगे पाञ्चाल की ओर विहार कर दिया और कुछ समय काम्पिल्य में ठहरे। काम्पिल्य से सूरसेन की ओर पधारे और मथुरा, शौर्यपुर, नन्दीपुर आदि नगरों में विचर कर वापस विदेहभूमि को लौटे उन्होंने इस वर्ष वर्षावास मिथिला में किया।

३७—सैंतीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४७६-४७५)

चातुर्मास्य समाप्त होने पर भगवान् ने मगध की ओर विहार किया। प्रत्येक ग्राम और नगर में निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश करते हुए आप राजगृह पधारे और गुणशील चैत्य में समवसरण हुआ।

अन्यतीर्थिकोंके
आक्षेपात्मक प्रश्न

गुणशील चैत्य में अनेक अन्यतीर्थिक वसते थे। भगवान् की धर्म-सभा विसर्जित होने पर अनेक अन्यतीर्थिक भगवान् के आसपास बैठे हुए स्थविरों के पास आकर बोले—आर्यो ! तुम त्रिविध त्रिविध से असंयत और बाल हो।

---

१ आवश्यकसूत्र हारिभद्रीयवृत्ति, प० ७१५-७१६।

अन्यतीर्थिकों का आक्षेप सुन कर स्थविरों ने कहा—आर्यो ! किस कारण से हम असंयत, अविरत और बाल हो सकते हैं ?

अन्यतीर्थिक—आर्यो ! तुम अदत्त ग्रहण करते हो, अदत्त खाते हो, अदत्त चखते हो। इस कारण से तुम असंयत, अविरत और बाल हो।

स्थविर—आर्यो ! हम किस प्रकार अदत्त लेते, खाते अथवा चखते हैं ?

अन्यतीर्थिक—आर्यो ! तुम्हारे मत में दीयमान अदत्त है, प्रतिगृह्यमाण अप्रतिगृहीत है और निसृज्यमान अनिसृष्ट है क्योंकि तुम्हारे मत में दीयमान पदार्थ को दाता के हाथ से छूटने के बाद तुम्हारे पात्र में पड़ने से पहले यदि कोई बीच में से ले ले तो वह पदार्थ गृहस्थ का गया हुआ माना जाता है, तुम्हारा नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि तुम्हारे पात्र में जो पदार्थ पड़ता है वह अदत्त है क्योंकि जो पदार्थ दानकाल में तुम्हारा नहीं हुआ वह बाद में भी तुम्हारा नहीं हो सकता और इस प्रकार अदत्त को लेते, खाते और चखते हुए तुम असंयत, अविरत और बाल ही सिद्ध होते हो।

स्थविर—आर्यो ! हम अदत्त नहीं लेते, खाते और चखते किन्तु हम दत्त लेते, खाते और चखते हैं और इस प्रकार दिया हुआ ग्रहण करते और खाते हुए हम त्रिविध त्रिविध से संयत, विरत और पण्डित सिद्ध होते हैं।

अन्यतीर्थिक—आर्यो ! किस प्रकार तुम दत्तग्राही सिद्ध होते हो, सो हमें समझाओ।

स्थविर—आर्यो ! हमारे मत में दीयमान दत्त, प्रतिगृह्यमाण प्रतिगृहीत और निसृज्यमान निसृष्ट माना जाता है। गृहपति के हाथ से छूटने के अनन्तर यदि कोई उसे बीच में से उड़ा ले तो वह हमारा जाता है, गृहपति का नहीं। इस कारण हम किसी भी हेतु-युक्ति से अदत्तग्राही सिद्ध नहीं होते। परन्तु हे आर्यो ! तुम खुद ही त्रिविध त्रिविध से असंयत, अविरत और बाल सिद्ध होते हो।

अन्यतीर्थिक—क्यों ? हम असंयत, अविरत और बाल किसलिए कहलायेंगे ?

स्थविर—इसलिए कि तुम अदत्त लेते हो।

अन्यतीर्थिक—हम किस हेतु से अदत्तग्राही सिद्ध होंगे?

स्थविर—आर्यो! तुम्हारे मत से दीयमान अदत्त, प्रतिगृह्यमाण अप्रतिगृहीत और निसृज्यमान अनिसृष्ट है। इस कारण तुम अदत्त लेने-वाले हो। त्रिविध असंयत, अविरत और बाल हो।

अन्यतीर्थिक—आर्यो! तुम त्रिविध असंयत, अविरत और बाल हो।

स्थविर—क्यों? किस कारण से हम असंयत, अविरत और बाल कहे जायेंगे?

अन्यतीर्थिक—आर्यो! तुम चलते हुए पृथिवीकाय पर आक्रमण करते हो, उसपर प्रहार करते हो, उसको घिसते हो, दूसरे से मिलाते हो, उसे इकट्ठा करते और छूते हो, उसको सताते हो और उसके जीवों का नाश करते हो। इस प्रकार पृथिवी के जीवों पर आक्रमणादि क्रियाएँ करते हुए तुम असंयत, अविरत और बाल साबित होते हो।

स्थविर—आर्यो! चलते हुए हम पृथिवी पर आक्रमण आदि नहीं करते। शरीर की चिन्ता के लिए, बीमार की सेवा के निमित्त अथवा विहारचर्या के वश जब हमें पृथिवी पर चलना पड़ता है तब भी विवेक-पूर्वक धीरे-धीरे पादक्रम से चलते हैं। इसलिये न हम पृथिवी का आक्रमण करते हैं और न उसके जीवों का विनाश ही। परन्तु आर्यो! तुम खुद ही इस प्रकार पृथिवी के जीवों पर आक्रमण और उपद्रव करते हुए असंयत, अविरत और एकान्त बाल बन रहे हो।

अन्यतीर्थिक—आर्यो! तुम्हारा मत तो यह है कि गम्यमान अगत, व्यतिक्रम्यमाण अव्यतिक्रान्त और राजगृह को संप्राप्त होने का इच्छुक असंप्राप्त है।

स्थविर—आर्यो! ऐसा मत हमारा नहीं है। हमारे मत में तो गम्यमान गत, व्यतिक्रम्यमाण व्यतिक्रान्त और संप्राप्यमाण संप्राप्त ही माना जाता है।

इस प्रकार स्थविर भगवन्तोंने चर्चामें अन्यतीर्थिकों को परास्त करके वहाँ 'गति-प्रवाद' नामक अध्ययन की रचना[1] की।

---

1 भ० श ८, उ० ७, प० ३७५-३८०।

अनगार कालोदायी के प्रश्न—(१) अशुभ कर्म-करण विषय में

उस समय भगवान् महावीर को वन्दन करके अनगार कालोदायी ने पूछा—भगवन्! जीव दुष्ट फलदायक अशुभ कर्मों को स्वयं करते हैं, यह बात सत्य है ?

महावीर—हाँ कालोदायिन्! जीव अशुभ फलदायक कर्मों को करते हैं, यह बात सत्य है।

कालोदायी—भगवन्! जीव ऐसे अशुभ विपाक-दायक पाप कर्म कैसे करते होंगे ?

महावीर—कालोदायिन्! जैसे कोई मनुष्य मनोहर रसवाले अनेक व्यञ्जन युक्त विषमिश्रित पक्वान्न का भोजन करता है तब उसे वह पक्वान्न बहुत प्रिय लगता है। उसके तात्कालिक स्वाद में लुब्ध होकर वह प्रीतिपूर्वक खाता है, परन्तु परिणाम में वह अनिष्टकर होता है। भक्षक के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि पर वह बुरा प्रभाव डालता है। इसी प्रकार हे कालोदायिन्! जीव जब हिंसा करते हैं, असत्य बोलते हैं, चोरी करते हैं, मैथुन करते हैं, वस्तु-संग्रह करते हैं, क्रोध, मान, कपट, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, रति, अरति, पर-परिवाद, मायामृषावाद, मिथ्यात्व और शल्य आदि का सेवन करते हैं तब ये कार्य जीवों को अच्छे लगते हैं, परन्तु इनसे जो दुर्विपाक पाप-कर्म बन्धते हैं उनका फल बड़ा अनिष्ट होता है, जो बाँधनेवालों को भोगना पड़ता है।

कालोदायी—भगवन्! जीव कल्याण-फलदायक शुभ कर्मों को करते हैं ?

महावीर—हाँ कालोदायिन्! जीव शुभ-फलदायक कर्मों को भी करते हैं।

कालोदायी—जीव शुभ कर्मों को कैसे करते हैं ?।

महावीर—कालोदायिन्! जैसे, कोई मनुष्य औषध-मिश्रित पक्वान्न का भोजन करता है। उस समय यद्यपि वह भोजन उसे अच्छा नहीं लगता तथापि परिणाम में वह बल, रूप आदि की वृद्धि करके हितकारक होता है। इसी प्रकार हिंसा, असत्य, चोरी आदि प्रवृत्तियों

और क्रोधादि दुर्गुणों का त्याग जीवों को पहले बहुत दुष्कर मालूम होता है, परन्तु यह पापकर्मों का त्याग अन्त में सुखदायक और कल्याणकारक होता है। इस प्रकार हे कालोदायिन्! जीवों को पाप कर्म करना अच्छा लगता है और शुभ कर्म करना दुष्कर, तथापि परिणाम में एक दुःखकारक होता है और दूसरा सुखकारक[1]।

(२) अग्निकाय के आरम्भ के विषय में

कालोदायी—भगवन्! दो समान पुरुष हैं। दोनों के पास समान ही उपकरण हैं। वे दोनों ही अग्निकाय के आरम्भक हैं परन्तु उनमें से एक अग्नि को जलाता है और दूसरा उसे बुझाता है। इन दो में अधिक आरम्भक और कर्म-बन्धक कौन?

महावीर—कालोदायिन्! इन दो पुरुषों में अग्नि को जलानेवाला अधिक आरम्भक है और वही अधिक कर्म-बन्धक है, क्योंकि जो पुरुष अग्नि को जलाता है वह पृथिवीकाय का, अप्काय का, वायुकाय का, वनस्पतिकाय का और त्रसकाय का अधिक आरम्भ करता है और अग्निकाय का कम। इसके विपरीत जो पुरुष अग्नि को बुझाता है वह अग्निकाय का अधिक आरम्भ करता है, परन्तु पृथिवीकाय, अप्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन सब का अल्प आरम्भ करता है। इसलिए जो अग्नि को प्रज्वलित करता है वह अधिक आरम्भ करता है और उसको शान्त करनेवाला अल्प[2]।

(३) अचित्त पुद्गलों के प्रकाश के विषय में

कालोदायी—भगवन्! अचित्त पुद्गल प्रकाश अथवा उद्योत करते हैं? यदि करते हैं तो अचित्त पुद्गल किस प्रकार प्रकाशित होते होंगे?

महावीर—कालोदायिन्! अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं। कोई तेजोलेश्याधारी अनगार जब तेजोलेश्या छोड़ता है उस समय उसकी तेजोलेश्या के कुछ पुद्गल दूर जाकर गिरते हैं, कुछ नजदीक। दूर-निकट गिरे हुए वे पुद्गल प्रकाश को फैलाते हैं। हे कालोदायिन्! इस प्रकार अचित्त पुद्गल प्रकाशित होते हैं।

---

१ भ० श० ७, उ० १०, प० ३२५-३२६।

२ भ० श० ७, उ० १०, प० ३२६-३२७।

कालोदायीने भगवान् का यह विवेचन स्वीकार किया।

छट्ठ, अट्ठमादि तप करके कालोदायी ने अन्त में अनशनपूर्वक देह छोड़कर निर्वाण को प्राप्त किया[१]।

इस वर्ष गुणशील चैत्य में गणधर प्रभास ने एक मास का अनशन करके निर्वाण प्राप्त किया और अनेक अनगार विपुलाचल पर अनशनपूर्वक निर्वाण को प्राप्त हुए। अनेक नयी दीक्षायें भी हुईं।

यह वर्षावास भगवान् ने राजगृह में किया।

३८–अड़तीसवां वर्ष (वि० पू० ४७५-४७४)

इस वर्ष भगवान् ने मगधभूमि में ही विहार कर निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचार किया। चातुर्मास्य निकट आने पर भगवान् राजगृह पधारे और गुणशील में समवसरण हुआ।

अन्यतीर्थिकों की मान्यताओं के संबन्ध में गौतम के प्रश्न—

(१) क्रियाकाल और निष्ठाकाल के विषय में

गौतम ने पूछा—"भगवन्! अन्यतीर्थिक कहते हैं—चलमान चलित नहीं होता, इसी तरह उदीर्यमाण उदीरित, वेद्यमान वेदित, हीयमान हीन, छिद्यमान छिन्न, भिद्यमान भिन्न, दह्यमान दग्ध, म्रियमाण मृत और निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण नहीं होता।

(२) परमाणुओं के संयोग-वियोग के संबन्ध में

"अन्यतीर्थिक कहते हैं—दो परमाणु पुद्गल एकत्र नहीं मिलते, क्योंकि दो परमाणु पुद्गलों में स्निग्धता नहीं होती। तीन परमाणु एकत्र मिल सकते हैं, क्योंकि तीन परमाणुओं में स्निग्धता होती है। इन एकत्र मिले हुए तीन परमाणुओं का विश्लेषण करने पर दो अथवा तीन टुकड़े होंगे। दो टुकड़े होने पर डेढ़ डेढ़ परमाणु का एक एक टुकड़ा होगा और तीन टुकड़े होने पर एक एक परमाणु का एक एक टुकड़ा होगा। इसी प्रकार चार तथा पाँच आदि परमाणु-पुद्गल एकत्र मिलते हैं और इस प्रकार मिले हुए परमाणु समुदाय ही दुःख का रूप धारण करते हैं। वह दुःख भी शाश्वत है और उसमें सदा हानि वृद्धि होती रहती है।

---

१ भ० श० ७, उ० १०, प० ३२७।

"अन्यतीर्थिक कहते हैं—बोली जानेवाली अथवा बोली गई भाषा 'भाषा' कहलाती है, पर बोली जाती भाषा 'भाषा' नहीं कहलाती। और भाषा 'भाषक' की नहीं किन्तु 'अभाषक' की कहलाती है।

(३) भाषा के भाषात्व के संबन्ध में

"अन्यतीर्थिक कहते हैं—पहले क्रिया दुःख रूप होती है और पीछे भी वह दुःख रूप होती है, पर क्रिया-काल में क्रिया दुःखात्मक नहीं होती क्योंकि 'करण' से नहीं किन्तु 'अकरण' से ही क्रिया दुःखात्मक होती है, यह कहना चाहिए।

(४) क्रिया की दुःखात्मता के विषय में

"अन्यतीर्थिक कहते हैं—दुःख को कोई बनाता नहीं है और न कोई उसे छूता है। प्राणिमात्र बिना किए ही दुःखों का अनुभव करते हैं, यह कहना चाहिये। भगवन्! अन्यतीर्थिकों के ये मन्तव्य क्या सत्य हैं?"

(५) दुःख की अकृत्रिमता के विषय में

महावीर—"गौतम! अन्यतीर्थिकों का यह कथन कि 'चलमान चलित नहीं होता' ठीक नहीं है। इस विषय में मैं कहता हूँ कि "चलेमाणे चलिए" अर्थात् चलने लगा वह चला क्योंकि प्रत्येक समय की क्रिया अपने कार्य की उत्पत्ति के साथ समाप्त होती है। इससे सिद्ध हुआ कि क्रियाकाल और निष्ठाकाल एक है, अतः 'चलेमाणे' शब्द से सूचित 'वर्तमान' और 'चलिए' से ध्वनित 'भूत' काल वास्तव में भिन्न नहीं हैं। अतएव 'चलत्' और 'चलित' भी एक ही कार्य के 'साध्यमान' और 'सिद्ध' ऐसे दो भिन्न रूप हैं। यही बात 'उदीर्यमाण उदीरित, वेद्यमान वेदित, हीयमान हीन, छिद्यमान छिन्न, भिद्यमान भिन्न, दह्यमान दग्ध, म्रियमाण मृत और निर्जीर्यमाण निर्जीर्ण के संबन्ध में भी समझनी चाहिए।

"गौतम! परमाणुओं के मिलने-बिखरने के संबन्ध में भी अन्यतीर्थिकों की मान्यता ठीक नहीं है। इस विषय में मेरा मत यह है कि दो परमाणु भी एकत्र जुट सकते हैं, क्योंकि दो परमाणुओं में भी उन्हें जोड़नेवाली स्निग्धता विद्यमान होती है। मिले हुए दो परमाणुओं को तोड़ने पर फिर वे एक एक कर के जुदा हो जाते हैं। इसी तरह

तीन परमाणु भी आपस में मिल सकते हैं और तोड़ने पर फिर वे एक एक कर के जुदा हो जाते हैं।

"तीन परमाणु भी आपस में मिल सकते हैं और तोड़ने पर जुदा हो जाते हैं। तीन परमाणुओं के स्कन्ध को तोड़ कर यदि उसके दो विभाग किए जायँ तो एक भाग में एक परमाणु रहेगा और एक में दो। इन्हीं तीन परमाणुओं के स्कन्ध को तोड़ कर तीन भाग किए जायँ तो एक एक परमाणु का एक एक भाग होगा।

"इसी प्रकार चार, पाँच आदि परमाणु एकत्र मिल कर स्कन्ध बनते हैं, परन्तु वे स्कन्ध अशाश्वत होते हैं और नित्य ही उनमें हानि-वृद्धि होती रहती है।

"भाषा के विषय में भी अन्यतीर्थिकों के विचार प्रामाणिक नहीं हैं। इस विषय में मेरा सिद्धान्त यह है कि बोली जानेवाली अथवा बोली गई भाषा 'भाषा' नहीं, पर बोली जाती भाषा ही 'भाषा' है। और वह भाषा 'अभाषक' की नहीं, पर 'भाषक' की होती है।

"क्रिया की दुःखरूपता के संबन्ध में भी अन्यतीर्थिकों की मान्यता यथार्थ नहीं। पहले या पीछे क्रिया दुःखरूप नहीं होती, किन्तु क्रियाकाल में ही वह दुःखात्मक होती है और वह भी अकरणरूप से नहीं, करण-रूप से दुःखात्मक होती है।

"गौतम ! जो लोग दुःख को 'अकृत्य' और 'अस्पृश्य' कहते हैं वे भी मिथ्यावादी हैं। दुःख 'कृत्य' और 'स्पृश्य' है, क्योंकि संसारी जीव उसको बनाते, छूते और भोगते हैं, यह कहना चाहिए।"[1]

गौतम ने कहा—भगवन् ! अन्यतीर्थिक कहते हैं—एक जीव एक समय में ईर्यापथिकी और सांपरायिकी इन दो क्रियाओं को करता है।

एक समय में दो क्रियाओं के विषय में

जिस समय में ईर्यापथिकी करता है उसी समय में सांपरायिकी भी करता है और जिस समय में सांपरायिकी करता है उसी समय में वह ईर्यापथिकी भी करता है। अर्थात् ईर्यापथिकी करता हुआ सांपरायिकी और सांपरायिकी करता हुआ ईर्यापथिकी करता है। इस प्रकार अन्य-

---

1 भ० श० १, उ० १०, प० १०२–१०३।

तीर्थिक एक समय में दो क्रियाओं के करने की बात कहते हैं, सो क्या यह कथन ठीक है ?

महावीर—नहीं गौतम ! अन्यतीर्थिकों का यह कथन ठीक नहीं है । इस विषय में मेरा मत यह है कि एक जीव एक समय में एक ही क्रिया करता है—ईर्यापथिकी अथवा सांपरायिकी । जिस समय वह ईर्यापथिकी क्रिया करता है, उस समय सांपरायिकी नहीं करता और सांपरायिकी करने के समय ईर्यापथिकी नहीं करता[1] ।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! अन्यतीर्थिक कहते हैं—निर्ग्रन्थ कालधर्म प्राप्त होकर देवलोक में देव होता है तब वह अपनी दिव्य आत्मा से वहाँ के अन्य देव-देवियों के साथ अथवा अपनी देवियों के साथ विषय भोग नहीं करता किन्तु वह अपनी ही आत्मा में से अन्य वैक्रिय रूप बना बनाकर उनके साथ विषय सुख भोगता है । क्या भगवन् ! अन्यतीर्थिकोंका यह कथन सत्य है ?

निर्ग्रन्थों के देवभव के भोग सुखों के विषय में

महावीर—गौतम ! अन्यतीर्थिक इस विषय में जो कहते हैं वह सत्य नहीं है। सच तो यह है कि निर्ग्रन्थ कालधर्म प्राप्त होने के बाद किसी भी ऐसे देवलोक में देव होता है जो महाऋद्धि और प्रभावसंपन्न हो और जहाँ के देवों की आयुष्य-स्थिति बहुत लम्बी हो । वहाँ देवरूप से उत्पन्न निर्ग्रन्थ का जीव महातेजस्वी और ऋद्धिमान् देव होता है । वह वहाँ पर दूसरे देवों, उनकी देवियों और अपनी देवियों को अनुकूल करके उनसे विषयवासना पूर्ण करता है और एक जीव एक समय में एक ही वेद का अनुभव करता है—स्त्री-वेद का अथवा पुरुष-वेद का । स्त्री-वेद के अनुभवकाल में पुरुष-वेद का अनुभव नहीं करता और पुरुष-वेद के अनुभवकाल में स्त्री-वेद का ।

पुरुष-वेद के उदयकाल में पुरुष स्त्री की और स्त्री-वेद के उदयकाल में स्त्री पुरुष की प्रार्थना करती है । इस प्रकार अपने अपने वेदोदयकाल में स्त्री पुरुष एक दूसरे की अभिलाषा करते हैं[2] ।

---

1 भ० श० १, उ० १०, प० १०६ ।
2 भ० श० २, उ० ५, प० १३१–१३२ ।

गणधर अचलभ्राता और मेतार्य ने गुणशील चैत्य में मासिक अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया।

इस साल का वर्षावास भगवान् ने नालन्दा में किया।

चातुर्मास्य के अनन्तर नालन्दा से विचरते हुए भगवान् विदेह जनपद में पधारे। देश के अन्यान्य ग्राम नगरों में प्रवचन का उपदेश करते हुए आप मिथिला पधारे। यहाँ पर राजा जितशत्रु ने आपका बड़ा आदर किया।

३९-उनचालीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४७४-४७३)

समवसरण मिथिला के बाहर माणिभद्र चैत्य में हुआ। राजा जितशत्रु और रानी धारणी प्रमुख राजपरिवार तथा भाविक नगरजनों से चैत्य का मैदान विशाल धर्मसभा के रूप में परिवर्तित हो गया। आपने निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश किया। सभाजन संतुष्ट होकर अपने अपने स्थानों पर चले गए।

सभा-विसर्जन के बाद अनगार इन्द्रभूति ने वन्दन पुरस्सर ज्योतिष-शास्त्र से संबंधित अनेक प्रश्न किये जिनमें बीस प्रश्न मुख्य थे।

गौतम ने पूछा—

१—सूर्य प्रतिवर्ष कितने मण्डलों का भ्रमण करता है?

२—सूर्य तिर्यग्भ्रमण कैसे करता है?

३—सूर्य तथा चन्द्र कितने क्षेत्र को प्रकाशित करते हैं?

४—प्रकाशक का अवस्थान कैसा है?

५—सूर्य का प्रकाश कहाँ रुकता है?

६—ओजस् (प्रकाश) की स्थिति कितने काल की है?

७—कौन से पुद्गल सूर्य के प्रकाश का स्पर्श करते हैं?

८—सूर्योदय की स्थिति कैसी है?

९—पौरुषी छाया का क्या परिमाण है?

१०—योग किसे कहते हैं?

११—संवत्सरों का प्रारंभ कहाँ से होता है?

१२—संवत्सर कितने कहे हैं?

१३—चन्द्रमा की वृद्धि-हानि क्यों दीखती है?

१४—किस समय चाँद की चाँदनी बढ़ती है ?
१५—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा इनमें शीघ्रगति कौन है ?
१६—चाँद की चाँदनी का लक्षण क्या है ?
१७—चन्द्रादि ग्रहों का च्यवन और उपपात कैसे होता है ?
१८—भूतल से चन्द्र आदि ग्रह कितने ऊँचे हैं ?
१९—चन्द्र, सूर्यादि कितने हैं ?
२०—चन्द्र, सूर्यादि क्या हैं ?[1]

गौतम के उक्त प्रश्नों के उत्तर भगवान् महावीर ने इतने विस्तृत रूप से दिये हैं कि उनसे सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति जैसे प्राचीन पद्धति के ज्योतिष-विज्ञान के मौलिक ग्रन्थ बन गये हैं। उक्त प्रश्नों के उत्तरों से हम इस ग्रन्थ को जटिल बनाना उचित नहीं समझते।

भगवान् ने इस साल का वर्षावास मिथिला में ही बिताया।

४०—चालीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४७३–४७२)

चातुर्मास्य के बाद भगवान् विदेह देश में ही विचरे। अनेक श्रद्धालुओं को निर्ग्रन्थ मार्ग में दीक्षित किया और अनेक गृहस्थों को श्रमणोपासक बनाया। वर्षाकाल निकट आने पर आप फिर मिथिला पधारे और वर्षावास मिथिला में ही किया।

४१—इकतालीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४७२–४७१)

चातुर्मास्य की समाप्ति पर भगवान् ने मिथिला से मगध की तरफ विहार कर दिया और क्रमशः राजगृह पधार कर गुणशील चैत्य में वास किया।

महाशतक को चेतावनी

उन दिनों राजगृहनिवासी महाशतक श्रमणोपासक गृहस्थ-धर्म की अन्तिम आराधना करके अनशन किए हुए था। अनशन के बाद शुभाध्यवसाय और कर्मों के क्षयोपशम से महाशतक को अवधिज्ञान प्रकट हो गया था जिससे वह आनन्द की ही तरह ऊपर, नीचे और तिर्यग् लोक में दूर दूर तक जानता तथा देखता था।

उस समय उसकी स्त्री रेवती मदिरा से मतवाली होकर महाशतक

---

१ सूर्यप्रज्ञप्ति प० १–९।

के पास गई और विकृत चेष्टाओं तथा असभ्य वचनों से उसका ध्यान भंग करने लगी।

दो बार तो महाशतक ने उसकी बातें सुनी-अनसुनी कर दीं। पर जब वह बार बार विरुद्ध बातों और अभद्र चेष्टाओं से उसे सताती ही गई तब वह अपने क्रोध को दबा न सका! अवधिज्ञान से उसकी भविष्य की दशा को जान कर बोला—'अये मृत्युप्रार्थिनी रेवति! इतनी उन्मत्त क्यों हो रही है? सात दिन के भीतर ही अलस रोग से पीड़ित हो असमाधिपूर्वक मर कर तू नरक गति को प्राप्त होनेवाली है, इस बात की भी जरा चिन्ता कर।

महाशतक के कटुवचनों से रेवती भयभीत होकर सोचने लगी—सचमुच आज महाशतक मेरे ऊपर रुष्ट हुए हैं। न जाने अब मुझे किस बुरी तरह मारेंगे। वह धीरे धीरे वहाँ से हट कर अपने स्थान पर चली गई।

महाशतक के कथनानुसार ही रेवती को अलस रोग हुआ और सात दिन के भीतर उसका देहान्त हो गया।

रेवती के प्रति किये गये कटुभाषण के संबन्ध में महाशतक को चेतावनी देने के लिये भगवान् महावीर ने इन्द्रभूति गौतम को बुला कर कहा—गौतम! यहाँ मेरा अन्तेवासी महाशतक श्रमणोपासक अपनी पौषधशाला में अन्तिम अनशन कर काल निर्गमन कर रहा है। अपनी स्त्री रेवती द्वारा मोहजनक वचनों से सताये जाने पर उसने क्रोधवश हो रेवती की कठोर वचनों से तर्जना की है। इसलिये गौतम! महाशतक को जाकर कह कि अन्तिम अनशन कर समभाव में रहे हुए श्रमणोपासक को ऐसा करना उचित नहीं। यथार्थ-सत्य होने पर अप्रिय कठोर वचन बोलना अनशनधारी श्रमणोपासक का कर्तव्य नहीं। देवानुप्रिय! रेवती को अप्रिय वचन कह कर तूने अच्छा नहीं किया। इसका उचित आलोचना—प्रायश्चित्त लेकर तुझे शुद्ध होना चाहिये।

महावीर की आज्ञा पाकर गौतम महाशतक के यहाँ गये और भगवान् का संदेश उसे दिया। महाशतक ने भी भगवान् की आज्ञा सिर आँखों पर चढ़ाई और अपनी भूल का प्रायश्चित्त किया।

एक समय वैभारगिरि के नीचे उष्ण जलह्रद के विषय में इन्द्रभूति गौतम ने पूछा—भगवन्! अन्यतीर्थिक यह कहते हैं कि राजगृह नगर के बाहर वैभार पर्वत के नीचे एक बड़ा भारी जलह्रद है जिसकी लंबाई और चौड़ाई अनेक योजन परिमित है। उसके किनारे विविध जाति के वृक्षों की घटाओं से सुशोभित हैं। उसमें से बड़े बड़े बादल तैयार होते और बरसते हैं। इसके अतिरिक्त उसमें जो अधिक जलसमूह होता है वही उष्ण जलस्रोतों के रूप में निरन्तर बहता रहता है। भगवन्! क्या अन्यतीर्थिकों का यह कथन सत्य है?

उष्ण जलह्रद के विषय में प्रश्न

महावीर—गौतम! अन्यतीर्थिकों का यह कथन सत्य नहीं है। इस विषय में मेरा मत यह है कि राजगृह के बाहर वैभार पर्वत के पास अत्यन्त उष्ण स्थान के पास से निकलनेवाला 'महातपस्तीरप्रभव' नामक जलस्रोत है, जिसकी लंबाई-चौड़ाई पाँच पाँच सौ धनुष्य परिमाण है। इसके किनारों पर अनेक जाति के वृक्ष लगे हुए हैं जिनसे इसकी शोभा दर्शनीय हो गई है। इस उष्ण जलस्रोत में उष्णयोनि के जीव उत्पन्न होते और मरते हैं, तथा उष्ण स्वभाव के जल-पुद्गल भी उष्णजल के रूप में इसमें आते और निकलते रहते हैं। यही कारण है कि स्रोत में से नित्य और सतत उष्णजल का प्रवाह बाहर बहता रहता है। महातपस्तीरप्रभव जलस्रोत की यही हकीकत है और यही इसका रहस्य है।

गौतम—भगवन्! आपका कथन सत्य है। महातपस्तीरप्रभव जलस्रोत का रहस्य यही हो सकता है।

गौतम ने कहा—भगवन्! अन्यतीर्थिक कहते हैं—नियमानुसार गठे हुए और नियत अन्तर पर गाँठोंवाले एक जाल के जैसी अनेक जीवों के अनेक भवसंचित आयुष्यों की रचना होती है। जिस प्रकार जाल में सब गाँठें नियत अन्तर पर रहती हैं और एक दूसरी के साथ संबन्धित रहती हैं, उसी तरह सब आयुष्य एक दूसरे से नियत अन्तर पर रहे हुए होते हैं। इनमें से एक जीव एक समय में दो आयुष्यों को भोगता है—

आयुष्य कर्म के विषय में प्रश्न

इहभविक और पारभविक। जिस समय इहभविक आयुष्य भोगता है उसी समय पारभाविक भी भोगता है। भगवन्! क्या अन्यतीर्थिकों की यह मान्यता ठीक है ?[१]

महावीर—गौतम! इस विषय में अन्यतीर्थिक जो कहते हैं वह ठीक नहीं है। हमारा मत यह है कि अनेक जीवों के आयुष्य जाल-ग्रन्थियों के आकार के नहीं होते परन्तु एक जीव के अनेक भवों के आयुष्य वैसे हो सकते हैं। तथा एक जीव एक समय में दो आयुष्यों को भोग नहीं सकता किन्तु एक ही को भोग सकता है—इहभविक आयुष्य को अथवा पारभविक आयुष्य को[२]।

गौतम बोले—भगवन्! अन्यतीर्थिक कहते हैं—जैसे युवा पुरुष अपने हाथ में युवति स्त्री का हाथ पकड़ता है अथवा जिस प्रकार

मनुष्यलोक की मानव बस्ती के संबंध में

चक्रनाभि से अरक भिड़े रहते हैं, वैसे ही यह मनुष्यलोक चार सौ पाँच सौ योजन तक मनुष्यों से भरा हुआ है। भगवन्! क्या अन्यतीर्थिकों का यह कथन सत्य है ?

महावीर—नहीं गौतम! अन्यतीर्थिकों की यह मान्यता ठीक नहीं है। इस विषय में मेरा कहना यह है कि मनुष्यलोक तो नहीं पर नरक लोक इस प्रकार चार सौ पाँच सौ योजन पर्यन्त नारकजीवों से ठसा-ठस भरा हुआ रहता है[३]।

गौतम ने पूछा—भगवन्! अन्यतीर्थिक यह कहते हैं—इस राज-गृह नगर में जितने जीव हैं, उन सब के सुखों अथवा दुःखों को इकट्ठा

सुख अथवा दुःख के परिमाण के विषय में

करके बेर की गुठली, बाल, कलाय, जूँ अथवा लीख जितने परिमाण में भी बताने में कोई समर्थ नहीं है। क्या अन्यतीर्थिकों का यह कथन यथार्थ है ?

महावीर—गौतम! अन्यतीर्थिकों का उक्त कथन ठीक नहीं है।

---

१ भ० श० २, उ० ५, पृ० १४१।

२ भ० श० ५, उ० ३, पृ० २१४।

३ भ० श० ५, उ० ६, पृ० २३०।

इस विषय में मेरा सिद्धान्त यह है—राजगृह के तो क्या संसार भर के सब जीवों के सुख-दुःखों को इकट्ठा करके लिक्षापरिमाण भी दिखाने को कोई समर्थ नहीं है। गौतम! सम्पूर्ण लोक के सुख दुःखों को इकट्ठा करने पर भी उनका पिण्ड लिक्षा के बराबर भी क्यों नहीं होता, इसको मैं एक दृष्टान्त से समझाऊँगा। मान लो कि कोई एक महान् सामर्थ्यवान् देव है। वह सुगन्धी से भरा हुआ एक डिब्बा लेकर लक्ष-योजन परिमाणवाले संपूर्ण जम्बूद्वीप के ऊपर पलकमात्र में इक्कीस बार चक्कर काटता हुआ डिब्बे में की तमाम सुगंधी सारे जम्बूद्वीप में बीखेर दे। तब वे सुगंधी-पुद्गल संपूर्ण जम्बूद्वीप का स्पर्श करेंगे या नहीं?

गौतम—हाँ, भगवन्! वे सूक्ष्म सुगंधी परमाणु संपूर्ण जंबूद्वीप में फ़ैलकर उसका स्पर्श कर लेंगे।

महावीर—गौतम! अगर उन सूक्ष्म सुगन्धी परमाणुओं को कोई फिर इकट्ठा करना चाहे तो क्या वह एक लिक्षा परिमाण भी इकट्ठा करके दिखा सकता है?

गौतम—नहीं भगवन्! उन सूक्ष्म पुद्गलों को फिर इकट्ठा कर दिखाना अशक्य है।

महावीर—इसी प्रकार लोकगत सर्वजीवों के सम्पूर्ण सुख-दुःखों को इकट्ठा करके लिक्षा-परिमाण भी दिखाने को कोई समर्थ नहीं है[1]।

गौतम ने पूछा—भगवन्! अन्यतीर्थिक कहते हैं कि प्राण, भूत और सत्त्वनामधारी सर्वजीव एकान्त दुःख को भोगते हैं। क्या यह कथन सत्य है?

एकान्त दुःखवेदना के संबंध में

महावीर—नहीं, गौतम! अन्यतीर्थिकों का उक्त कथन ठीक नहीं है। सिद्धान्त यह है कि कुछ जीव नित्य एकान्तदुःख को भोगते हैं और कभी कभी सुख को। कुछ जीव नित्य एकान्त-सुख का अनुभव करते हैं और कभी कभी दुःख का। तब कितने ही जीव सुख और दुःख को अनियमितता से भोगते हैं।

---

१ भ० श० ६, उ० १, प० २८४-२८५।

नारक जीव नित्य एकान्त-दुःख का अनुभव करते हैं और समय विशेष में वे सुख को भी पाते हैं। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक देव एकान्त सुख का अनुभव करते हैं, पर समय विशेष में वे दुःख को भी भोगते हैं। पृथिवीकायिक आदि तिर्यञ्च गति के जीव और मनुष्य अनियमितता से सुख दुःख को भोगते हैं। कभी वे सुख विपाक को भोगते हैं और कभी दुःख विपाक को[1]।

इस वर्ष में अग्निभूति और वायुभूति नामक गणधरों ने राजगृह के गुणशील चैत्य में मासिक अनशनपूर्वक निर्वाण प्राप्त किया।

इस वर्ष का वर्षावास भगवान् ने राजगृह में किया।

वर्षा चातुर्मास्य के बाद भी भगवान् महीनों तक राजगृह में ठहरे।

४२-बयालीसवाँ वर्ष
(वि० पू० ४७१-४७०)

इस बीच उनके गणधर अव्यक्त, मण्डिक, मौर्यपुत्र और अकम्पिक मासिक अनशनपूर्वक गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त हुए।

दुष्षमदुष्षम काल का भारत और उसके मनुष्य

इन्द्रभूति गौतम ने पूछा—भगवन्! अवसर्पिणी काल के दुष्षम-दुष्षमा समय के पूर्णरूप से लग जाने पर जम्बूद्वीप के भारतवर्ष की क्या अवस्था होगी?

महावीर—गौतम! उस समय का भारत हाहाकार, आर्त्तनाद और कोलाहलमय होगा। विषमकाल के प्रभाव से कठोर, भयंकर और असह्य हवा के ववण्डर उठेंगे और आँधियाँ चलेंगी जिनसे सब दिशायें धूमिल, रजस्वला और अन्धकारमय हो जायेंगी। समय की रूक्षता के वश ऋतुएँ विकृत हो जायेंगी, चन्द्र अधिक शीत फेकेंगे और सूर्य अत्यधिक गर्मी करेंगे।

उस समय जोरदार बिजलियाँ चमकेंगी और प्रचण्ड पवन के साथ मूसलधार पानी बरसेगा जिसका जल अरस, विरस, खारा, खट्टा, विषैला और तेजाब सा तेज होगा। उससे निर्वाह न होकर विविध व्याधिवेदनाओं की उत्पत्ति होगी।

उन मेघों के जल से भारत के ग्रामों और नगरों के मनुष्यों और

---

१ भ० श० ६, उ० ९, प० २८५–२८६।

जानवरों का, आकाश में उड़नेवाले पक्षियों का, ग्राम्य तथा आरण्यक त्रस-स्थावर प्राणियों का और सब प्रकार की वनस्पतियों का विनाश हो जायगा। एक वैताढ्य पर्वत को छोड़ कर सभी पहाड़-पहाड़ियाँ वज्रपातों से खण्ड-विखण्ड हो जायेंगी। गंगा और सिन्धु को छोड़ कर शेष नदी, नाले, सरोवर आदि ऊँचे-नीचे स्थल समतल हो जायँगे।

गौतम—भगवन्! तब भारतभूमि की क्या दशा होगी?

महावीर—गौतम! उस समय भारतवर्ष की भूमि अंगार-स्वरूप, मुर्मुर-स्वरूप, भस्म-स्वरूप, तपे हुए तवे और जलती हुई आगसी गर्म, मरुस्थलीसी वालुकामयी और छिछली झीलसी काई (शैवाल), कीचड़ से दुर्गम होगी।

गौतम—भगवन्! तत्कालीन भारतवर्ष का मनुष्य-समाज कैसा होगा?

महावीर—गौतम! तत्कालीन भारतवर्ष के मनुष्यों की दशा बड़ी दयनीय होगी। विरूप, विवर्ण, दुर्गन्ध, दुःस्पर्श और विरस शरीरोंवाले होने से वे अप्रिय और अदर्शनीय होंगे। वे दीनस्वर, हीनस्वर, अनिष्टस्वर, अनादेयवचन, अविश्वसनीय, निर्लज्ज, कपटपटु, क्लेशप्रिय, हिंसक, वैरशील, अमर्याद, अकार्यरत और अविनीत होंगे। उनके नख बड़े, केश कपिल, वर्ण श्याम, सिर बेडौल और शरीर नसों से लिपटा हुआ सा प्रतीत होने के कारण अदर्शनीय होगा।

उनके अंगोपांग बलों से संकुचित, मस्तक खुले घड़े से, आँख और नाक टेढ़े तथा मुख बुड्ढों के से विरलदन्त बलों से भीषण होंगे।

उनके शरीर पामाग्रस्त, तीक्ष्ण नखों से विक्षत, दाद से कठिन, फटी चमड़ीवाले और दागों से चितकबरे होंगे। उनकी शारीरिक रचना निर्बल, आकार भोंडा और बैठने-उठने, खाने-पीने की क्रियाएँ निन्दनीय होंगी। उनके शरीर विविध व्याधि पीड़ित, गति स्खलनायुक्त और चेष्टायें विकृत होंगी।

वे उत्साहहीन, सत्त्वहीन, तेजोहीन, शीतदेह, उष्णदेह, मलिनदेह, क्रोध-मान-माया से भरे, लोभी, दुःखग्रस्त, बहुधा धर्मसंज्ञाहीन और सम्यक्त्व से भ्रष्ट होंगे।

उनके शरीर हाथ भर के और उम्र सोलह अथवा बीस वर्ष की होगी।

वे पुत्र-पौत्रादि बहुल परिवार युक्त होंगे।

उनकी संख्या परिमित होगी और वे गंगा-सिन्धु महानदियों के तदाश्रित वैताढ्य पर्वत के बहत्तर बिलों में निवास करेंगे।

गौतम—भगवन्! उन मनुष्यों का आहार क्या होगा?

महावीर—गौतम! उस समय गंगा-सिन्धु महानदियों का प्रवाह रथमार्ग जितना चौड़ा होगा। उनकी गहराई चक्रनाभि से अधिक न होगी। उनका जल मत्स्य, कच्छपादि जलचर जीवों से व्याप्त होगा। जब सूर्योदय और सूर्यास्त का समय होगा, वे मनुष्य अपने अपने बिलों से निकल कर नदियों में से मत्स्यादि जीवों को स्थल में ले जायेंगे और धूप में पके-भुने उन जलचरों का आहार करेंगे। दुष्षम-दुष्षमा के भारतीय मानवों की जीवनचर्या इक्कीस हजार वर्षों तक इसी तरह चलती रहेगी।

गौतम—भगवन्! वे निश्शील, निर्गुण, निर्मर्याद, त्याग-व्रतहीन, बहुधा मांसाहारी और मत्स्याहारी मनुष्य मरकर कहाँ जायेंगे? कहाँ उत्पन्न होंगे?

महावीर—वे बहुधा नारक और तिर्यञ्च योनियों में उत्पन्न होंगे[1]।

राजगृह से विहार करते हुए भगवान् अपापा पधारे। अपापा के उद्यान में समवसरण हुआ। गणधर के प्रश्नोत्तर में यहाँ पर भी भगवान् ने काल-चक्र का सविस्तर वर्णन किया।

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल, उनमें होनेवाले मनुष्यों और उनकी उन्नत-अवनत स्थितियों का वर्णन करते हुए आपने वर्तमान अवसर्पिणी के दुषमा नामक पञ्चमारक का विशेष वर्णन किया।

आपने कहा—तीर्थंकरों के समय में यह भारतवर्ष धनधान्य से समृद्ध, नगर गाँवों से व्याप्त स्वर्ग सदृश होता है। तत्कालीन ग्राम नगर समान, नगर देवलोक समान, कौटुम्बिक राजा तुल्य और राजा

---

१ भ० श० ७, उ० ६, प० ३०५-३०९।

कुबेर तुल्य समृद्ध होते हैं। उस समय आचार्य चन्द्र समान, माता-पिता देवता समान, सास माता समान, श्वसुर पिता समान होते हैं। तत्कालीन जनसमाज धर्माधर्मविधिज्ञ, विनीत, सत्य-शौचसंपन्न, देव-गुरुपूजक और स्वदारसंतोषी होता है। विज्ञानवेत्ताओं की कदर होती है। कुल, शील तथा विद्या का मूल्य होता है। लोग ईति, उपद्रव, भय और शोक से मुक्त होते हैं। राजा जिन-भक्त होते हैं और जैन-धर्म-विरोधी बहुधा अपमानित होते हैं।

यह सब आज तक था। अब जब चौपन उत्तम पुरुष व्यतीत हो जायेंगे और केवली, मनःपर्यवज्ञानी अवधिज्ञानी तथा श्रुतकेवली इन सब का विरह हो जायगा तब भारतवर्ष की दशा इसके विपरीत होती जायगी। प्रतिदिन मनुष्य समाज क्रोधादिकषाय-विष से विवेकहीन बनते जायेंगे। प्रबल जल-प्रवाह के आगे जैसे गढ़ छिन्न-भिन्न हो जाता है वैसे ही स्वच्छन्द लोक-प्रवाह के आगे हितकर मर्यादाएँ छिन्न-भिन्न हो जायेंगी। ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा जन-समाज दया-दान-सत्य-हीन और कुतीर्थिकों से मोहित होकर अधिकाधिक अधर्मशील होता जायगा।

उस समय ग्राम श्मशान तुल्य, नगर प्रेतलोक सदृश, भद्रजन दास समान और राजा लोग यमदण्ड समान होंगे। लोभी राजा अपने सेवकों को पकड़ेंगे और सेवक नागरिकों को। इस प्रकार मत्स्यों की तरह दुर्बल सबलों से सताये जायेंगे। जो अन्त में हैं वे मध्य में और मध्य में हैं वे प्रत्यन्त होंगे। बिना पतवार के नाव की तरह देश डोलते रहेंगे। चोर धन लूटेंगे। राजा करों से राष्ट्रों को उत्पीड़ित करेंगे और न्यायाधिकारी रिश्वतखोरी में तत्पर रहेंगे। जनसमाज स्वजनविरोधी, स्वार्थप्रिय, परोपकार-निरपेक्ष और अविचारितभाषी होगा। बहुधा उनके वचन असार होंगे। मनुष्यों की धन-धान्य विषयक तृष्णा कभी शान्त नहीं होगी। वे संसार-निमग्न, दाक्षिण्यहीन, निर्लज्ज और धर्मश्रवण में प्रमादी होंगे।

दुष्षमाकाल के शिष्य गुरुओं की सेवा नहीं करेंगे और गुरु शिष्यों को शास्त्र का शिक्षण नहीं देंगे। गुरुकुलवास की मर्यादा उठ जायगी।

लोगों की बुद्धि धर्म में शिथिल हो जायगी और पृथ्वी क्षुद्रजन्तुओं से भर जायगी। देव पृथ्वी पर दृष्टिगोचर नहीं होंगे। पुत्र माता-पिता की अवज्ञा करेंगे और कटुवचन सुनावेंगे। हास्यों, भाषणों, कटाक्षों और सविलास निरीक्षणों से निर्लज्ज कुलवधुएँ वेश्याओं को भी शिक्षण देंगी। श्रावक-श्राविका और दान-शील-तप-भावात्मक धर्म की हानि होगी।

थोड़े से कारण से श्रमणों और श्रमणियों में झगड़े होंगे। धर्म में शठता और चापलूसी का प्रवेश होगा। झूठे तोल-माप प्रचलित होंगे। बहुधा दुर्जन जीतेंगे और सज्जन दुःख पायेंगे।

विद्या, मंत्र, तंत्र, औषधि, मणि, पुष्प, फल, रस, रूप, आयुष्य, ऋद्धि, आकृति, ऊँचाई और धर्म इन सब उत्तम पदार्थों का ह्रास होगा और दुष्षम-दुष्षमा नामक छठे आरे में तो इनकी अत्यन्त ही हीनता हो जायगी।

प्रतिदिन क्षीणता को प्राप्त होते हुए इस लोक में कृष्णपक्ष में चन्द्र की तरह जो मनुष्य अपना जीवन धार्मिक बनाकर धर्म में व्यतीत करेंगे उन्हींका जन्म सफल होगा।

इस हानिशील दुष्षमा समय के अन्त में दुःप्रसह आचार्य, फल्गुश्री साध्वी, नागिल श्रावक और सत्यश्री श्राविका इन चार मनुष्यों का चतुर्विधसंघ शेष रहेगा। विमलवाहन राजा और सुमुख अमात्य ये दुष्षमाकालीन भारतवर्ष के अन्तिम राजा और अमात्य होंगे।

दुष्षमा के अन्त में मनुष्य का शरीर दो हाथ भर और आयुष्य बीस वर्ष का होगा। दुष्षमा के अन्तिम दिन पूर्वाह्न में चारित्र-धर्म का, मध्याह्न में राजधर्म का और अपराह्न में अग्नि का विच्छेद होगा।

यह इक्कीस हजार वर्ष का दुष्षमाकाल पूरा होकर इतने ही वर्षों का दुष्षम-दुष्षमा नामक छठा आरा लगेगा। तब धर्मनीति, राजनीति आदि के अभाव में लोक अनाथ होंगे। माता-पुत्रादि का व्यवहार लुप्त होगा और मनुष्यों में पशुवृत्तियाँ प्रचलित होंगी।

दुष्षमदुष्षमा के प्रारंभ में ही प्रचण्ड आँधियाँ चलेंगी और प्रलयकारी मेघ बरसेंगे जिनसे भारतभूमि के मनुष्यों और पशुओं का अधिकांश नाश हो जायगा। अत्यल्पसंख्यक मनुष्य और पशु गंगा एवं

सिन्धु के तटों पर पहाड़ी गुफाओं में रहेंगे और मांस मत्स्यों के आहार से जीवन निर्वाह करेंगे।

अवसर्पिणी काल के दुष्पम-दुष्पमा विभाग के बाद उत्सर्पिणी का इसी नाम का प्रथम आरा लगेगा और इक्कीस हजार वर्ष तक भारत की यही दशा रहेगी जो छठे आरे में थी।

उत्सर्पिणी का प्रथम आरा समाप्त होकर दूसरा लगेगा तब फिर शुभ समय का आरम्भ होगा। पहले पुष्कर-संवर्तक मेघ बरसेगा जिससे भूमि का ताप दूर होगा। फिर क्षीर-मेघ बरसेगा जिससे धान्य की उत्पत्ति होगी। तीसरा घृत-मेघ बरसकर पदार्थों में चिकनाहट उत्पन्न करेगा। चौथा अमृत-मेघ बरसेगा तब नाना प्रकार के रस-वीर्यवाली ओपधियाँ उत्पन्न होंगी और अन्त में रस-मेघ बरस कर पृथ्वी आदि में रस की उत्पत्ति करेगा। ये पाँचों ही मेघ सात-सात दिन तक निरन्तर बरसेंगे जिससे दग्धप्राय बनी हुई इस भारतभूमि पर हरियाली, वृक्ष, लता, ओपधि आदि प्रकट होंगे। भूमि की इस समृद्धि को देखकर मनुष्य गुफा-बिलों से बाहर आकर मैदानों में बसेंगे और मांसाहार को छोड़कर वनस्पतिभोजी बनेंगे। प्रतिदिन उनमें रूप, रंग, बुद्धि, आयुष्य आदि की वृद्धि होगी और उत्सर्पिणी के दुष्पमा समय के अन्त तक वे पर्याप्त सभ्य बन जायेंगे। वे अपना सामाजिक संगठन करेंगे। ग्राम नगर बसाकर रहेंगे। घोड़े, हाथी, बैल आदि का संग्रह करना सीखेंगे। पढ़ना, लिखना, शिल्पकला आदि का प्रचार होगा। अग्नि के प्रकट होने पर भोजन पकाना आदि विज्ञान प्रचलित होंगे। दुष्पमा के बाद दुष्पमसुपमा नामक तृतीय आरक आरम्भ होगा जबकि एक-एक करके फिर चौवीस तीर्थंकर होंगे और तीर्थप्रवर्तन कर भारतवर्ष में धर्म का प्रचार करेंगे।

उत्सर्पिणी के दुष्पमसुपमा के बाद क्रमशः सुपमदुष्पमा, सुपमा और सुपम-सुपमा नामक चौथा, पाँचवाँ और छठा ये तीन आरे होंगे। इनमें सुपमदुष्पमा के आदि भाग में फिर धर्म-कर्म का विच्छेद हो जायगा। तब जीवों के बड़े-बड़े शरीर और बड़े-बड़े आयुष्य होंगे। वे वनों में रहेंगे और दिव्य वनस्पतियों से अपना जीवन-निर्वाह करेंगे।

फिर अवसर्पिणी काल लगेगा और प्रत्येक वस्तु का ह्रास होने लगेगा।

इस प्रकार अनन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी इस संसार में व्यतीत हो गई और होंगी। जिन जीवों ने संसार-प्रवाह से निकल कर वास्तविक धर्म का आराधन किया, उन्हों ने इस कालचक्र को पार कर स्वस्वरूप को प्राप्त किया और करेंगे।

कालचक्र का सविस्तर स्वरूप निरूपण करके भगवान् ने संसार के दुःखों और भ्रमणों की भयंकरता दिखाई जिसे सुनकर अनेक भव्य आत्माओं ने संसार से विरक्त हो कर निर्ग्रन्थ-धर्म की शरण ली।

भगवान् महावीर के जीवन का यह अन्तिम वर्ष था। इस वर्ष का वर्षा चातुर्मास्य पावा में व्यतीत करने का निर्णय करके आप राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा में पधारे और वहीं वर्षा चातुर्मास्य की स्थिरता की[1]।

इस वर्ष भी भगवान् ने निर्ग्रन्थ प्रवचन का खासा प्रचार किया और राजा पुण्यपाल[2] प्रमुख अनेक भव्यात्माओं को निर्ग्रन्थ-धर्म की प्रव्रज्या दी।

एक-एक करके वर्षाकाल के तीन महीने बीत गये और चौथा महीना लगभग आधा बीतने आया। कार्तिक-अमावस्या का प्रातः-काल हो चुका था। उस समय राजा हस्तिपाल के रज्जुग सभाभवन में भगवान् महावीर की अन्तिम उपदेश सभा हुई, जहाँ अनेक गण्य-मान्य व्यक्ति सम्मिलित हुए थे जिनमें काशीकोशल के नौ लिच्छवी तथा नौ मल्ल एवं अठारह गणराज विशेष उल्लेखनीय हैं।

भगवान् ने अपने जीवन की समाप्ति निकट जान कर अन्तिम उपदेश की अखण्ड धारा चालू की जो अमावस्या की पिछली रात तक चलती रही। इस दीर्घकालीन देशना में आपने ५५ पुण्य फल-

---

१ श्रीनेमिचन्द्रसूरिकृत 'महावीरचरियं' पत्र ९३ से ९९।

२ पुण्यपाल राजा के प्रव्रज्या लेने का उल्लेख श्रीहेमचन्द्रसूरि के महावीर चरित्र में है।

विपाक विषयक, ५५ पापफल-विपाक विषयक और ३६ अपृष्ट व्याकरण अध्ययन सुनाये। अन्त में प्रधान नामक अध्ययन का निरूपण करते हुए अमावस्या की पिछली रात को श्रमण भगवान् महावीर इस संसार से ऊर्ध्वगमन कर गये—सब कर्मोंसे मुक्त हो गये।

भगवान् के निर्वाण पर उक्त गणराजों ने कहा—'संसार से भाव-प्रकाश उठ गया, अब द्रव्य-प्रकाश करेंगे।'

इन्द्रभूति गौतम, जो उस समय भगवान् की आज्ञा से निकटवर्ती गाँव में देवशर्मा ब्राह्मण को उपदेश करने के लिए गये थे, भगवान् के निर्वाण का समाचार सुनकर बोले—'आज भारतवर्ष शोभाहीन हो गया।'

परिशिष्ट-खण्ड

प्रथम परिच्छेद

शिष्य-सम्पदा

जैन आगमों के लेखानुसार भगवान् महावीर के इन्द्रभूति आदि चौदह हजार श्रमण-शिष्य थे।

भगवान् ने अपनी श्रमणसंस्था को व्यवस्था-सौकर्य की दृष्टि से नौ 'गणों' में बाँट दिया था और इसके नियमन के लिए ग्यारह प्रधान शिष्यों को नियत किया था जो 'गणधर' नाम से प्रसिद्ध थे।

प्रथम सात गणों का एक-एक गणधर था, परन्तु आठवें और नवें गण के दो दो गणधर थे। इस प्रकार श्रमण भगवान् के नौ श्रमणगणों के अधिकारी ग्यारह गणधर थे जिनको भगवान् ने अपने केवलज्ञान के दूसरे दिन वैशाख शुक्ला एकादशी को नियत किया था।

भगवान् महावीर के ये सभी गणधर गृहस्थाश्रम में भिन्न-भिन्न स्थानों के रहनेवाले जात्य ब्राह्मण थे। पावामध्यमा निवासी सोमिलार्य ब्राह्मण के आमंत्रणसे वे अपने-अपने छात्रगण के साथ वहाँ आये थे और भगवान् महावीर की धर्मसभा में जाकर उनके शिष्य बने थे। और सभी गणधर राजगृह के गुणशील चैत्य में मासिक अनशन के अन्त में आयुष्य पूर्णकर निर्वाण प्राप्त हुए थे।

गणधरों के जीवन आदि का संक्षिप्त वृत्तान्त हमें कल्पसूत्र, आवश्यक-निर्युक्ति आदि सूत्रोंमें मिलता है, जिसका सारांश देकर हम इनका परिचय करायेंगे।

भगवान् महावीर के सबसे बड़े शिष्य इन्द्रभूति गौतम थे। गृहस्था-

(१) इन्द्रभूति गौतम

श्रम में ये मगध देशान्तर्गत गोवर गाँव निवासी गौतमगोत्रीय ब्राह्मण वसुभूति के ज्येष्ठ पुत्र थे।

इनकी माता का नाम पृथिवी था। आपका नाम यद्यपि इन्द्रभूति था पर ये अपने गोत्राभिधान 'गौतम' इस नाम से ही अधिक प्रसिद्ध थे।

इन्द्रभूति वैदिक धर्मके प्रखर विद्वान् और अध्यापक थे। "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्ति" इत्यादि श्रुति वाक्यों से इनके मन पर तत्कालीन भौतिकवाद का असर हो गया था परन्तु इससे विपरीत "स वै अयमात्मा ज्ञानमयः" इत्यादि आत्मसत्ता-सूचक वैदिक वचनों से आप नास्तिक होनेसे बचे हुए थे।

उक्त द्विविध वेद वाक्यों के अस्तित्व से गौतम का हृदय यद्यपि आत्मास्तित्व के संबन्ध में शंकाशील रहता था परन्तु अपनी योग्यता के अनुरूप न समझ कर अथवा समाज-भयके वश ये अपने मनोगत संशय को किसी के आगे प्रकट नहीं करते थे।

पावामध्यमा निवासी सोमिलार्य के अमंत्रण से उनके यज्ञोत्सव पर इन्द्रभूति अपने पाँच सौ छात्रों के साथ वहाँ आये हुए थे। उधर ऋजुवालुका के तटसे विहार कर भगवान् महावीर भी वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन पावामध्यमा के महासेन उद्यान में पधारे हुए थे।

उद्यान में इन्द्रभूति वादी वनकर महावीर को पराजित करने के भाव से उनकी धर्मसभा में गये पर भगवान् ने उन्हीं वेदपदों का वास्तविक अर्थ समझा कर इन्द्रभूति के मानसिक संशय को दूर कर दिया और छात्रों के साथ उन्हें अपना शिष्य बना लिया।

दीक्षा के समय इन्द्रभूति की अवस्था पचास वर्ष की थी। आपका शरीर सुन्दर और सुगठित था। प्रतिदिन सैकड़ों शिष्यों को आगम-वाचना देने के अतिरिक्त भगवान् महावीर के श्रमणसंघ की व्यवस्था में भी प्रमुखता इन्हीं की थी और यह सब होते हुए भी ये बड़े तपस्वी और विनीत गुरुभक्त श्रमण थे।

भगवान् महावीर इन्द्रभूति को इनके भक्तिराग के विषय में टोका करते और कहते—गौतम! जबतक तेरे मुझ पर के राग-बन्धन न टूटेंगे तबतक तेरे कर्म-बन्ध भी टूटनेवाले नहीं। हाँ, अन्त में तू और मैं एक ही दशा को प्राप्त करेंगे।

जिस रात्रि में महावीर का निर्वाण हुआ उसी रात्रि के अन्त में

इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और उसके बाद आप बारह वर्ष तक जीवित रहे। इस अवस्था में आपकी अधिक प्रवृत्ति भगवान् के धर्मप्रचार की तरफ रही।

अन्त में अपनी आयुष्य-स्थिति समाप्त होती देखकर इन्द्रभूति ने अपना गण आर्य सुधर्मा के सुपुर्द किया और आप गुणशील चैत्य में मासिक अनशन करके भगवान् के निर्वाण से बारह वर्ष के बाद ९२ वर्ष की अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए।

अग्निभूति गौतम इन्द्रभूति गौतम के मझले भाई थे। अग्निभूति भी पाँच सौ छात्रों के विद्वान् अध्यापक थे और सोमिलार्य के यज्ञोत्सव पर छात्रगण के साथ पावामध्यमा आए थे। अग्निभूति के मन पर "पुरुष एवेदं ग्नि सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति यदेजति यन्नैजति यद्दूरे यदु अन्तिके यदन्तरस्य सर्वस्य यदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" इत्यादि श्रुतिवाक्यों की छाप थी। वे पुरुषाऽद्वैतवादी थे, परन्तु "पुण्यः पुण्येन, पापः पापेन कर्मणा" इत्यादि वचनों से पुरुषाऽद्वैतवाद में कुछ शंकित भी थे।

(२) अग्निभूति गौतम

भगवान् महावीर ने वैदिक पदों के समन्वय द्वारा द्वैत की सिद्धि करके इनकी मानसिक शंकाओं को दूर कर पावामध्यमा के महासेन वनमें दीक्षा दी और अपना दूसरा गणधर बनाया।

अग्निभूति ने छयालीस वर्ष की अवस्था में श्रामण्य धारण किया, बारह वर्ष तक छद्मस्थावस्था में तपकर केवलज्ञान प्राप्त किया और सोलह वर्ष पर्यन्त केवली अवस्था में विचर कर श्रमण भगवान् की जीवित अवस्था में ही, उनके निर्वाण से करीब दो वर्ष पहले, गुणशील चैत्य में मासिक अनशन के अन्त में ७४ वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

वायुभूति इन्द्रभूति के छोटे भाई थे। ये भी सोमिलार्य के यज्ञोत्सव पर अपने पाँच सौ छात्रों के साथ पावामध्यमा में आये हुए थे। वायुभूति के दार्शनिक विचारों का झुकाव 'तज्जीवतच्छरीरवादी' नास्तिकों के मत की

(३) वायुभूति गौतम

तरफ था। "विज्ञाघन०" इत्यादि पूर्वोक्त श्रुतिवाक्य को वे अपने नास्तिक मत के विचारों का समर्थक मानते थे, परन्तु दूसरी ओर "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यं ज्योतिर्मयो हि शुद्धो यं पश्यन्ति धीरा यतयः संयतात्मानः" इत्यादि उपनिषद् वाक्यों से देहातिरिक्त आत्मा का प्रतिपादन होता था। इस द्विविध वेदवाणी से वायुभूति इस विषय में शङ्काशील बने हुए थे, परन्तु महावीर ने शरीरातिरिक्त आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करके इनके मानसिक संशयों को दूर किया और पाँच सौ छात्रों के साथ प्रव्रज्या देकर इन्हें अपना तीसरा प्रधान शिष्य बनाया।

वायुभूति ने बयालीस वर्ष की अवस्था में गृहवास को छोड़कर श्रमण-धर्म की दीक्षा ली। दस वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहने के उपरान्त इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और अठारह वर्ष केवली अवस्था में विचरे।

महावीर के निर्वाण के दो वर्ष पहले वायुभूति भी ७० वर्ष की अवस्था में मासिक अनशन के अन्तमें गुणशील चैत्य में निर्वाण को प्राप्त हुए।

(४) आर्य व्यक्त

भगवान् महावीर के चौथे गणधर का नाम आर्य व्यक्त था। ये कोल्लाग संनिवेश निवासी भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता वारुणी और पिता धनमित्र थे।

आर्य व्यक्त भी पाँच सौ छात्रों के अध्यापक थे और सोमिलार्य के आमंत्रण से यज्ञोत्सव पर पावामध्यमा में आये थे।

आर्य व्यक्त की विचारसरणी "स्वप्नोपमं वै सकलमित्येष ब्रह्मविधिरञ्जसा विज्ञेयः" इत्यादि श्रुति वाक्यों से ब्रह्मवाद की तरफ झुकी हुई थी, पर साथ ही "द्यावापृथिवी" तथा "पृथिवी देवता, आपो देवता" इत्यादि वैदिक वचनों को देखकर वे दृश्य जगत् को भी मिथ्या नहीं मान सकते थे। इस प्रकार व्यक्त संशयाकुल थे तथापि अपना संदेह किसी को प्रकट नहीं करते थे।

श्रमण भगवान् महावीर की सर्वज्ञता की प्रशंसा सुनकर व्यक्त भी भगवान् के समवसरण में गये जहाँ महावीर ने आपकी गुप्त शङ्का को प्रकट किया और वेदपदों के समन्वयपूर्वक द्वैत की सिद्धि कर उसका समाधान किया।

अन्त में भगवान् ने निर्ग्रन्थप्रवचन का उपदेश किया और आर्य व्यक्त छात्रगण सहित भगवान् महावीर के शिष्य हो गये।

आर्य व्यक्त ने पचास वर्ष की अवस्था में श्रमण धर्म स्वीकार किया, बारह वर्ष तक तप ध्यान करके केवलज्ञान पाया और अठारह वर्ष केवलि-पर्याय पाल कर भगवान् के जीवनकाल के अन्तिम वर्ष में अस्सी वर्ष की अवस्था में मासिक अनशन के साथ गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

(५) सुधर्मा

भगवान् महावीर के पञ्चम शिष्य का नाम सुधर्मा था जो आजकल सुधर्मा स्वामी के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। वे कोल्लाग संन्निवेश निवासी अग्निवैश्यायनगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता भद्दिला और पिता धम्मिल थे। वे भी पाँच सौ छात्रों के अध्यापक थे और अपने छात्रगण के साथ सोमिलार्य के यज्ञोत्सव में पावामध्यमा आये थे।

"पुरुषो वै पुरुषत्वमश्नुते पशवः पशुत्वम्" इत्यादि वैदिक वचनों से सुधर्मा की मति जन्मान्तर सादृश्यवाद के पक्ष में थी पर इसके विपरीत "शृगालो वै एष जायते यः सपुरीषो दह्यते" इत्यादि श्रौत वाक्यों से वे जन्मान्तर के वैसादृश्य का भी निषेध नहीं कर सकते थे। इन द्विविध वचनों से विद्वान् सुधर्मा इस विषय में संशयग्रस्त थे।

भगवान् महावीर ने उक्त वेदवाक्यों का समन्वय करके जन्मान्तर वैसादृश्य सिद्ध करने के साथ सुधर्मा की शङ्का का समाधान किया और निर्ग्रन्थप्रवचन का उपदेश सुना कर उन्हें छात्रगण सहित निर्ग्रन्थमार्ग की दीक्षा दी और अपना पाँचवाँ प्रधान शिष्य बनाया।

सुधर्मा ने पचास वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या ली। वे बयालीस वर्ष पर्यन्त छद्मस्थावस्था में विचरे; महावीर-निर्वाण के बारह वर्ष व्यतीत होनेपर केवली हुए और आठ वर्ष तक केवली अवस्था में रहे।

श्रमण भगवान् के सर्व गणधरों में सुधर्मा दीर्घजीवी थे इसीलिए महावीरने सर्वप्रथम गण-समर्पण सुधर्मा को किया था और अन्यान्य गणधरों ने भी अपने अपने निर्वाण-समय पर अपने गण सुधर्मा के सुपुर्द किये थे।

महावीर-निर्वाण से बीस वर्ष के बाद सुधर्मा ने सौ वर्ष की अवस्था में मासिक अनशनपूर्वक गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

(६) मंडिक

महावीर के छठे गणधर का नाम मंडिक था। मंडिक मौर्य-संनिवेश के रहनेवाले वासिष्ठगोत्रीय विद्वान् ब्राह्मण थे। इनके माता-पिता विजयदेवा और धनदेव थे। वे तीन सौ पचास छात्रों के अध्यापक थे और सोमिलद्विज के आमंत्रण से उनके यज्ञोत्सव पर पावामध्यमा में आये थे।

विद्वान् मंडिक के विचार सांख्यदर्शन के समर्थक थे और इसका कारण "स एष विगुणो विभुर्न बध्यते संसरति वा न मुच्यते मोचयति वा न वा एष बाह्यमभ्यन्तरं वा वेद" इत्यादि श्रुति वाक्य थे। इसके विपरीत "न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति अशरीरं वा वसन्तं प्रियाऽप्रिये न स्पृशतः" इस श्रुतिवाक्य से उन्हें बन्ध-मोक्ष के अस्तित्व का भी विचार आ जाता था। इस कारण से आपका मन किसी एक निश्चय पर नहीं पहुँचता था।

श्रमण भगवान् ने वैदिक वाक्यों का समन्वय करके आत्मा का संसारित्व सिद्ध किया और निर्ग्रन्थ-प्रवचन का उपदेश देकर छात्रगण सहित मंडिक को आर्हती प्रव्रज्या देकर अपना छठा गणधर बनाया।

मंडिक ने ५३ वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या ली, ६७ वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त किया और भगवान् के जीवनकाल के अन्तिम वर्ष में तिरासी वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

(७) मौर्यपुत्र

भगवान् महावीर के सातवें गणधर का नाम मौर्यपुत्र था। मौर्यपुत्र काश्यपगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजयदेवा और गाँव का नाम मौर्य संनिवेश था।

मौर्यपुत्र भी तीन सौ पचास छात्रों के अध्यापक थे और सोमिलार्य के आमंत्रण से पावामध्यमा में आये थे।

मौर्यपुत्र को देवों और देवलोकों के अस्तित्व में संदेह था जो "को जानाति मायोपमान् गीर्वाणानिन्द्रयमवरुणकुबेरादीन्" इत्यादि श्रुतिवचनों के पढ़ने से उत्पन्न हुआ था, परन्तु इसके विपरीत "स

एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छति" तथा "अपाम सोमममृता अभूम, अगमन् ज्योतिः, अविदाम देवान्, किं नूनमस्मांस्तृणवदरातिः, किमु धूर्तिरमृतमर्त्यस्य" इत्यादि वैदिक-वाक्यों से देवों का अस्तित्व भी सिद्ध होता था। अतः पण्डित मौर्यपुत्र का चित्त इस विषय में शंकाशील था।

भगवान् महावीर ने देवों का अस्तित्व सिद्ध करके मौर्यपुत्र के संशय का समाधान किया और निर्ग्रन्थप्रवचन का उपदेश किया जिसे हृदयंगत कर मौर्यपुत्र भगवान् के शिष्य हो गये।

मौर्यपुत्र ने पैंसठ वर्ष की अवस्था में महावीर का शिष्यत्व स्वीकार किया, उनासी वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान पाया और भगवान् के जीवनकाल के अन्तिम वर्ष में पंचानवे वर्ष की अवस्था में मासिक अनशनपूर्वक गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् महावीर के अष्टम गणधर का नाम अकम्पिक था।

(८) अकम्पिक

अकम्पिक मिथिला के रहनेवाले गौतमगोत्रीय ब्राह्मण थे। आपकी माता जयन्ती और पिता देव थे।

विद्वान् अकम्पिक तीन सौ छात्रों के आचार्य थे। आप भी अपनी छात्रमण्डली के साथ सोमिलार्य के यज्ञमहोत्सव पर पावामध्यमा आये हुए थे। इनको नरकलोक और नारकजीवों के अस्तित्व में शंका थी। इस शंका का कारण "न ह वै प्रेत्य नरके नारकाः सन्ति" यह श्रुति वाक्य था, परन्तु इसके विपरीत "नारको वै एष जायते यः शूद्रान्नमश्नाति" इत्यादि वाक्यों से नारकों का अस्तित्व भी सिद्ध होता था। इस प्रकार के द्विविध वेद वचनों से शंकाकुल बने हुए अकम्पिक इस बात का कुछ भी निर्णय नहीं कर सकते थे कि नरक और नारकों का अस्तित्व माना जाय या नहीं।

भगवान् महावीर ने श्रुतिवाक्यों का समन्वय करके अकम्पिक का संदेह दूर किया। अकम्पिक भी निर्ग्रन्थप्रवचन का उपदेश सुनकर संसार से विरक्त हुए और छात्रगण सहित आर्हती प्रव्रज्या स्वीकार की और भगवान् महावीर के आठवें गणधर हो गये।

अकम्पिक ने अड़तालीस वर्ष की अवस्था में गृह-त्याग किया,

सतावन वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त किया और श्रमण भगवान् की जीवितावस्था के अन्तिम वर्ष में गुणशील चैत्य में मासिक अनशन पूरा करके अठहत्तर वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

अचलभ्राता कोशला निवासी हारीतगोत्रीय ब्राह्मण थे। आपकी माता नन्दा और पिता वसु थे। ये तीन सौ छात्रों के विद्वान् अध्यापक थे और सोमिलार्य के यज्ञोत्सव में पावामध्यमा आये थे।

(९) अचलभ्राता

पण्डित अचलभ्राता को पुण्य-पाप के अस्तित्व में शंका थी। इनका तर्क यह था कि "पुरुष एवेदं ग्नि०" इत्यादि श्रुतिपदों से जब केवल पुरुष का ही अस्तित्व सिद्ध किया जाता है तब पुण्य-पाप के अस्तित्व की शक्यता ही कहाँ रहती है ? परन्तु दूसरी तरफ "पुण्यः पुण्येन०" इत्यादि वेदवाक्यों से पुण्य-पाप का अस्तित्व भी सूचित होता था। इसलिए इस विषय का वास्तविक सिद्धान्त क्या होना चाहिए, इस बात का अचलभ्राता कुछ भी निर्णय कर नहीं सके थे।

अचलभ्राता जब महावीर के समवसरण में गये तो भगवान् महावीर ने वेदवचनों का समन्वय करके पुण्य-पाप का अस्तित्व प्रमाणित कर उनकी शंका का समाधान किया और निर्ग्रन्थप्रवचन का उपदेश सुनाकर उन्हें अपना शिष्य बना लिया।

अचलभ्राता ने छयालीस वर्ष की अवस्था में गार्हस्थ्य का त्याग कर श्रामण्य धारण किया, बारह वर्ष तप-ध्यान कर केवलज्ञान प्राप्त किया और चौदह वर्ष केवली दशा में विचर कर बहत्तर वर्ष को अवस्था में मासिक अनशन कर गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

श्रमण भगवान् के दसवें गणधर का नाम मेदार्य था। ये वत्स-देशान्तर्गत तुंगिक संनिवेश के रहनेवाले कौडिन्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता वरुणदेवा और पिता दत्त नामक थे। मेदार्य भी सोमिल के आमंत्रण पर अपने तीन सौ छात्रों के साथ पावामध्यमा गये थे।

(१०) मेदार्य

विद्वान् मेदार्य "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय०" इत्यादि वेदवाक्यों से पुनर्जन्म के विषय में शंकाशील थे, परन्तु "नित्यं

ज्योतिर्मयो०" इत्यादि श्रुतिपदों से आत्मा का अस्तित्व और "शृगालो वै एष जायते" इत्यादि श्रुतियों से उसका पुनर्जन्म ध्वनित होने से इस विषय में वे कुछ भी निश्चय नहीं कर पाते थे।

श्रमण भगवान् ने मेदार्य को वेदपदों का तात्पर्य समझाने के साथ पुनर्जन्म की सत्ता प्रमाणित की और निर्ग्रन्थप्रवचन का उपदेश करके उनको निर्ग्रन्थ श्रमणपथ का पथिक बनाया।

मेदार्य ने छत्तीस वर्ष की अवस्था में महावीर का शिष्यत्व अंगीकार किया, दस वर्ष तक तप-जप-ध्यान कर केवलज्ञान प्राप्त किया और सोलह वर्ष केवली जीवन में विचरे। अन्त में भगवान् के निर्वाण से चार वर्ष पहले बासठ वर्ष की अवस्था में उन्होंने गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

(११) प्रभास

पण्डित प्रभास कौडिन्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता अतिभद्रा और पिता बल नामक थे। ये राजगृह में रहते थे और सोमिलार्य के आमंत्रण पर उनके महोत्सव में अपने तीन सौ छात्रों के साथ पावामध्यमा में आये थे।

प्रभास को आत्मा की मुक्ति के विषय में संदेह था। "जरामर्यं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रम्" इस श्रुति ने उनके संशय को पुष्ट किया था, परन्तु कुछ वेदपद ऐसे भी थे जो आत्मा की मुक्तदशा का सूचन करते थे। "द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परमपरं च, तत्र परं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इस श्रुतिवाक्य से आत्मा की बद्ध और मुक्त दोनों अवस्थाओं का प्रतिपादन होता था। इस द्विविध वेदवाणी से प्रभास संदेहशील रहते थे कि आत्मनिर्वाण जैसी कोई चीज है भी या नहीं?

पण्डित प्रभास को संबोधन कर भगवान् महावीर ने कहा—आर्य प्रभास! तुमने श्रुतिवाक्यों को ठीक नहीं समझा। "जरामर्यं०" इत्यादि श्रुति से तुम आत्मनिर्वाण के अभाव का अनुमान करते हो, यह ठीक नहीं। यह वेद वाक्य गृहाश्रमी को जीवनचर्या का सूचक है, न कि निर्वाणाभाव का प्रतिपादक। भगवान् के स्पष्टीकरण से प्रभास का संशय दूर हो गया और निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश सुनकर वे भगवान् महावीर के शिष्य हो गये।

प्रभास ने सोलह वर्ष की अवस्था में श्रमणधर्म को अंगीकार किया। आठ वर्ष तक तप ध्यान कर केवलज्ञान प्राप्त किया और सोलह वर्ष केवली दशा में विचरे।

श्रमण भगवान् महावीर के केवली जीवन के पचीसवें वर्ष गुणशील चैत्य में मासिक अनशनपूर्वक प्रभास ने चालीस वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

एकादशगणधर कोष्टक

क्रमाङ्क	गणधर नाम	गोत्र नाम	गाँव नाम	गृहस्थाश्रम	छद्मस्थपर्याय	केवलिपर्याय	श्रामण्यपर्याय	सर्वायुः	वीरकेवलोत्पत्ति से नि.	निर्वाण स्थान
१	इन्द्रभूति	गौतम	गोवर गाँव	५०	३०	१२	४२	९२	४२	गुणशील चैत्य
२	अग्निभूति	गौतम	गोवर गाँव	४६	१२	१६	२८	७४	२८	,, ,,
३	वायुभूति	गौतम	गोवर गाँव	४२	१०	१८	२८	७०	२८	,, ,,
४	व्यक्त	भारद्वाज	कोल्लाग	५०	१२	१८	३०	८०	३०	,, ,,
५	सुधर्मा	अग्निवैश्यायन	कोल्लाग	५०	४२	८	५०	१००	५०	,, ,,
६	मंडिक	वासिष्ठ	मौर्य संनिवेश	५३	१४	१६	३०	८३	३०	,, ,,
७	मौर्यपुत्र	काश्यप	मौर्य संनिवेश	६५	१४	१६	३०	९५	३०	,, ,,
८	अकम्पिक	गौतम	मिथिला	४८	९	२१	३०	७८	३०	,, ,,
९	अचलभ्राता	हारीत	कोशला	४६	१२	१४	२६	७२	२६	,, ,,
१०	मेतार्य	कौडिन्य	तुंगिक संनिवेश	३६	१०	१६	२६	६२	२६	,, ,,
११	प्रभास	कौडिन्य	राजगृह	१६	८	१६	२४	४०	२४	,, ,,

द्वितीय परिच्छेद

प्रवचन

१

गुरु—पहले ज्ञान प्राप्त करो, फिर बन्धन को समझ कर तोड़ो।

शिष्य—भगवान् वीर ने किसे बन्धन कहा है और किसके ज्ञान से वह टूटता है ?

गुरु—जो सचित्त-अचित्त पदार्थ का थोड़ा भी संग्रह करता है अथवा करने की आज्ञा देता है वह दुःख से कभी नहीं छूटता।

जो स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से कराता है अथवा करनेवालों को उत्तेजन देता है वह अपने लिये वैर बढ़ाता है।

जिस कुल में उत्पन्न हुआ अथवा जिनके साथ रहता है उनकी ममता और अन्याय (प्राणियों तथा वस्तुओं) के मोह में फँसा हुआ अज्ञानी मनुष्य अपने अस्तित्व का लोप कर देता है।

'यह धन और ये भाई, कोई किसी का रक्षक नहीं' संसार की यह स्थिति जान कर ही जीव कर्मों से छुटकारा पाता है।

कुछ श्रमण-ब्राह्मण उक्त सिद्धान्तों को छोड़ कर काम-भोगों में ही आसक्त हो रहे हैं। उनमें से कुछ कहते हैं—पृथिवी, पानी, अग्नि, वायु, और आकाश इन पञ्चमहाभूतों का ही वास्तविक अस्तित्व है। इन पाँच महाभूतों से एक पदार्थ की उत्पत्ति होती है, जो 'देही' इस नाम से व्यवहृत होता है। परन्तु भूतों के नाश के साथ ही इस 'देही' का भी नाश हो जाता है।

कोई कहते हैं—जैसे यह पार्थिव स्तूप एक होने पर भी नानारूप दीखता है, वैसे ही यह संपूर्ण लोक 'विद्वान्' मात्र होने पर भी नानारूप दीखता है। पर ऐसा कहनेवाले मन्दबुद्धि और आरंभ-रसिक हैं। इस प्रकार आत्माऽद्वैत का बहाना कर वे स्वयं पाप करके कठोर दुःख को प्राप्त होते हैं।

दूसरे कोई कहते हैं—बाल और पण्डित सब की आत्मा भिन्न-भिन्न है, पर वह है इसी भव तक। मरने के बाद फिर उसकी उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि पुण्य, पाप अथवा परलोक जैसी कोई वस्तु ही नहीं है। शरीर-नाश के साथ ही तद्गत शरीरी का भी नाश हो जाता है।

दूसरे कोई कहते हैं—आत्मा 'अकारक' है। वह न कुछ करती है, न कराती है।

जो लोग ऐसी बातें करते हैं उनके लिये सचमुच ही लोक नहीं है। वे यहाँ अन्धकार में हैं और आगे इससे भी अधिक अन्धकार में जा पड़ेंगे।

कई एक कहते हैं—संसार में कुल छः पदार्थ हैं, पाँच तो महाभूत और छठा आत्मा। इनके मत में आत्मा और लोक शाश्वत हैं। इनका न कभी नाश होता है, न उत्पत्ति। सब भाव सर्वथा नित्य हैं।

कई अज्ञानी केवल पञ्चस्कन्ध का ही अस्तित्व मानते हैं और वह भी क्षणिक। अन्य मतवालों की तरह इनके मत में नित्य अथवा अनित्य किसी भी तरह की आत्मा का अस्तित्व नहीं है।

कोई कहते हैं—लोक चातुर्धातुक है। वह पृथिवी, पानी, तेजस् और वायु इन चार धातुओं से बना है।

ये सब मतवादी अपने-अपने दर्शन की श्रेष्ठता प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि गृहस्थाश्रमी हो, अरण्यवासी हो चाहे परिव्राजक, जो हमारे इस दर्शन को प्राप्त हुए हैं, वे सब दुःखों से मुक्ति पायेंगे।

यथार्थ तत्त्व की खोज किये बिना जो वादी अपने-अपने समय की श्रेष्ठता बता रहे हैं वे धर्म के ज्ञाता नहीं। उनकी उन्नति नहीं हो सकती। वे संसार, गर्भ, जन्म, दुःख और मार को नहीं जीत सकते।

ऐसे जीव इस जरा-मरण और व्याधि से पूर्ण संसारचक्र में बार-बार अनेक दुःखों का अनुभव करते हैं और अनन्त बार ऊँच-नीच गतियों में गर्भावास के दुःख प्राप्त करेंगे। ऐसा ज्ञातपुत्र महावीर कहते हैं।[1]

२

किन्हीं का कथन है—जीव प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न है, यह सत्य है। वे सुख दुःख का अनुभव करते और मर कर फिर जन्म लेते हैं, यह भी सही है। परन्तु वह सुख दुःख न स्वकृत होता है न अन्यकृत। कारणिक अथवा अकारणिक किसी भी प्रकार का सुख दुःख स्वयंकृत अथवा अन्यकृत नहीं होता, किन्तु वह सब नियत होता है।

इस प्रकार बोलनेवाले मतवादी अपने को पंडित मानते हुए भी मूर्ख हैं। वस्तुतः नियत क्या है और अनियत क्या इसे उन्होंने समझा ही नहीं। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि सब कुछ नियतिवश मानते हुए भी वे दुःख से छूटने के लिये साधना करते हैं। तो क्या इस प्रकार अज्ञान-कष्ट सहन करने से वे नियत दुःख से छूट सकते हैं? कभी नहीं।

जिस प्रकार बड़ी तेजी से दौड़ते हुए भयभीत मृग अशंकनीय पदार्थों पर शंका करते हैं और वास्तविक शंकास्थानों में निर्भय होकर दौड़ते हैं, अर्थात् रक्षा के उपायों को शंका से देखते हैं और फँसानेवाले पाशों का भय न रखते हुए वे अज्ञान और भय से व्याकुल होकर जहाँ तहाँ भागते हैं। यदि वे बन्धनों से बच कर निकल जायें तो पाश से बच भी सकते हैं, परन्तु अज्ञानी इसे देखते ही नहीं। उनकी आत्मा और बुद्धि अपना हित जानती ही नहीं। वे उन्हीं विषमस्थानों में पहुँचते हैं जहाँ उनको फँसाने के लिये पाश तैयार रहते हैं। परिणामतः वहाँ फँस कर वे विनाश को प्राप्त होते हैं।

उसी प्रकार कई एक मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण धर्मप्रज्ञापना जैसी बातों में तो शंका करते हैं और आरंभादि शंकनीय कामों में निश्शंक-

---

१ सूत्रकृताङ्ग श्रु० १, अ० १, उद्देशक १, प० १२–२९।

तया प्रवृत्ति करते हैं। परिणाम इसका यह होता है कि लोभ, अहंकार, कपट और क्रोध का त्याग कर वे आत्मा को कर्म-मुक्त नहीं कर सकते और जबतक मुक्ति का उपाय नहीं जानते तबतक भयभ्रान्त मृगों की तरह वे अनन्त समय तक मरण के दुःखों को भोगा करेंगे।

वे कहते हैं—श्रमण और ब्राह्मण सब कोई अपना-अपना ज्ञान सत्य प्रमाणित करते हैं, तथापि सम्पूर्णलोक में जो प्राणधारी हैं उनके विषय में वे कुछ नहीं जानते। जैसे आर्यभाषानभिज्ञ म्लेच्छ आर्य की बोली का अनुकरण कर सकता है, पर वह उसका तात्पर्य नहीं समझता, वैसे ही सब मतवादी अपना-अपना ज्ञान कहते हैं पर म्लेच्छ की तरह वे अज्ञानी उसका निश्चयार्थ नहीं जानते। इस प्रकार सभी को अज्ञानी कहनेवाले और अपने आपको भी अज्ञानी माननेवाले अज्ञानियों को तर्क करने का अधिकार ही क्या है, क्योंकि अज्ञान से तो उनके तर्क का निर्णय होगा नहीं और ज्ञान को वे मानते नहीं। इस प्रकार जो अपने ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करने में समर्थ नहीं होते वे दूसरों का अनुशासन क्या करेंगे? जंगल में भूला हुआ प्राणी भूले हुए का अनुगमन करके इष्ट स्थान को नहीं पाता, किन्तु दोनों घोर कष्ट को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार अज्ञानी आप भूले हुए हैं और अनुयायियों को भुलाते हैं।

जैसे स्वयं अन्धा मनुष्य दूसरे अन्धे को ठीक रास्ते से नहीं ले जा सकता वैसे ही अज्ञानी अपने को मोक्षाभिलाषी और धर्माराधक मानते हुए भी अपने अनुयायियों को सरल मार्ग पर न ले जाकर अधर्म के मार्ग पर चढ़ाते हैं।

इस प्रकार कई दुर्बुद्धि मतवादी अपने-अपने तर्कवाद को निर्दोष मान कर उस पर डटे रहते हैं, पर अन्य की सेवा कर तत्त्व की खोज नहीं करते। केवल तर्क-साधना से ही धर्म-अधर्म का ज्ञान नहीं होता और दुःख के बन्धन नहीं टूटते। विचार ही विचार करने से पक्षी पिंजरे से नहीं छूट सकता।

अपनी-अपनी प्रशंसा और दूसरों के वचन की निन्दा कर जो अपनी विद्वत्ता बताते हैं, वे संसार में अपना भ्रमण बढ़ाते हैं।

एक और दर्शन है जो क्रियावादी दर्शन कहलाता है, पर इसके अनुयायियों में कर्म की चिन्ता नहीं है। वे कहते हैं—बुद्धि से मानसिक हिंसा करने पर भी जबतक शरीर से हिंसा नहीं होती, कोई पाप नहीं लगता। इसी तरह अज्ञानता से शरीर से हिंसा हो जाने पर भी कोई पाप नहीं। उनके मत में कर्मबन्ध तीन कारणों से होता है—विचारपूर्वक स्वयं हिंसा करने से, विचारपूर्वक आज्ञा देकर अन्य से हिंसा कराने से और हिंसाकारी का विचारपूर्वक अनुमोदन करने से। कुछ भी करो, जिसका भाव विशुद्ध होगा वह निर्वाण प्राप्त कर लेगा। हितबुद्धि से पिता पुत्र को मार कर उसका माँस खा जाय अथवा भिक्षु उसका भोजन कर ले तथापि यदि उनका मन शुद्ध होगा तो पाप का लेप नहीं लगेगा। जो मन से द्वेष करते हैं उनका चित्त शुद्ध नहीं होता। बिना चित्त-शुद्धि के संवरभाव नहीं आता।

इस दृष्टिवाले शारीरिक सुख के उपासक हैं। वे इसी को शरण समझते हुए पाप का सेवन करते हैं। जिस प्रकार जात्यन्ध मनुष्य सच्छिद्र नाव में बैठ कर पार होने की इच्छा करता हुआ भी बीच में ही दुःख पाता है, उसी प्रकार कई एक मिथ्यादृष्टि श्रमण संसार से पार होनेकी इच्छा करते हुए भी संसार में ही भ्रमण करते रहते हैं[1]।

३

भक्त के द्वारा अतिथि के निमित्त बनवाया हुआ भोजन तो क्या, उसके सहस्रांश से मिश्रित भोजन करनेवाला भिक्षु भी आचार में नहीं चलता।

भोजन के दोषों को न जाननेवाले और कर्मबन्ध के सिद्धान्तों में अप्रवीण, ऐसे वर्तमान सुख के अभिलाषी कतिपय श्रमण उन वैशालिक मत्स्यों की तरह विनाश को प्राप्त होंगे, जो जल-प्रवाह के साथ स्थानच्युत होकर मांसार्थी ढंक और कंक पक्षियों से दुःख पाते हैं।

एक और अज्ञान है।

कोई कहते हैं कि यह लोक 'देव' का बोया हुआ है। अन्य कहते

---

१ सूत्रकृताङ्ग श्रु० १, अ० १, उ० २, प० २९–३१।

हैं इसे 'ब्रह्मा' ने बोया है। किसी के मत से लोक ईश्वरकृत है और किसी के मत से प्रधानकृत।

कुछ मतवादी कहते हैं कि इस सचराचर लोक को 'स्वयंभू' ने बनाया है और मार के माया-विस्तार के कारण वह 'अशाश्वत' है।

दूसरे ब्राह्मण-श्रमण कहते हैं—यह जगत् अण्डे से उत्पन्न हुआ है।

इस प्रकार ब्रह्मा के द्वारा अण्डादि क्रम से सृष्टिरचना बताते हुए वे वास्तव में मृषाभाषण करते हैं। लोकरचना के संबन्ध में सिद्धान्त प्रतिपादन करनेवाले इस तत्त्व को नहीं जानते कि 'लोक' अपने पर्यायरूप से ही 'कृत' है और उसी रूप से 'विनाशी' भी। कारण-रूप से यह न 'कृत' है, न 'विनाशी'। दुःख भी असदनुष्ठानजन्य है, न कि ईश्वरकृत। जिनको दुःखोत्पत्ति का कारण ही अज्ञात है वे दुःख-मार्ग को रोकना कैसे जानेंगे?

किन्हीं का यह भी कथन है कि 'आत्मा' स्वयं 'शुद्ध' और 'निष्पाप' है पर क्रीडा अथवा द्वेष के वश होकर वह कर्म-लिप्त हो जाती है, पर मुनि होकर कर्मद्वारों को रोकने से वह फिर 'निष्पाप' हो जाती है। जिस प्रकार स्थिर रहने से पानी स्वच्छ हो जाता है और हिलने-डोलने से मलिन। ठीक यही दशा आत्मा की भी है। संवरभाव से वह निर्मल होती है और रागद्वेष से समल।

बुद्धिमान् मनुष्य समझ ले कि इस प्रकार स्वमत का समर्थन करने-वाले मतवादी ब्रह्मचर्य-प्रधान संयमानुष्ठान में प्रवृत्ति नहीं करते। यद्यपि वे सब अपने-अपने मत का समर्थन करते हुए यही कहते हैं कि हमारा मत स्वीकार करने से ही सिद्धि है, अन्यथा नहीं। हमारे अनुयायी मोक्ष-प्राप्ति के पहले ही स्ववश होकर सब इष्ट सिद्धियों को प्राप्त करते हैं और अन्त में मुक्ति प्राप्त कर सर्वथा कर्मरोगों से दूर हो जाते हैं। इस प्रकार सिद्धि को आगे करके अपने अभिप्रायों को पुष्ट करते हैं, पर कर्म-बन्ध के द्वारों को न रोकने से वे दीर्घकाल तक संसार के नीच स्थानों में भ्रमण किया करेंगे[1]।

---

1 सूत्रकृताङ्ग श्रु० १, अ० १, उ० ३, पृ० ४१–४७।

४

जगत् की स्थूल वस्तुओं में अवस्था-परिवर्तन होता रहता है और जगत् के पदार्थ अवस्थान्तर को प्राप्त होते हैं।

'सब प्राणी दुःख से डरते हैं, इसलिये वे अहिंस्य हैं' इस अहिंसा के सिद्धान्त को जानते हुए ज्ञानी के ज्ञान का यही सार है कि वह किसी की हिंसा न करे।

आचार-मार्ग में रहता हुआ और आसक्ति का त्याग करता हुआ भिक्षु चलने-फिरने, सोने-बैठने और खाने-पीने में विवेक रक्खे। इन तीनों ही बातों में निरंतर संयम रखनेवाले, गर्व, क्रोध, कपट और लोभ के त्यागी, पाँच संवरों से संवृत और गृहस्थों के मोह-पाश से दूर रहते हुए भिक्षु को मोक्ष के लिए सदा प्रवृत्त रहना चाहिये[1]।

धर्म्य-श्रुत

जम्बू ने पूछा—बुद्धिमान् ब्राह्मण (महावीर) ने कौनसा धर्म कहा है ?

सुधर्मा बोले—जिनों का जो सरल और यथातथ्य धर्म है, उसे कहता हूँ, सुनो।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चण्डाल, बुक्कस, एषिक, वैशिक, शूद्र और अन्य कोई भी जीव जो आरंभ और परिग्रह में मग्न हैं वे वैर बढ़ा रहे हैं। उनकी इच्छायें आरंभपूर्ण होने से वे दुःख से छुटकारा नहीं पाते।

परिग्रहधारी के मरते ही उसके विषयाभिलाषी ज्ञातिजन मरण-कृत्य करने के अनन्तर उसका धन कब्जे में कर लेते हैं और कर्मों का फल कमानेवाला भोगता है।

अपने कर्मों से मरते हुए की रक्षा के लिए माता, पिता, भाई, स्त्री और सगे भाई कोई समर्थ नहीं, इस परमार्थ को जानता हुआ भिक्षु धन, पुत्र, ज्ञातिजन और परिग्रह आदि का त्याग कर निरहंकार और निरपेक्षभाव से जिनकथित धर्ममार्ग का आचरण करता हुआ विचरे।

पृथिवी, पानी, अग्नि, वायु, घास, वृक्ष, बीज आदि वनस्पति और अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज तथा उद्भिज्ज आदि त्रस, इन

---

१ सूत्रकृताङ्ग श्रु० अ० ४, पृ० ४७-५१।

छः जीवनिकायों का ज्ञान प्राप्त कर विद्वान् भिक्षु मन, वचन और काय से इनके आरंभ और परिग्रह का त्याग करे।

असत्य वचन, अयाचित स्थान और स्त्री-सेवा ये लोक में कर्म-बन्ध के कारण हैं, यह जान कर भिक्षु इनका त्याग करे।

कपट, लोभ, क्रोध और अहंकार को कर्म-बन्ध का हेतु जान कर भिक्षु इनका त्याग करे।

सुगन्ध, पुष्पमाला, स्नान, दातुन, परिग्रह और स्त्री-संग्रहादि कामों का भिक्षु त्याग करे।

भिक्षु के उद्देश से बनाये गए, खरीदे गए, माँगकर लाये गए और स्थानान्तर से सामने लाये गए आहारादि को दूषित और अकल्पनीय समझ कर भिक्षु उनका त्याग करे।

पौष्टिक रसायन, नेत्राञ्जन, रसलोलुपता, परोपघातक स्नान-विलेपनादि को कर्म-बन्ध का कारण जान कर भिक्षु इनका त्याग करे।

असंयतों के साथ पर्यालोचना, उनके कामों की प्रशंसा, ज्योतिष-निमित्त संबन्धी प्रश्नों के उत्तर और गृहस्वामी के यहाँ भोजन इत्यादि का विद्वान् भिक्षु त्याग करे।

भिक्षु जुआ खेलना न सीखे, धर्म विरुद्ध वचन न बोले, किसी के साथ मारा-मारी अथवा विवाद न करे।

जूता, छाता, पंखा, नालिका और अन्योन्य-क्रिया इन सबका भिक्षु त्याग करे।

मुनि हरी घास पर मल-मूत्र न करे और न वहाँ जलशौच करे।

भिक्षु भूखा रहे पर गृहस्थ के पात्र में भोजन न करे। नग्न फिरे पर गृहस्थ का वेष कभी न पहने।

विद्वान् भिक्षु चारपाई अथवा पलंग पर न बैठे, गृहस्थ के घर में आसन न लगावे और उनके कामों की पूछताछ कर पूर्वावस्था का स्मरण न करे।

विद्वान् भिक्षु यश, कीर्ति, प्रशंसा, वन्दन, पूजन और विषयसुख की कभी इच्छा न करे।

जितने से अपना निर्वाह हो सके भिक्षु उतना ही आहार-पानी ग्रहण करे अथवा दूसरे भिक्षुओं को दान करे, अधिक नहीं।

यह सब निर्ग्रन्थ महामुनि महावीर ने कहा है। उन्हीं अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी भगवान् ने इस धर्म और ज्ञान का उपदेश किया है।

भिक्षु को बातें करते हुए दो आदमियों के बीच में नहीं बोलना चाहिये और न उसे कपट-वचन ही कहना चाहिये। वह जो भी बोले विचारपूर्वक बोले। चार भाषाओं में तीसरी (सत्यामृषा) वह भाषा है जिसे बोल कर बोलनेवाले पीछे पश्चात्ताप करते हैं।

'जो गुप्त है उसे कभी प्रकाश में मत बोलो' निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र की यही आज्ञा है।

होला ! सखे ! वासिट्ठि ! इत्यादि स्नेहसूचक संबोधनों से और 'तू' 'तुम' इत्यादि तिरस्कारसूचक वचनों से भिक्षु किसी को न बुलाये।

भिक्षु को सदा सुशील रहना चाहिये और कुशीलों की तरफ से होनेवाली प्रलोभक बुराइयों को जानते हुए उसे उनका संग तक न करना चाहिये।

बिना कारण मुनि गृहस्थ के घर में न बैठे, बच्चों के खेल न खेले, अधिक न हँसे और सांसारिक सुख की उत्कण्ठा न करे, किन्तु यतनापूर्वक श्रमणधर्म का आराधन करता हुआ अप्रमादी होकर विचरे।

संयम-निर्वाह के लिए विचरता हुआ अनगार आनेवाले कष्टों को सहन करे, मार पड़ने और आक्रोश सुनने पर भी क्रोध और कोलाहल न करे। कष्टों को शान्तचित्त से सहन करने और इन्द्रिय-सुख की चाहना न करने का नाम ही 'विवेक' है।

भिक्षु को नित्य आचार्य के पास रह कर आर्य वचनों का अभ्यास करना चाहिये। इसकी प्राप्ति के लिए उसे बुद्धिमान् गीतार्थ की सेवा करनी चाहिये।

जो धीर, वीर, जितेन्द्रिय और आत्मगवेषी हैं, जो घर में प्रकाश और संसारशरण का उपाय न देखकर श्रमणधर्म स्वीकार करते हैं, जो शब्द, स्पर्शादि विषयों में आसक्त नहीं हैं और जो आरंभ-त्यागी तथा जीवित से निरपेक्ष हैं वे अवश्य ही बन्धन से मुक्त होते हैं।

ऊपर जो विस्तृत रूप से हेय-उपादेय का निरूपण किया है उसका सार यही है कि मान, माया और सर्व प्रकार की सुखशीलताओं को छोड़ कर विद्वान् मुनि निर्वाण का अनुसन्धान करे[1]।

जिनका वादी लोग नाना प्रकार से वर्णन करते हैं ऐसी दर्शनों की मूल शाखाएँ चार हैं—क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद।

दार्शनिकों की मूलशाखाएँ

कुशल भी अज्ञानी अपने मत का समन्वय नहीं कर सकते और न वे अपनी शंकाओं की निवृत्ति ही कर सकते हैं, क्योंकि उनके गुरु भी तो अज्ञानी होते हैं। वे अपने शिष्यों को अज्ञान के सिवा और बता ही क्या सकते हैं? वास्तव में बिना विचारे बोल कर अज्ञानी मृषावाद का पोषण करते हैं।

सत्य को असत्य समझते और बुरे को भला कहते हुए विनयवादी सर्वत्र विनय का ही समर्थन करते हैं। यथार्थज्ञानी न होते हुए भी वे कहते हैं कि हमारे मत में विनय ही मुक्ति का कारण है।

कर्मों से न डरनेवाले अक्रियावादी क्रियाओं का अस्तित्व ही नहीं मानते। पर जब वे अपने ही वचनों से मिश्रभाव को प्राप्त होते हुए पकड़े जाते हैं तो प्रत्युत्तर न देते हुए गूँगे हो जाते हैं अथवा 'हमारे मत में कोई विरोध नहीं' ऐसा कह कर अपना पिण्ड छुड़ाते हैं।

परमार्थ को न समझते हुए अक्रियावादी ऐसी ऐसी विपरीत बातें कहते हैं जिन्हें अंगीकार करके अनेक मनुष्य संसार-भ्रमण करते हैं। वे कहते हैं—न सूर्य उदय-अस्त होता है, न चन्द्रमा बढ़ता-घटता है, न जल बहता है और न वायु चलती है। यह संपूर्ण लोक केवल शून्य-मात्र है। जैसे अन्धा नेत्र न होने से प्रकाश में भी रूप नहीं देख सकता वैसे ही कुण्ठितबुद्धि अक्रियावादी लोग प्रत्यक्ष पदार्थ—क्रिया को भी नहीं देखते।

अनेक बुद्धिमान् मनुष्य ज्योतिष, स्वप्न, लक्षण, निमित्त, उत्पात और अंगविद्या प्रभृति अष्टांग निमित्त का अभ्यास करके भी संसार में

१—सूत्रकृताङ्ग श्रु० १, अध्याय ९, प० १७७-१९५।

होनेवाले भावों को जान लेते हैं। हाँ, उनमें से किसी का वह ज्ञान शास्त्र का रहस्य न जानने के कारण असत्य भी निकल सकता है, पर इससे विद्या का ही त्याग करना और पदार्थमात्र का निषेध कर देना ठीक नहीं।

जो यथार्थवेदी श्रमण-ब्राह्मण क्रियावादी हैं, वे लोगों के सामने यह उपदेश करते हैं—संसार में जो दुःख है वह अपनी ही करनी का फल है। सज्ज्ञान और सच्चारित्र से इस दुःख से मुक्ति हो सकती है। यथार्थवेदी उपदेशक ही लोकचक्षु और लोकनायक हैं और वे ही प्रजा को हितमार्ग का उपदेश कर सकते हैं। ऐसे हितोपदेशकों से ही मानव-समाज को इस संसार की अशाश्वतता का बोध हो सकता है।

इस संसार में राक्षस, भूत, देव, गन्धर्व, आकाशगत और पृथिवीगत जो कोई देहधारी हैं वे सब विनश्वर हैं, कोई अमर नहीं।

जिसे अगाध और अपार जल कहते हैं वही दुर्मोच्य गहन संसार है जिसमें डूबे हुए विषयाभिलाषी प्राणी यहाँ मारे-मारे फिरते हैं और परलोक में दुर्गतियों की पीड़ाओं का अनुभव करेंगे।

अज्ञानी निरन्तर प्रवृत्ति करते हुए भी कर्मों को नहीं तोड़ सकते और जो ज्ञानी तथा धीर हैं वे ही निवृत्ति के मार्ग में रहते हुए भी कर्मों का क्षय कर देते हैं और लोभ तथा अहंकार से दूर रह कर नये पाप कर्मों से बचते हैं।

वे ज्ञानावरणीयादि कर्मों को तोड़ कर त्रिकालज्ञानी हो लोकवर्ती सब पदार्थों को जानते, मोक्षार्थियों के नायक बनते और स्वयंबुद्ध हो कर कर्मों का नाश करते हैं। वे स्वयं ऐसा कोई कार्य नहीं करते और न अन्य से कराते हैं जिसमें प्राणी-हिंसा की शंका भी हो। वे इन्द्रियों को वश में रखते हुए आत्म-साधना में निरन्तर लगे रहते हैं और धीर हो कर ज्ञानमार्ग में विचरते हैं।

ज्ञानी सूक्ष्म-बादर सभी देहधारियों को आत्मतुल्य मानते हैं और इस महान् लोक को जीवाकीर्ण जानते हुए अप्रमादी हो कर विचरते हैं।

जो स्वयं अथवा दूसरों के उपदेश से ज्ञान प्राप्त करते हैं वे अपना और दूसरे का भला करने में समर्थ होते हैं। जो विचारपूर्वक धर्म

को प्रकट करना चाहे वह ऐसे ज्योतिर्धरों के पास सदा निवास करे।

जो आत्मा और लोक को जानता है, जो जीवों की गति-आगति को जानता है, जो शाश्वत-अशाश्वत को जानता है, जो जन्म-मरण को जानता है, जो उत्पत्ति-पुनर्जन्म को जानता है और जो आस्रव-संवर-दुःख-निर्जरा को जानता है वही क्रियावाद का उपदेश करने का अधिकारी है।

क्रियावादी न मनोहर शब्द-रूपादि इन्द्रियार्थों में आसक्त हो, न बुरे गन्ध-रसादि विषयों का द्वेष करे, न जीवित की इच्छा करे और न मरण की। सर्वभावों में समदृष्टिवाला हो कर्मों से बचता हुआ निष्कपट बन कर विचरे[1]।

आयुष्मान् भगवान् के श्रीमुख से पुण्डरीक का दृष्टान्त इस प्रकार मैंने सुना है—एक जल और दलदल से परिपूर्ण बड़ी सुन्दर झील है।

पुण्डरीक-दृष्टान्त

उसमें जगह जगह पुण्डरीक उगे हुए हैं। उन सब के बीच झील के मध्यभाग में एक बहुत बड़ा पुण्डरीक है जिसके पुष्पों की सुगन्ध और सौन्दर्य अद्वितीय है।

पूर्व दिशा से एक पुरुष झील के पास आया और तट पर खड़ा हो उस पुण्डरीक को देख कर बोला—"मैं कुशल और उद्योगी पुरुष हूँ। मैं मार्ग-गमनशक्ति का जाननेवाला हूँ। मैं अभी इस पुण्डरीक को उखाड़ डालूँगा।" वह झील में उतर कर आगे बढ़ने लगा। ज्यों-ज्यों वह आगे चला त्यों-यों जल और दलदल में फँसता गया। आखिर ऐसे गहरे पानी और कीचड़ में फँसा कि न वह पुण्डरीक तक पहुँचा और न लौट कर किनारे ही आने पाया।

दक्षिण दिशा से एक दूसरा पुरुष उस झील के किनारे आया और पुण्डरीक की तरफ देख कर बोला—"यह पुरुष कुशल और परिश्रमी नहीं। यह अज्ञानी मार्ग से अनभिज्ञ होने से फँस गया। पर मैं वैसा नहीं। मैं पुरुष हूँ। मुझे इसका मार्ग मालूम है। अभी मैं इस पुण्डरीक को उखाड़ डालूँगा।" वह झील के भीतर उतरा और पुण्डरीक को

---

१ सूत्रकृताङ्ग अध्ययन १२, प० २११–२२४।

उखाड़ने चला, पर पहले पुरुष की ही तरह वह भी गहरे जल और दलदल में फँस गया। न वह कमल तक पहुँचा, न वापस लौट कर किनारे पर ही आया।

पश्चिम दिशा से एक तीसरा पुरुष झील के निकट आया और तट पर चढ़कर पुण्डरीक तथा फँसे हुए पुरुषों की तरफ दृष्टि करके बोला—"अफसोस! ये दोनों ही पुरुष अज्ञानी निकले। न इन्हें मार्ग का ज्ञान है, न उद्यम करना ही जानते हैं। जिस प्रकार ये पुण्डरीक को उखाड़ना चाहते हैं, उस तरह यह नहीं उखाड़ा जाता। मैं बुद्धिमान् और प्रतिभा-संपन्न हूँ। अभी जाकर इसे उखाड़े देता हूँ।" वह जल के भीतर उतरा और पहले दो पुरुषों की ही तरह गहरे जल में पहुँचने पर दलदल में फँस गया। न वह कमल तक पहुँचा और न लौट कर किनारे पर ही आ सका।

उत्तर दिशा से एक चौथा पुरुष आया और झील के किनारे खड़ा होकर पुण्डरीक तथा दलदल में फँसे हुए तीनों पुरुषों की तरफ देखकर बोला—"आश्चर्य! ये तीनों पुरुष अज्ञानी और निर्बल निकले जो पुण्डरीक को उखाड़ते हुए स्वयं फँस गये। जिस रीति से इन्होंने पुण्डरीक उखाड़ना चाहा वह रीति ठीक नहीं। मैं इस विषय की यथार्थ जानकारी रखता हूँ। मैं मार्ग और गति-पराक्रम का जाननेवाला हूँ। मैं अभी जाकर इसे उखाड़ डालूँगा।" वह जल में उतर कर पुण्डरीक की तरफ चला, पर पहले तीन पुरुषों की ही तरह पुण्डरीक और किनारे के बीच ही फँस गया।

तब किसी अनियत दिशा से एक वीतराग और (संसार को) पार करने की इच्छावाला भिक्षु आया वह झील के तट पर आकर खड़ा हुआ और पुण्डरीक तथा दलदल में फँसे हुए उन चारों ही पुरुषों को लक्ष्य करके बोला—"अफसोस! अपनी शक्ति और गतिविधि को न जानते हुए ये पुरुष पुण्डरीक को उखाड़ने चले परन्तु स्वयं ही फँस गये। जो तरीका इन्होंने पुण्डरीक उखाड़ने के काम में लाया वह ठीक नहीं था। इस प्रकार कमल नहीं उखाड़े जाते। इसका ठीक उपाय मैं जानता हूँ और अभी इसे उखाड़े देता हूँ।" यह कहते हुए उसने वहीं से

आवाज दी—"उड़ जा पुण्डरीक उड़ जा" और पुण्डरीक उड़ गया।

भगवान् ने कहा—आयुष्मन् श्रमणो ! यही पुण्डरीक का दृष्टान्त है। इसका अर्थ समझने योग्य है।

निर्ग्रन्थ श्रमणों और श्रमणियों ने श्रमण भगवान् को वन्दन करके कहा—आयुष्मान् ने दृष्टान्त तो कहा पर हम इसका अर्थ नहीं जानते।

श्रमण-श्रमणिओं को श्रमण भगवान् ने कहा—आयुष्मन् श्रमणो ! अब उस दृष्टान्त का अर्थ कहता हूँ, सुनो।

यह मनुष्यलोक एक बड़ी झील है। जीवों के शुभाशुभ कर्म इसमें जल है। काम-भोग इसमें दलदल है। मनुष्य-समाज इसमें पुण्डरीक समुदाय है। चक्रवर्ती इसमें महापुण्डरीक है। अन्यतीर्थिक चार पुरुष-जात हैं। धर्म भिक्षु है। धर्मतीर्थ झील का किनारा है। धर्मकथा भिक्षु की आवाज है और निर्वाण वहाँ से उड़ना है।

आयुष्मन् श्रमणो ! दृष्टान्त का सारांश कह दिया। अब इसे स्पष्ट करके समझाऊँगा।

इस लोक में कई मनुष्य पूर्व में उत्पन्न होते हैं, कई पश्चिम में। कई उत्तर में जन्म लेते हैं और कई दक्षिण में। इनमें कई आर्य होते हैं, कई अनार्य। कई उच्च गोत्र के होते हैं, कई नीच गोत्र के। कई विशालकाय होते हैं, कई वामन। कई सुवर्ण होते हैं, कई दुर्वर्ण। कई सुरूप होते हैं और कई कुरूप।

उन मनुष्यों का एक मूर्धाभिषिक्त राजा होता है जो सत्त्वगुण से हिमवन्त, मेरु और महेन्द्र पर्वत की उपमा पाता है। विशुद्ध राजकुलीन और राजलक्षणोपेत होने से वह जनपूजित होता है और देश का पिता कहलाता है।

उस राजा की राजसभा के ये सभासद होते हैं—उग्र, उग्रपुत्र, भोग, भोगपुत्र, इक्ष्वाकु, इक्ष्वाकुपुत्र, ज्ञात, ज्ञातपुत्र, कौरव्य, कौरव्य-पुत्र, भट्ट, भट्टपुत्र, ब्राह्मण, ब्राह्मणपुत्र, लिच्छवि, लिच्छविपुत्र, प्रशास्ता, प्रशास्तापुत्र, सेनापति और सेनापतिपुत्र।

इनमें कोई श्रद्धावान् है, यह जानकर कुछ श्रमण-ब्राह्मण उसे धर्मोपदेश करने का निश्चय करते हैं और उसके पास जाकर कहते हैं—

"हम अमुक धर्म का उपदेश करेंगे, आप सुनिये। यह धर्म कैसा अच्छा है, यह सुनने से मालूम होगा।" यह कह कर उनमें से पहला पुरुष-जात कहता है—

"पादतल से लेकर सिर के बालों से नीचे तक और इर्द-गिर्द त्वचापर्यन्त जो देह है वही जीव है, वही संपूर्ण आत्मपर्याय है। यह जबतक प्राणधारी है, जीता है; और मरने पर नहीं जीता। जबतक शरीर है तबतक जीव। शरीर का नाश होने पर जीव भी नहीं रहता। शरीर के जलने पर कपोतवर्ण अस्थियाँ रह जाती हैं। चार पुरुष और पाँचवीं माँची (अरथी)—ये ही वापस गाँव में आते हैं।

"जीव अन्य है और शरीर अन्य, यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कहनेवाले स्वयं भी यह नहीं जानते कि आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व? आकार में वह परिमण्डलाकार है, गोल है, त्रिकोण है, चतुष्कोण है, षट्कोण है या अष्टकोण? रंग में वह कृष्ण है, नील है, रक्त है, पीत है या श्वेत? गन्ध में वह सुरभिगन्धी है या दुरभिगन्धी? रस में वह तीक्ष्ण है, कटु है, कषाय है, अम्ल है या मधुर? स्पर्श में वह कर्कश है, कोमल है, गुरु है, लघु है, शीतल है, उष्ण है, स्निग्ध है या रूक्ष?…

"शरीर और आत्मा को पृथक्-पृथक् मानना ठीक नहीं, क्योंकि जैसे तलवार म्यान से निकाल कर बताई जाती है वैसे आत्मा को शरीर से पृथक् करके दिखानेवाला कोई नहीं है। जैसे मुंज और उसके रेशे पृथक् पृथक् बताये जा सकते हैं वैसे आत्मा और शरीर को जुदा जुदा नहीं दिखाया जा सकता कि 'यह' आत्मा है और 'वह' शरीर। इसी प्रकार मांस से हड्डी, करतल से आमलक, दही से मक्खन, तिलों से तैल, ईख से मीठा रस और अरणिकाष्ठ से अग्नि पृथक् कर बताया जा सकता है वैसे आत्मा को शरीर से जुदा करके कोई नहीं बता सकता।

"इसलिये जिनके मत में आत्मा असत् और अज्ञेय है उन्हीं का कथन यथार्थ है।"

इस प्रकार तज्जीव-तच्छरीरवादी आत्मा का अस्तित्व न मान कर स्वयं हिंसा करते हैं और दूसरों को वैसा करने का उपदेश देते हैं।

उनके मत में शरीर के अतिरिक्त आत्मा नहीं और परलोक भी नहीं। वे क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, भला, बुरा, सिद्धि, असिद्धि, नरक और भवान्तर कुछ भी नहीं मानते। खान-पान तथा सुख-भोगों के निमित्त नाना प्रकार के हिंसक कर्म करते हैं।

कोई कोई प्रव्रजित भी साहस कर इसका उपदेश करते हैं जिसे सुनकर श्रद्धा करनेवाले कहते हैं—'अच्छा कहा श्रमण! अच्छा कहा ब्राह्मण! हम तुम्हारी पूजा करते हैं।' यह कहकर वे खान, पान, वस्त्र, पात्र, कम्बलादि का दान करते हैं, जिसका वे स्वीकार करते हैं। पहले जब वे घर छोड़ते हैं तब यह विचार करते हैं कि हम श्रमण अनगार होंगे; धन, पुत्र, पशु आदि कुछ भी परिग्रह न रक्खेंगे; परदत्त भोजन करेंगे और कुछ भी पाप कर्म नहीं करेंगे; पर तज्जीव-तच्छरीरवादी होने के बाद वे किसी नियम से बँधे नहीं रहते। वे स्वयं परिग्रहादि ग्रहण करते तथा कराने लगते हैं और सुख-भोगों में लीन हो जाते हैं।

राग-द्वेष के वश में पड़े हुए वे न अपना ही उद्धार करते हैं, न दूसरों का। संसार में छोटे बड़े किसी भी प्राणी का उनसे उद्धार नहीं होता। घर, कुटुम्ब को त्याग कर भी वे आर्य-मार्ग को न पाकर न इधर के रहते हैं, न उधर के।

दूसरा पुरुषजात पाञ्चमहाभूतिक कहलाता है। इस मत के श्रमण-ब्राह्मण भी पूर्वोक्त राजा अथवा उसके सभासदों में जो श्रद्धावान् होते हैं उनके पास धर्मोपदेश देने जाते हैं और कहते हैं—

"महानुभावो! हम जिस धर्म का उपदेश करेंगे वह उपपन्न और व्यवस्थित है। लोक में पञ्चमहाभूत ही सब कुछ हैं। हमारे मत में भूतों के अतिरिक्त न क्रिया है न अक्रिया, न सुकृत है न दुष्कृत, न पुण्य है न पाप, न भला है न बुरा, न सिद्धि है न असिद्धि, न नरक है और न दूसरी गति। भूतों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

"वे भूत पृथक् पृथक् नामों से पुकारे जाते हैं जैसे पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश। इन पाँच महाभूतों को न किसी ने बनाया न बनवाया, न किया न कराया। वे अनादि अनन्त हैं। इनका कोई प्रवर्तक भी नहीं। ये स्वतन्त्र और शाश्वत हैं।

"किन्हीं का कहना है कि इन पाँच भूतों के उपरान्त छठी आत्मा है। इस मत में सत् का नाश और असत् की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु पाञ्चमहाभूतिक मत में यही जीवकाय, यही अस्तिकाय और यही लोक है, जो प्रत्यक्ष है। और इन सब का कारण महाभूत है।"

इनके मत में खरीदता खरीदवाता, मारता मरवाता, पकाता और पकवाता हुआ भी निर्दोष है। यहाँ तक कि पुरुष को खरीद कर कोई मरवा डाले तब भी दोष नहीं।

पाञ्चमहाभूतिक क्रिया अक्रिया आदि कुछ भी नहीं मानते। विविध प्रकार के विषय-भोग करते हैं। स्वयं विपरीत मार्ग पर चढ़े हैं और श्रद्धालुओं को चढ़ाते हैं। राग-द्वेष के वश पड़े हुए ये न अपना उद्धार कर सकते हैं, न दूसरों का। आर्य-मार्ग से बहिर्भूत वे न इधर के रहे न उधर के।

तीसरा पुरुषजात 'ईश्वरकारणिक' कहलाता है। इस मत के श्रमण-ब्राह्मण राजा तथा उसके सभासद आदि श्रद्धावानों के पास जाकर कहते हैं—

"इस लोक में धर्मों का आदि तथा उत्तर कारण पुरुष है, क्योंकि सब धर्म पुरुषप्रणीत, पुरुष से ही व्याप्त होकर रहते हैं। जैसे शरीर में उत्पन्न और बढ़ा हुआ गंड शरीर से मिला रहता है, वैसे ही सब धर्म पुरुषादिक[1] हैं और पुरुष में ही व्याप्त होकर रहते हैं। जैसे अरति शरीर में उत्पन्न होती है और बढ़ कर शरीर में रहती है, वैसे ही धर्म पुरुषादिक हैं और पुरुष को व्याप्त होकर ही रहते हैं। जैसे वल्मीक, वृक्ष और पुष्करिणी पृथिवी में उत्पन्न और बढ़े हुए पृथिवी में ही रहते हैं, वैसे धर्म भी पुरुषादिक हैं और पुरुष में ही रहते हैं। जैसे जलसमूह और जलबुद्बुद जल में उत्पन्न होते और जल में ही रहते हैं, वैसे ही धर्म भी पुरुषादिक हैं और पुरुष में ही रहते हैं।

"यह जो श्रमण-निर्ग्रन्थों के निमित्त बना हुआ आचाराङ्ग-सूत्रकृताङ्गादि से लेकर दृष्टिवादपर्यन्त द्वादशाङ्ग गणिपिटक है, वह सब

---

१ पुरुष है आदि—मूलकारण जिनका।

मिथ्या है। उसमें कुछ भी सत्यता और यथार्थता नहीं। हम जो कहते हैं, वही ठीक है।"

जिस तरह पक्षी पिंजरे से दूर नहीं जा सकता, उसी तरह इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए वे दुःख से दूर नहीं होते; क्योंकि इनके मत में क्रिया-अक्रिया, सिद्धि-असिद्धि, स्वर्ग-नरक सब कुछ ईश्वर के हाथ है। मनुष्य किसी कार्य में स्वतंत्र नहीं। सर्वत्र ईश्वर को ही कारण बताते हुए वे तरह तरह के आरंभ-समारंभ करके वैपयिक सुखों की साधना करते हैं। इस प्रकार वे स्वयं भूले हैं और दूसरों को भुलाते हैं। वे न अपना उद्धार कर सकते हैं, न पराया। आर्य-मार्ग को न पाकर न इधर के रहते हैं, न उधर के।

चौथा पुरुषजात 'नियतिवादी' कहलाता है। नियतिवादी श्रमण-ब्राह्मण भी जिज्ञासुओं को धर्मोपदेश देने जाते हैं और कहते हैं कि जिस धर्म की हम प्रज्ञापना करेंगे वही यथार्थ है। वे कहते हैं—

"पुरुष दो प्रकार के होते हैं। एक तो वे जो क्रिया का उपदेश करते हैं और दूसरे वे जो अक्रिया का कथन करते हैं। हमारे मत से ये दोनों ही नियतिवश होने से बराबर हैं। कुछ भी निमित्त मिलने पर अज्ञानी पुरुष कहता है कि मैं दुःखी हूँ, मैं शोकाकुल, निर्बल और पीड़ित हूँ। मैं सताया जाता हूँ और झुरता हूँ। यह सब दुःख मेरा ही किया हुआ है। वह जीव दुःख, शोक और संताप आदि का अनुभव करता है वह उसकी करनी का फल है। पर बुद्धिमान् ऐसा नहीं समझता। निमित्त पाकर वह कहता है कि मैं दुःखी हूँ, मैं चिन्तित हूँ, अथवा वह दुःखी और पीड़ित है। पर वह यह नहीं कहता कि यह दुःख मेरा और उसका किया हुआ है।

"इस पृथिवी पर जो त्रस-स्थावर प्राणी भिन्न-भिन्न शरीर, भिन्न-भिन्न अवस्था, भिन्न-भिन्न विवेक और भिन्न-भिन्न विधान के प्राप्त होते हैं वह सब नियति के ही बल से।"

नियतिवादी क्रिया-अक्रिया, सिद्धि-असिद्धि, नरक-स्वर्ग सर्वत्र नियति का ही प्राधान्य समझते हैं और नाना प्रकार के काम-भोगों के लिए नाना प्रकार के कर्मारम्भ करते हैं। इस प्रकार नियतिवादी आर्य-मार्ग

को न पाकर कामभोगों में फँस कर न इधर के रहते हैं, न उधर के।

इस प्रकार नाना बुद्धि, नाना रुचि, नाना अभिप्राय, नाना अनुष्ठान, नाना दृष्टि, नाना आरम्भ और नाना अध्यवसायवाले उक्त चार पुरुष-जात गृह-कुटुम्ब को छोड़ कर भी आर्य-मार्ग को न पाकर कामभोगों में फँसे हुए न इधर के रहते हैं, न उधर के।

अब पुण्डरीक के उद्धारक भिक्षु के विषय में सुनिए।

प्राच्य, पाश्चिमात्य आदि अनेक मनुष्य होते हैं। उनमें आर्य-अनार्य, सुरूप-कुरूप, भले-बुरे सभी प्रकार के मनुष्य होते हैं। उनमें कई जमीन-जागीरवाले होते हैं और कई छोटे बड़े देशों के अधिकारी होते हैं। वे अन्यान्य पदार्थों पर ममता करते हैं और कहते हैं—'मेरा खेत, मेरा रूपा, मेरा सोना, मेरा धन, मेरा धान्य, मेरा वर्तन, मेरा वस्त्र, मेरा मणि, मेरा मोती रत्नादिक सारा धन और मेरे शब्द, रूप, गन्ध, रस तथा स्पर्श। ये सब काम-भोग मेरे हैं और मैं इनका।'

परन्तु समझदार के शरीर में कोई दुःख अथवा भयंकर रोगातङ्क उत्पन्न होता है तो वह कहता है—'हे कामभोगो! मेरे इस दुःख को तुम अपने ऊपर ले लोगे? मैं दुःखी, शोकाकुल, चिन्तित और पीड़ित हूँ। तुम मुझे इस दुःख से छुड़ाओगे?' और वह सोचता है कि यह बात कभी नहीं हुई कि संसार में कामभोग किसी की रक्षा कर सकें। एक दिन या तो पुरुष कामभोगों को छोड़ेगा अथवा कामभोग पुरुष को। कामभोगों में और आत्मा में वास्तविक संबन्ध ही नहीं, फिर हम क्यों विभिन्न काममार्गों में लुब्ध होते हैं? हम इनको छोड़ेंगे, क्योंकि बुद्धिमान् के लिए ये सब बाह्य हैं।

किसी को यह समझ हो कि कामभोग भले ही बाह्य हों पर माता, पिता, भाई, बहन, स्त्री, पुत्र, पुत्री, दास और स्वजन-परिजनादि ज्ञातिजन तो निकटवर्ती होने से मेरे हैं और मैं इनका। बुद्धिमान् यह सोचता है कि हे ज्ञातियो! यदि मुझ पर कोई दुःख अथवा भयंकर रोगातङ्क आ पड़ेगा तो तुम मेरे उस दुःख को उठा लोगे? मैं दुःखी, शोकार्त अथवा चिन्तित होऊँगा, तब तुम मुझे उससे छुड़ाओगे? मैं समझता हूँ कि ऐसी बात कभी नहीं हुई। मेरे इन पूज्य ज्ञातिजनों पर किसी

प्रकार का कष्ट आ पड़ेगा तो मैं भी उसको अपने ऊपर लेने में असमर्थ हूँ। मुझे उस समय यही ख्याल आयेगा कि मैं दुःखी, शोकार्त और चिन्तित न होऊँ। इस प्रकार मैं उनके दुःख का उद्धार नहीं कर सकता। यह बात कभी हुई ही नहीं कि एक का दुःख दूसरा ले ले अथवा एक का किया हुआ कर्म दूसरा भोगे। यहाँ प्रत्येक जीव अकेला जन्मता है और अकेला मरता है। वह अकेला च्यवता है और अकेला ही उत्पन्न होता है। कषाय, संज्ञा, विचार, ज्ञान और अनुभव ये सब प्रत्येक के भिन्न-भिन्न होते हैं। इसलिए ज्ञातिसंयोग किसीका शरण और त्राण नहीं हो सकते। या तो पुरुष ज्ञातिसंयोगों को छोड़कर पहले जायगा अथवा तो ज्ञातिसंयोग पुरुष को छोड़ेंगे। इसलिये मैं क्यों इन विभिन्न ज्ञातिसंयोगों में मोह रक्खूँ? मैं इनको छोड़ूँगा। बुद्धिमान् के लिये ये सब बाह्य हैं।

और तो और; हाथ, पाँव, बाहु, जाँघ, पेट, मस्तक, शील, आयुष्य, बल, वर्ण, त्वचा, कान्ति, कान, आँख, नाक, जीभ और स्पर्श प्रमुख अतिनिकटवर्ती अवयव, जिनकी मैं ममता करता हूँ, प्रतिक्षण जीर्ण होते हैं। शरीर की सन्धियाँ शिथिल पड़ती हैं। शरीर पर झुर्रियाँ पड़ती हैं। काले बाल सफेद हो जाते हैं और यह सुन्दर शरीर धीरे-धीरे त्यागने योग्य हो जाता है। यह जानकर भिक्षाचर्या के लिये उद्यत हुए भिक्षु को इस लोक में जीव, अजीव, त्रस और स्थावर को अवश्य जानना चाहिए।

संसार में गृहस्थ आरंभ-परिग्रहवाले होते हैं, पर कतिपय श्रमण-ब्राह्मण भी आरंभ-परिग्रहधारी होते हैं। वे त्रस-स्थावर प्राणियों का आरंभ करते कराते हैं। वे सचित्त-अचित्तादि कामभोगों का स्वीकार करते कराते हैं और इन कामों को वे उत्तेजन देते हैं। मैं अनारंभ और अपरिग्रह हूँ। हम इन्हींके आश्रय से ब्रह्मचर्य—श्रमणधर्म का पालन करेंगे, क्योंकि ये तो जैसे पहले थे वैसे ही अब भी हैं। प्रकट है कि ये कर्मबन्ध से नहीं हटे और संयम-मार्ग में उपस्थित नहीं हुए। इनकी वही दशा है जो पहले थी। ये आरंभ-परिग्रह में मग्न हुए पाप कर रहे हैं। यह जानकर भिक्षु दोनों तरफ से अलिप्त होकर विचरे। इस प्रकार वह कर्मों को जान और रोककर उनका नाश कर सकेगा।

कर्मबन्ध के विषय में भगवान् ने इन षड्जीवनिकायों को हेतु कहा है—पृथिवीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय।

जैसे मुझे दंड, हड्डी, मुक्के, ढेले अथवा कर्पर से दबाने, मारने, धमकाने, ताड़ने से और परिताप तथा उपद्रव करने से दुःख होता है, यहाँ तक कि शरीर का एक भी रोम नोचने से मैं अत्यन्त दुःख और भय का अनुभव करता हूँ, वैसे ही सर्वजीव, सर्वभूत, सर्वप्राण और सर्वसत्त्वों को दण्ड आदि से ताड़न-तर्जनादि करने से दुःख होता है। एक भी रोम नोचने से उन्हें अत्यन्त दुःख और भय का अनुभव होता है। इसलिए भूत, भविष्यत् और वर्तमान के सभी अर्हन्त भगवान् यह कथन, भाषण, प्रज्ञापन और प्ररूपण करते हैं कि किसी जीव, भूत, प्राण और सत्त्व को न मारो, न दुःख दो, न पकड़ो, न सताओ और न प्राणमुक्त ही करो। यही ध्रुव, नित्य और शाश्वत धर्म है, जो लोक में आकर जगत् की पीड़ा जाननेवाले तीर्थंकरों ने कहा है। अतएव प्राणिहिंसा, असत्यवचन, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह का त्यागी भिक्षु दातुन, अंजन, वमन, विरेचन, धूप और धूम्रपानादि न करे। इस प्रकार वह अक्रिय तथा अहिंसक हो क्रोध, मान, माया और लोभ का त्याग कर बाह्य तथा आभ्यन्तरिक शान्ति में रहता हुआ देखे, सुने, माने अथवा जाने हुए किसी भी तरह के सुख की प्रार्थना न करे। वह कभी ऐसा विचार न करे कि मैं जो यहाँ सदाचरण, तप, नियम और ब्रह्मचर्य में रहता हूँ और धर्म का आराधन करता हूँ इसके फलस्वरूप मुझे देवगति प्राप्त हो या यहीं पर सिद्धियाँ प्राप्त हों, अथवा मैं सुखी ही होऊँ, दुःखी न होऊँ।

जो शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में आसक्त नहीं होता तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम, द्वेष, कलह, पैशुन्य, परनिन्दा, रति-अरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शन-शल्य से दूर रहता है वह महाकर्मबन्ध से बचा हुआ और हिंसादि पापों से विराम पाया हुआ भिक्षु है।

जो त्रस-स्थावर प्राणधारियों का आरंभ स्वयं नहीं करता, दूसरों

से नहीं कराता और करनेवालों का अनुमोदन नहीं करता वह महाकर्मोदान से बचा और पापस्थान से विराम पाया हुआ भिक्षु है।

जो सांपरायिक क्रिया स्वयं नहीं करता, दूसरों से नहीं कराता और करनेवालों का अनुमोदन नहीं करता वह महाकर्मोदान से बचा हुआ और पापस्थान से विरत भिक्षु है।

जो अशन, पान, स्वाद्य और खाद्य पदार्थों के संबन्ध में यह जानता हुआ कि वे किसी भी साधर्मिक साधु के उद्देश से प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का आरंभ करके बनाये, खरीदे या माँग कर लाये गए हैं अथवा वे किसी से छीने या स्थानान्तर से लाये हुए हैं, स्वयं उनका भोजन नहीं करता, दूसरों को नहीं कराता और करनेवालों का अनुमोदन नहीं करता, वही महाकर्मोदान से बचा हुआ पापस्थान से विरत भिक्षु है।

परकृत, परनिष्ठित, उद्गम-उत्पादनादि दोष रहित, प्रासुक और भिक्षाचर्या के क्रम से प्राप्त परिमित आहार का ही संयमनिर्वाह के लिये भिक्षु भोजन करे।

वह आहार के समय आहार, पानी के समय पानी, वस्त्र के समय वस्त्र, उपाश्रय के समय उपाश्रय और शयन के समय शयन का उपभोग करे।

उपदेशविधि का ज्ञाता भिक्षु दिशा, विदिशा में जहाँ जाय वहाँ धर्मोपदेश करे। भाव से अथवा कौतुक से भी जो कोई श्रोता आवे उसके आगे धर्म की विशेषताएँ और उसके फल का प्रतिपादन करे।

वह शान्ति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच, सरलता, कोमलता, लघुता और प्राणिमात्र की अहिंसा का उपदेश करे।

वह अन्न, पानी, वस्त्र, उपाश्रय, स्वजन और सांसारिक सुखों की प्राप्ति के लिये कभी धर्मोपदेश न करे। केवल कर्मनिर्जरा ही उसके धर्मकथन का निमित्त हो।

जिन वीर पुरुषों ने भिक्षु के निकट धर्मश्रवण करके उसका स्वीकार किया वे मोक्ष मार्ग को प्राप्त हुए, सर्व पापों से दूर हुए, सम्पूर्ण शान्ति को प्राप्त हुए, कर्मक्षय कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

यही वह धर्मार्थी, धर्मविद् और संयमी भिक्षु है जिसकी आवाज से महापुण्डरीक के उड़ने की बात कही थी।

जिसने कर्मों, संयोगों और गृहवास को जाना है और जो शान्त, समित, हितसाधक और संयमी है ऐसे भिक्षु को श्रमण, ब्राह्मण, शान्त दान्त, गुप्त, मुक्त, ऋषि, मुनि, कृती, विद्वान्, भिक्षु, रुक्ष, तीरार्थी और चरण-करणपारविद् इन नामों में बुलाना योग्य है[1]।

1—सूत्रकृताङ्ग श्रुतस्कन्ध २, अध्याय १, पृ० २७०–२९८।

तृतीय परिच्छेद

भगवान् महावीर के पूर्वभव

पश्चिम महाविदेह के एक गाँव में बलाधिक[1] नामक एक राज्याधिकारी था। एक समय वह राजाज्ञा पाकर काठ लिवाने के लिए गाड़ियाँ लेकर जंगल में गया। मध्याह्न का समय हुआ और बलाधिक तथा उसके साथी दोपहर के भोजन की तैयारी करने लगे। ठीक उसी समय वहाँ एक साधु-समुदाय आया। साधु किसी एक सार्थ के संग चल रहे थे और सार्थ के आगे निकल जाने पर मार्ग भूलकर भटकते हुए दोपहर को उस प्रदेश में आये जहाँ बलाधिक की गाड़ियों का पड़ाव था।

पहला और दूसरा भव

साधुओं को देखते ही बलाधिक का हृदय दयार्द्र हो गया। उसने कहा—बड़े खेद की बात है, मार्ग से अनजान बेचारे तपस्वी लोग मार्ग भूलकर जंगल की राह पड़ गये हैं। वह उठा और आदरपूर्वक श्रमणों को अपने पास बुला कर आहार-पानी से उनका आतिथ्य किया और बोला, चलिए महाराज! आप को मार्ग पर चढ़ा दूँ। वह आगे चला और साधुगण उसके पीछे। मार्ग में चलते हुए गुरु ने योग्य जीव जान कर बलाधिक को धर्मोपदेश किया जो उसके हृदय में बैठ गया। साधुओं को मार्ग बता कर बलाधिक वापस लौटा।

थोड़े से उपदेश से बलाधिक ने सम्यक्त्व प्राप्त किया और जीवनपर्यन्त गुरूपदेश का अनुसरण करते हुए उसने अपना जीवन सफल किया।

दूसरे भव में बलाधिक ने सौधर्म कल्प में पल्पोपम की आयुस्थितिवाला देवपद प्राप्त किया।

१—चरित्रकारों ने इसका नाम नयसार लिखा है।

देव गति का जीवन पूर्ण होने के अनन्तर बलाधिक का जीव

तीसरा और चौथा भव

तीसरे भव में चक्रवर्ती भरत का पुत्र मरीचि नामक राजकुमार हुआ।

एक समय भगवान् ऋषभदेव पुरिमताल के उद्यान में पधारे। नागरिकगण और राज के परिवार के सब लोग भगवान् को वन्दन करने और धर्मोपदेश सुनने गये। भगवान् ने वैराग्यजनक धर्मदेशना की जिसे सुन कर मरीचि संसार से विरक्त हो गये और अनेक राजपुत्रों के साथ श्रमण-धर्म की प्रव्रज्या लेकर भगवान् के साथ विचरने लगे।

बहुत समय तक प्रव्रज्या पालने के बाद मरीचि श्रमण-मार्ग की कठिन क्रियाओं से ऊब गये और साधुवेश के बदले उन्होंने एक नूतन वेश धारण किया। हाथ में त्रिदण्ड, सिर पर शिखा तथा छत्र, पाँवों में पादुकायें और शरीर पर गेरुआ वस्त्र धारण कर अपने को निर्ग्रन्थ श्रमणों से जुदा कर लिया।

एक समय राजा भरतने ऋषभदेव से पूछा—भगवन्! आपकी इस धर्मसभा में कोई भावी तीर्थंकर है? उत्तर में मरीचि की तरफ इशारा करते हुए भगवान् ने कहा—राजन्! यह त्रिदण्डी तेरा पुत्र मरीचि इसी अवसर्पिणी काल में चौबीसवाँ महावीर नामक तीर्थंकर होगा। इतना ही नहीं, तीर्थंकर होने से पहले यह भारतवर्ष में त्रिपृष्ठ नामक वासुदेव होगा। उसके बाद पश्चिम महाविदेह में प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होगा और अन्त में भारतवर्ष में अन्तिम तीर्थंकर महावीर होगा।

भगवान् के मुख से भावी वृत्तान्त सुनकर भरत मरीचि के निकट जाकर वन्दनपूर्वक बोले—मरीचि! मैं तुम्हारे इस परिव्राजकत्व को नहीं वन्दन करता पर तुम अन्तिम तीर्थंकर होनेवाले हो, यह जान कर तुम्हें वन्दन करता हूँ। संसार में जो बड़े बड़े लाभ हैं वे सब तुम्हें ही मिल गये हैं। तुम इसी भारतवर्ष में त्रिपृष्ठ वासुदेव, महाविदेह में प्रियमित्र चक्रवर्ती और फिर यहाँ वर्द्धमान नामक चौबीसवें तीर्थंकर होगे।

भरत की बात से मरीचि बहुत प्रसन्न हुआ। वह त्रिपदी आस्फालन

करके बोला—अहो ! मैं वासुदेव, चक्रवर्ती और तीर्थंकर होऊँगा ! बस मेरे लिये इतना ही बहुत है।

मैं वासुदेवों में पहला ! पिता चक्रवर्तियों में पहले ! और दादा तीर्थंकरों में पहले ! अहो ! मेरा कुल कैसा श्रेष्ठ है !

भगवान् ऋषभदेव की जीवितावस्था में मरीचि भगवान् के साथ विचरते रहे और उनके निर्वाण के बाद उनके शिष्यों के साथ। उनके पास जो उपदेश श्रवण करने जाता उसे श्रमणधर्म का उपदेश करते और वैराग्यप्राप्त दीक्षार्थी को साधुओं के पास भेजते। कोई यह पूछता कि आप खुद दीक्षा क्यों नहीं देते ? तब कहते-'मैं खरा साधु नहीं हूँ, यथार्थ साधुमार्ग वही है जो श्रमण पालते हैं।'

एक समय मरीचि बीमार पड़े। वे विशाल साधु-समुदाय के साथ थे तथापि असंयत समझ कर श्रमणों ने उनकी परिचर्या नहीं की। अब मरीचि को अपनी असहायावस्था का भान हुआ और उसे अपने लिए एक शिष्य की आवश्यकता प्रतीत हुई।

एक बार मरीचि के पास कपिल नामक राजपुत्र आया। मरीचि ने उसे संसार की असारता का उपदेश किया। कपिल संसार से विरक्त हो कर साधु होने को तैयार हुआ तब मरीचि ने उसे साधुओं के पास श्रामण्य लेने को कहा। कपिल ने कहा—मैं आप के मत में प्रव्रजित होना चाहता हूँ। क्या आपके मत में धर्म नहीं है ? मरीचि ने कहा—है। धर्म वहाँ भी है और यहाँ भी। यह कहकर उसने कपिल को अपना शिष्य बना लिया।

चौरासी लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके मरीचि ने ब्रह्मदेव-लोक में देवपद प्राप्त किया।

ब्रह्मदेव लोक में दस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर बलाधिक का जीव कोल्लाग सन्निवेश में कौशिक नामक ब्राह्मण हुआ। उसने

पाँचवाँ भव

अस्सी लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य पाया था। अपने उस दीर्घ जीवन में उसने अनेकविध कर्म किये और मर कर बहुतेरे भव किये जिनकी संख्या नहीं है।

छठे भव में बलाधिक का जीव थूणा नगरी में पुष्यमित्र नामक ब्राह्मण हुआ। उसका आयुष्य सत्तर लाख पूर्व वर्ष का था। अपने उस दीर्घ जीवन का अधिकांश गृहस्थाश्रम में बिता कर वह परिव्राजक बना और आयुष्य पूर्ण करके सौधर्म देवलोक में देव हुआ।

छठा और सातवाँ भव

देवलोक से च्युत होकर बलाधिक का जीव चैत्य संनिवेश में अग्निद्योत ब्राह्मण हुआ। अग्निद्योत भी अन्त में परिव्राजक बना और चौसठ लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य समाप्त करके ईशान देवलोक में मध्यमस्थितिक देव हुआ।

आठवाँ और नवाँ भव

ईशान देवलोक से च्युत होकर बलाधिक का जीव दसवें भव में मंदिर संनिवेश में अग्निभूति ब्राह्मण हुआ। अन्त में उसने परिव्राजक मत की दीक्षा ली और छप्पन लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य समाप्त कर ग्यारहवें भव में सनत्कुमार देवलोक में मध्यमस्थितिक देव हुआ।

दसवाँ और ग्यारहवाँ भव

सनत्कुमार देवलोक से निकल कर बलाधिक का जीव श्वेतांबिका नगरी में भारद्वाज नामक ब्राह्मण हुआ और अन्त में परिव्राजक बन कर चवालीस लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर माहेन्द्र कल्प में देव हुआ। माहेन्द्र देवलोक से निकलने के बाद उसने कुछ काल तक अनियत संसार भ्रमण किया जो भव गिने नहीं गये।

बारहवाँ और तेरहवाँ भव

चौदहवें भव में बलाधिक का जीव राजगृह में स्थावर नामक ब्राह्मण हुआ। उसने अपने चौंतीस लाख पूर्व वर्ष में से अधिकांश गृहस्थाश्रम में व्यतीत किये। अन्त में परिव्राजक धर्म स्वीकार किया और आयुष्य की समाप्ति होने पर ब्रह्म देवलोक में देव हुआ।

चौदहवाँ और पन्द्रहवाँ भव

ब्रह्म देवलोक से च्युत हो कर उसने कुछ काल तक अनियत भ्रमण किया जिसकी स्थूल भवों में गणना नहीं की गई।

सोलहवें भव में बलाधिक का जीव राजगृह नगर में विश्वनन्दी

राजा के भाई विशाखभूति का पुत्र विश्वभूति राजकुमार हुआ। वह युवावस्था में नगर के बाहर पुष्पकरण्डक उद्यान में रहता और अन्तःपुर के साथ सुख-विहार में बिताता था। उसका यह सुख रानी की दासियों से सहा नहीं गया। उन्होंने रानी के सामने विश्वभूति के सुख-विहार और क्रीड़ाओं का वर्णन करते हुए कहा—राज्य के सुख-वैभव तो विश्वभूति भोग रहा है। यद्यपि कुमार विशाखनन्दी राजा के पुत्र हैं तथापि विश्वभूति के सुख वैभवों के सामने उनके सुख किसी गिनती में नहीं। कहने के लिए भले ही राज्य हमारा हो पर उसका वास्तविक फलोपभोग तो विश्वभूति के ही भाग्य में लिखा है।

सोलहवाँ और सत्रहवाँ भव

दासियों की बातों से रानी के हृदय में ईर्ष्याग्नि भड़क उठी और उसने कोपगृह का आश्रय लिया। खबर मिलने पर राजा उसके पास गया और शान्त करने की कोशिश की। रानी कड़क कर बोली—जब राजा की जीवितावस्था में ही यह दशा है तब पीछे तो हमें गिनेगा ही कौन ?

राजा के बहुत अनुनय करने पर भी जब वह शान्त न हुई तब यह बात अमात्य तक पहुँची और उसने भी बहुत कुछ कहा सुना, पर सफलता नहीं मिली। आखिर अमात्य ने राजा को सलाह दी—महाराज ! देवी के वचन का अनादर न कीजिये। स्त्रीहठ है, कहीं आत्मघात न कर बैठे।

राजा ने कहा—इसका कोई उपाय नहीं है। हमारी कुल-मर्यादा है कि जबतक प्रथम प्रविष्ट पुरुष बाहर न आ जाय, दूसरा बाग में प्रवेश नहीं कर सकता। विश्वभूति वसन्तऋतु बिताने के लिए अन्दर ठहरा हुआ है, वह बाहर नहीं निकलेगा।

अमात्य—इसका उपाय हो सकता है।

अमात्य ने अज्ञात मनुष्यों के हाथ से राजा के पास कृत्रिम लेख पहुँचाये। लेख पढ़ते ही राजा ने युद्धयात्रा उद्घोषित की। यह बात विश्वभूति के कानों तक पहुँची और वह तुरंत बाग से निकल कर

राजा के पास गया और राजा को रोक कर आप युद्धयात्रा के लिए चल दिया।

जिस प्रदेश में शत्रु के उपद्रव की वात कही गई थी, वहाँ विश्वभूति दलबल के साथ जा पहुँचा। पर वहाँ न कुछ उपद्रव देखा, न युद्ध की हलचल। विश्वभूति जैसे गया वैसे ही वापस लौट आया।

विश्वभूति के बाहर निकलते ही राजकुमार विशाखनन्दी ने पुष्पकरण्डकोद्यान में अपना स्थान जमा लिया।

विश्वभूति लौट कर घर आये और बाग में जाने लगे तब द्वारपालों ने रोक कर कहा—कुमार विशाखनन्दी अन्तःपुर के साथ उद्यान में ठहरे हुए हैं।

अब विश्वभूति को ज्ञात हुआ कि युद्ध का संरम्भ वास्तव में उसे बाग से बाहर निकालने का प्रपंच मात्र था। क्रोध में आकर विश्वभूति ने द्वार पर स्थित एक कैथ के वृक्ष पर जोर से मुष्टि-प्रहार किया जिससे गिरे हुए कैथों से जमीन ढक गई। उसने द्वारपालों से कहा—मैं इसी प्रकार तुम्हारे सिर गिरा देता यदि बड़े बाप (ताऊ) का गौरव न करता।

विश्वभूति को इस अपमान से बड़ा आघात लगा। वह विरक्त हो कर घर से निकल गया और आर्यसंभूत स्थविर के निकट जाकर साधु हो गया।

राजा, युवराज और अन्य स्वजनगण ने जाकर विश्वभूति से क्षमा प्रार्थना की और घर चलने के लिये आग्रह किया पर वे अपने निश्चय से विचलित न हुए।

विश्वभूति प्रव्रजित होकर विविध तप करने लगे। षष्ठ-अष्टम से लेकर वे मासक्षपण तक करते हुए देश विदेशों में विहार करते थे।

कालान्तर में विश्वभूति मथुरा गये और मासक्षपण की समाप्ति पर नगर में भिक्षाचर्या करने निकले। उन दिनों कुमार विशाखनन्दी भी शादी करने मथुरा आया हुआ था और अपनी बरात के साथ राजमार्ग के निकट ठहरा था। विश्वभूति उधर से होकर भिक्षाचर्या के लिए जा रहे थे। उन्हें देख कर विशाखनन्दी के मनुष्यों ने कहा—कुमार! आप इन्हें जानते हैं?

विशाखनन्दी ने कहा—नहीं।

मनुष्यों ने कहा—ये विश्वभूति कुमार हैं।

विश्वभूति को देखते ही विशाखनन्दी की आँखों में क्रोध आ गया। सरोष नेत्रों से वे देख ही रहे थे कि एक नवप्रसूता गाय ने विश्वभूति को शृंग-प्रहार से गिरा दिया। यह देख कर विशाखनन्दी और उसके साथी खिलखिला कर हँसे और बोले—कहाँ गया वह तेरा कैथ गिरानेवाला बल? मुनि ने उधर देखा तो विशाखनन्दी पर दृष्टि पड़ी। उनके मन में रोष आया और गाय के शृंगों को पकड़ कर चक्र की तरह ऊपर घुमाते हुए बोले—दुर्बल सिंह का बल भी शृगालों से नहीं लांघा जाता।

मुनि वहीं से पीछे लौट गये। वे मन में बोले—अबतक यह दुरात्मा मुझ पर रोष धारण किये हुए है? उन्होंने ने निदान किया—'यदि इस तप-संयम और ब्रह्मचर्य का कुछ भी फल हो तो भविष्य में मैं अपरिमित बलशाली होऊँ।'

विश्वभूति ने अपने निदान का कभी पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त नहीं किया। वे अपने साधु-जीवन को निभाते हुए आयुष्य पूर्ण कर महाशुक्र कल्प में देवपद को प्राप्त हुए।

अठारहवाँ और उन्नीसवाँ भव

महाशुक्र देवलोक से निकल कर बलाधिक का जीव पोतनपुर में त्रिपृष्ठ नामक वासुदेव हुआ। पोतनपुर के राजा प्रजापति, प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव के मण्डलिक थे। उनके दो पुत्र थे, एक अचल और दूसरा त्रिपृष्ठ।

एक समय पोतनपुर की राजसभा में नाच-रंग हो रहा था। राजा, दोनों राजकुमार और सभासदगण उसमें मस्त हो रहे थे। ठीक उसी समय अश्वग्रीव का दूत कार्यवश राजसभा में आया। राजा ने संभ्रमपूर्वक दूत का स्वागत किया और जलसा बंद करवा कर उसका संदेश सुनने लगे।

रंग में भंग करनेवाले दूत पर कुमार बहुत बिगड़े। उन्होंने अपने आदमियों से कहा—जब यहाँ से दूत रवाना हो, हमें सूचित करना।

है और मैं रथिक ! यह विषम युद्ध है। ढाल तलवार के साथ वह रथ से उतर गया और फिर सोचने लगा—यह दंष्ट्रा-नखायुध है और मैं ढाल-तलवारधारी ! यह भी ठीक नहीं। उसने ढाल तलवार भी छोड़ दिये। यह देखकर सिंह के क्रोध का पार न रहा। वह मुँह फाड़ कर कुमार पर झपटा। त्रिपृष्ठ ने पहले ही झपाटे में उसे दोनों जबड़ों से पकड़ा और जीर्ण वस्त्र की तरह फाड़ कर फेंक दिया। यह देख कर जनता ने जोरों का हर्षनाद किया।

त्रिपृष्ठ सिंह की खाल लेकर अपने नगर की तरफ चला। जाते समय उसने ग्रामीणों से कहा—घोटकग्रीव से कह देना कि अब वह निश्चिन्त रहे।

लोगों ने सब हकीकत अश्वग्रीव के पास पहुँचा दी। वह बहुत रुष्ट हुआ और दूत भेज कर प्रजापति को कहलाया—अब तुम वृद्ध हो गये हो अतः सेवा में कुमारों को भेज दो। तुम्हारे आने की जरूरत नहीं।

प्रजापति ने कहा—मैं खुद सेवा में आने के लिए तैयार हूँ।

अश्वग्रीव ने अतिक्रुद्ध होकर कहलाया—कुमारों को न भेजकर तूने हमारी आज्ञा का अनादर किया है अतः युद्ध के लिये तैयार हो जा।

कुमारों ने इस समय भी दूत को अपमानित कर निकाल दिया। अश्वग्रीव ने सम्पूर्ण सैन्य के साथ पोतनपुर पर चढ़ाई कर दी। त्रिपृष्ठ आदि भी अपनी सेना के साथ देश की सीमा पर जा डटे। दोनों सेनाओं में घमासान युद्ध शुरू हुआ और पहले ही दिन युद्धभूमि रक्त-रंजित हो गई। निरपराध जीवों का यह संहार त्रिपृष्ठ को अच्छा न लगा। उसने अश्वग्रीव के पास दूत भेज कर कहलाया—कल से मैं और तुम दो ही युद्ध में प्रवृत्त हों तो बहुत अच्छा। निरपराध जीवों को मरवाने से क्या लाभ है ?

अश्वग्रीव ने त्रिपृष्ठ का प्रस्ताव मंजूर किया और रथों में बैठ कर अपने अपने मोरचों से निकल कर दोनों परस्पर भिड़ गये। घंटों लड़े और खूब लड़े फिर भी मैदान दोनों का रहा। अश्वग्रीव ने देखा कि सब शस्त्र खत्म हो गये हैं फिर भी शत्रु मैदान में डटा हुआ है। उसने अपने चक्रनामक अमोघास्त्र को सँभाला और उठा कर त्रिपृष्ठ

पर जोरों से फेंका। अश्वग्रीव का विश्वास था कि इसके एक ही प्रहार से उसका काम पूरा हो जायगा। पर परिणाम विपरीत निकला। चक्र धार की तरफ से न लग कर तुम्बे की तरफ से त्रिपृष्ठ के वक्षस्थल पर गिरा। त्रिपृष्ठ ने उसे पकड़ लिया और उसी से अपने शत्रु का सिर उड़ा दिया। तत्काल आकाशवाणी हुई—'त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव प्रकट हो गया।'

सब राजाओं ने त्रिपृष्ठ की वश्यता स्वीकार की और आधे भारतवर्ष को अपने अधीन करके उसने वासुदेव का पद धारण किया।

चौरासी लाख वर्ष का आयुष्य पूरा करके त्रिपृष्ठ सातवीं नरकभूमि में तेंतीस सागरोपम की आयुष्य-स्थितिवाला नैरयिक हुआ।

बीसवाँ, इक्कीसवाँ और बाईसवाँ भव

नरक से निकलकर बलाधिक का जीव सिंह हुआ और वहाँ से मर कर फिर नरक में गया। नरक से निकलने के बाद बलाधिक का जीव कुछ समय तक संसार में भटक कर अन्त में मनुष्य[1] हुआ।

तेईसवाँ और चौबीसवाँ भव

तेईसवें भव में बलाधिक पश्चिम विदेह की राजधानी मूका नगरी में प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती राजा हुआ। उसने संसार से विरक्त होकर प्रोट्टिलाचार्य के पास प्रव्रज्या ली और चौरासी लाख पूर्व वर्ष का आयुष्य भोग कर चौबीसवें भव में वह महाशुक्रकल्प के सर्वार्थ नामक विमान में देव हुआ।

पचीसवाँ और छब्बीसवाँ भव

सर्वार्थ विमान से निकल कर पचीसवें भव में बलाधिक का जीव छत्रानगरी में जितशत्रु राजा का पुत्र नन्दन नामक राजकुमार हुआ। वह बाल्यावस्था में ही राज्यासन पर बैठा और चौबीस लाख वर्ष पर्यन्त राज्य किया। बाद में उसने प्रोट्टिलाचार्य के समीप प्रव्रज्या ली।

नन्दन मुनि ने बड़ी घोर तपस्यायें कीं। निरन्तर मास-मासक्षपण करके उन्होंने अर्हत्, सिद्ध, संघ, धर्मोपदेशक, वृद्ध, बहुश्रुत, तपस्वी,

---

1 इस मनुष्य का नाम क्या था, आयुष्य कितना था और किन शुभ कृत्यों से चक्रवर्ती पद के योग्य पुण्य उपार्जन किया था—इन बातों का खुलासा नहीं मिला

अर्हदादिवात्सल्य, अर्हदादि ज्ञानध्यान, दर्शन, विनय, नित्यनियम, शील, आत्मध्यान, दान, मुनि-सेवा, समाधि, अपूर्व ज्ञानप्राप्ति, शास्त्र-भक्ति, और प्रवचनोन्नति इन बीस पदों की भक्ति और आराधना करके उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म निकाचित किया।

अन्त में नन्दन मुनि ने दो मास का अनशन किया और समाधि-पूर्वक देह छोड़ कर प्रणतकल्प के पुष्पोत्तर विमान में देवपद प्राप्त किया।

सताईसवाँ भव

प्रणतकल्प की दिव्य समृद्धि का उपभोग करके बलाधिक का जीव सताईसवें भव में ब्राह्मण-कुण्डपुर में ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी देवानन्दा की कोख में पुत्ररूप में अवतीर्ण हुआ जहाँ बयासी दिन रहने के बाद तिरासीवें दिन मध्यरात्रि के समय वह हरिणैगमेषी देव द्वारा त्रिशला क्षत्रियाणी के उदर में रखा गया और वहीं सिद्धार्थ क्षत्रिय के घर जन्म लेकर वर्धमान—महावीर नामक तीर्थंकर हुआ।

चतुर्थ परिच्छेद

जमालिप्रवर्तित 'बहुरत' संप्रदाय

भगवान् महावीर के वचन का विरोध करनेवाले जो निह्नव हो गये हैं उनमें जमालि का नाम सर्वप्रथम है।

जमालि का भगवान् महावीर के साथ किस विषय में किस प्रकार मतभेद खड़ा हुआ इसका संक्षिप्त वर्णन चरितखण्ड में जमालि के प्रकरण में किया जा चुका है। यहाँ पर सिर्फ जमालि के मतभेद का बीज क्या है, यही बताना अभीष्ट है।

जमालि का मतभेद क्रिया विषयक नहीं, तर्क विषयक था। इस लिए तर्कवाद की पद्धति से ही इस विषय का स्पष्टीकरण करना युक्ति-संगत होगा।

महावीर निश्चयानुसार क्रियाकाल और कार्यकाल को अभिन्न मानते थे। अतएव वे कहते—'चलमाणे चलिए' 'करेमाणे कडे' अर्थात् 'चलने लगा चला, किया जाने लगा किया' इत्यादि।

अपनी बीमारी के दरमियान जमालि ने देखा कि संस्तारक किया जाने लगा है, पर वह 'किया' नहीं कहलाता, क्योंकि उस पर शयन-क्रिया नहीं हो सकती। इस स्थिति में महावीर का 'करेमाणे कडे' वाला सिद्धान्त ठीक नहीं है।

जमालि की मान्यता थी कि कोई भी कार्य किसी एक ही समय में पूरा नहीं हो सकता। कोई भी कार्य-विषयक क्रिया अनेक समय तक चल कर जब उपराम पाती है तब कहीं जाकर कार्य सिद्धि होती है। इस प्रकार एक कार्य अनेक समय की क्रिया से निष्पन्न होता है। अतः कोई भी कार्य 'क्रियाकाल' में 'किया' नहीं कहा जा सकता, किन्तु क्रिया-कलाप के अन्त में जब कार्य पूरा हो जाय तब उसे 'किया' कहना चाहिये।

जमालि ने इस 'बहु'समयात्मक आग्रहवश अपना मतभेद खड़ा किया और उसके अनुयायी 'बहुरत' कहलाये।

अब हमें देखना है कि इस विषय में वास्तविकता महावीर के कथन में है या जमालि के।

महावीर का 'करेमाणे कडे' यह सिद्धान्त 'ऋजुसूत्र' नामक निश्चय-नय पर प्रतिष्ठित है, क्योंकि ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमानग्राही होने से इसके मत में किसी भी क्रिया का काल 'समय' मात्र है।

इसके मत से कोई भी क्रिया अपने वर्तमान समय में कार्य साधक होकर दूसरे समय में नष्ट हो जाती है। इस दशा में प्रथम समय की क्रिया प्रथम समय में ही कुछ कार्य करेगी और दूसरे समय की दूसरे में। प्रथम समय की क्रिया दूसरे समय में नहीं रहती और दूसरे समय की तीसरे में। इस दशा में प्रतिसमय भावी क्रियाएँ प्रतिसमय भावी पर्यायों का ही कारण हो सकती हैं, उत्तर कालभावी कार्य का नहीं। और जब क्रियाकाल और कार्यकाल निरंश समयमात्र है तब भगवान् महावीर का 'करेमाणे कडे' सिद्धान्त ही वास्तविक सिद्ध होता है।

इस सूक्ष्म नय-तर्क को जमालि समझ नहीं सका। उसने सोचा—एक कार्योत्पत्ति के पूर्ववर्ती क्रियाकलाप में जो समय लगता है वह सब उत्तरभावी अन्तिम कार्य का ही समय है, परन्तु वह यह नहीं समझ पाया कि किसी भी कार्य की उत्पत्ति के पहले असंख्य पूर्ववर्ती कार्य हो जाते हैं। ये सब कार्य अन्तिम कार्य का निमित्त समझी जानेवाली उन क्रियाओं का फल है जो प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति के पहले नियतरूप से हुआ करती हैं। यह वस्तुस्थिति हम एक दृष्टान्त से समझायेंगे।

'घट' कार्य के लिये कुंभकार चक्रभ्रमणादि अनेक प्रवृत्तियाँ करता है, तब 'घट' रूप कार्य उत्पन्न होता है। स्थूल दृष्टि में चक्रभ्रमणादि क्रियाकलाप 'घट क्रिया' प्रतिभासित होती है और 'घट-निष्पत्ति' इसका फल। वे यह नहीं देखते कि 'घटाकार' बनने के पूर्व मृत्पिण्ड के शिवक-स्थासकादि कितने घट से विसदृश स्थूल आकार उत्पन्न होते हैं और कितने इन स्थूल आकारों के अन्तर्वर्ती प्रति समय भावी सूक्ष्म आकारों का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। क्या ये सब कार्य नहीं? यदि

कार्य हैं तो क्या ये सब क्रियाओं के बिना ही उत्पन्न होते हैं ? अवश्य ही कहना पड़ेगा कि घटोत्पत्ति-क्रिया के पूर्व जो जो क्रियाएँ की जाती हैं उनके ये कार्य हैं। इनको हम घट नहीं पर घट के पूर्ववर्ती पर्याय कहेंगे और इनकी उत्पादक क्रियाओं को भी 'घटक्रिया' न कह कर 'घटप्राक्कालीन पर्यायक्रिया' कहेंगे। जिस अन्तिम क्रिया से 'घटपर्याय' बनता है उसी को हम 'घटक्रिया' कहेंगे और वह क्रिया अवश्य ही घटोत्पत्तिकालीन होगी, क्योंकि सभी क्रियाएँ अपने अनुरूप कार्य की उत्पादिकाएँ होती हैं। घटक्रिया का अनुरूप कार्य 'घट' ही हो सकता है, उसका पूर्वपर्याय अथवा उत्तरपर्याय नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि 'घटोत्पत्तिकालीन क्रिया' ही घटक्रिया है। और इस प्रकार जब क्रिया और कार्य समकालभावी सिद्ध होते हैं तब भगवान् महावीर का ऋजुसूत्र-नयानुसारी कथन 'करेमाणे कडे' अवश्य ही वास्तविक सत्यता रखता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि घटोत्पत्ति-पूर्वकालीन क्रिया 'घटक्रिया' नहीं है तो उस समय 'घटः क्रियते' अर्थात् 'घट किया जाता है' यह व्यवहार कैसे होता है ? क्योंकि घटपूर्ववर्ती पर्याय की क्रिया वस्तुतः 'घटक्रिया' न हो तो उस क्रियाकाल में 'घट किया जाता है' यह प्रतीति न होनी चाहिये। यह ठीक है। हम भी कहते हैं कि उक्त प्रतीति न होनी चाहिये, पर होती है। इसका कारण समय की सूक्ष्मता और पर्यायों की अस्थायिता है। घट के पूर्वपर्याय इतनी शीघ्रता से बनते बिगड़ते हैं कि उनका अन्यान्य पदार्थों के रूप में अनुभव करना और भिन्न-भिन्न नामों से उल्लेख करना अशक्य ही नहीं, असंभव है। उस दीर्घकालीन क्रियाकलाप के अन्त में हम जिस स्थायी पर्याय को देखते हैं वही 'घट' है। प्रकृत क्रियाकलाप के अन्त में 'घट' अवश्यंभावी होने से ही हमारी स्थूल दृष्टि उस क्रियाकलाप को एक ही क्रिया मान लेती है और उसमें 'घटः क्रियते' का व्यवहार करती है।

इस व्यवहार का एक और भी कारण है। घट के पहले पिण्ड-स्थासक-शिवकादि जो जो पर्याय उत्पन्न होते हैं उनसे घट का अविनाभावी संबन्ध है। सदा से यह देखा गया है कि स्थासक-

शिवकादि पर्यायों के आविर्भाव-तिरोभाव के अन्त में ही 'घट पर्याय' की उत्पत्ति होती है। इसलिए स्थासकादिकाल में ही घटोत्पत्ति का आभास मिल जाने से हम 'घटः क्रियते' यह व्यवहार करते हैं। पर व्यवहार व्यवहारमात्र है, निश्चयनय इसमें विशुद्ध सत्यता का स्वीकार नहीं करता।

जमालि शुद्ध सत्यांश को स्वीकार करनेवाले इस नय सिद्धान्त को समझ नहीं सका अथवा तो यह सिद्धान्त उसके मन में उतरा ही नहीं, जिससे उसने 'करेमाणे कडे' इस सिद्धान्त को असत्य सिद्ध करने की चेष्टा की।

बहुत संभव है कि जमालि का यह 'बहुरत' संप्रदाय उसके साथ ही समाप्त हो गया होगा क्योंकि उसके जीवन के अन्तिम समय तक जमालि के सब अनुयायी उसका साथ छोड़ कर चले गये थे और अपने इस मत का माननेवाला वह अकेला ही रह गया था।

पञ्चम परिच्छेद

आजीविकमत-दिग्दर्शन

गोशालक के सम्बन्ध में अनेक जगह यह कहा गया है कि वह भगवान् महावीर से जुदा होने के बाद आजीविक मत का आचार्य बनकर अपने को जिन—तीर्थंकर कहलाने लगा था, पर यह नहीं बताया गया कि आजीविक मत का प्रवर्तक कौन था, उसका स्वरूप क्या था और इसका इतिहास क्या है ? पाठकगण की जिज्ञासापूर्ति के लिये इन सब बातों का हम यहाँ दिग्दर्शन करायेंगे।

प्रास्ताविक

'आजीविक' यह नाम 'आजीव' शब्द से तद्धित का 'इक' प्रत्यय लग कर बना है, जिसका अर्थ होता है—'आजीविका के लिये फिरने वाला'। कहीं कहीं कोशकारों ने और मध्यकालीन जैन ग्रन्थकारों ने 'आजीवक' यह आजीविक का स्थानापन्न कृदन्त शब्द भी प्रयुक्त किया है, जिसका अर्थ 'आजीविका अर्थात् जीविका चलानेवाला' होता है। पर प्राचीन जैन सूत्रों में इस मत और मतवालों के लिये सर्वत्र 'आजीविक' (आजीविय) शब्द ही प्रयुक्त हुआ है। कुछ भी हो, दोनों शब्दों का तात्पर्य एक ही है।

१. नाम-निरुक्ति

अब हम यह देखेंगे कि इस मत का यह नाम पड़ने का कारण क्या है ? क्या आजीविका का साधन मात्र होने से ही इस मत का उक्त नामकरण हुआ है, अथवा किसी अन्य कारण से ?

जहाँ तक हम जान सके हैं इस मत के अनुयायी केवल आजीविका के ही अर्थी नहीं थे। वे विविध जात के तप और ध्यान भी करते थे। जैन-आगम स्थानाङ्ग में आजीविकों के चार प्रकार के तपों का निर्देश किया गया है।

कल्प-चूर्णिकार ने जिन पाँच प्रकार के श्रमणों का नामोल्लेख किया है उनमें आजीविक भी एक है।

जैनसूत्र औपपातिक में विविध अभिग्रहधारक आजीविक श्रमणों का वर्णन मिलता है जिसमें एक प्रकार औष्ट्रिकाश्रमणों का है जो कि एक मिट्टी के बड़े वर्तन में ही बैठे हुए तप करते थे।

इन सब उल्लेखों पर ध्यान देते हुए हम यह नहीं कह सकते कि आजीविक मतानुयायी केवल उदरार्थी होते थे और जीविका का साधन होने से ही उनका मत 'आजीविक मत' कहलाता था।

सत्य बात तो यह है कि आत्मवादी, निर्वाणवादी और कष्टवादी होते हुए भी वे कट्टर नियतिवादी थे। उनके मत में पुरुषार्थ कुछ भी कार्यसाधक नहीं था और यह सब मानते हुए भी वे विविध तप और आतापनायें किया करते थे। इस 'वदतो व्याघात' जैसी अपनी प्रवृत्ति से ही वे अपने विरोधियों द्वारा इस आक्षेप के पात्र बने कि 'ये जो कुछ करते हैं, अपनी आजीविका के लिये करते हैं। अन्यथा नियतवादियों को इन प्रवृत्तियों से क्या प्रयोजन ?'

इस आक्षेप के गर्भ से ही नियतिवादियों के 'आजीविक' इस नाम का प्रादुर्भाव हुआ था, पर इसके अधिक प्रचलित और सर्वमान्य होने का एक और भी कारण था।

जैन-आगम भगवतीसूत्र के लेखानुसार इस मत का आचार्य गोशालक पूर्वगत निमित्तशास्त्र का अभ्यासी था। यही नहीं, वह सब जीवों के लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवित और मरणविषयक भविष्य बताने में सिद्धहस्त था और अपने प्रत्येक कार्य में इस ज्ञान की वह सहायता लेता था।

आजीविक श्रमणों में भी इस निमित्त-विद्या के पठन-पाठन की परम्परा चालू थी और वे भी इस विद्या के बल से अपनी सुख-सामग्री जुटाया करते थे। इस विषय का एक उदाहरण यहाँ उपस्थित करते हैं।

पञ्चकल्प-चूर्णिकार लिखते हैं कि 'आर्य कालक के दीक्षित शिष्य स्थिर नहीं रहते थे। उन्होंने सोचा कि निमित्त-शास्त्र पढ़ कर अच्छे मुहूर्त में दीक्षा दूँ ताकि दीक्षित स्थिर हों। उन्होंने आजीविकों के पास निमित्त का अध्ययन [illegible] और [illegible] के सामने उसका प्रयोग किया जो सही नि[illegible] ाख की कीमत का कड़ा और

कुण्डल जोड़ी वगैरह कालक को भेंट में दिए, पर कालक ने यह कहते हुए कि 'यह मैंने निमित्त-शास्त्र का प्रयोग मात्र बताया है' उनको लेने से इन्कार कर दिया। इसी समय वहाँ आजीविक उपस्थित होकर बोले— 'यह हमें गुरुदक्षिणा में मिलना चाहिये।'

ऊपर के उल्लेख से स्पष्ट है कि 'निमित्त-विद्या' यह आजीविकों की एक परम्परागत विद्या थी और उसके द्वारा वे अपनी आजीविका सुलभ करते थे। यही कारण है कि जैन शास्त्रकारों ने इन्हें लिंगाजीव (साधु वेष से आजीविका प्राप्त करनेवाले) कहा है।

इस प्रकार नियतिवादी बन कर भी विविध क्रियाओं के करने से और आजीविका के अर्थ निमित्त-विद्या का उपयोग करने से वे विरोधियों—खास कर जैन निर्ग्रन्थों द्वारा 'आजीविक' और इनका सम्प्रदाय 'आजीविकमत' के नाम से प्रसिद्ध किया गया।

यद्यपि नियतिवादियों के लिये 'आजीविक' यह नाम सम्भवतः उनके विरोधियों ने प्रचलित किया था तथापि इससे वे नाराज नहीं थे। अनुमान कर सकते हैं कि उन्होंने खुद इस नाम को स्वीकार कर लिया था। यही कारण है कि शिलालेखों आदि में सर्वत्र उनका इसी 'आजीविक' नाम से उल्लेख किया गया है।

अब हम यह देखेंगे कि इस आजीविक मत को किसने किस समय प्रचलित किया। डा० ए० एफ० आर० हॉर्नले का कथन है कि 'आजीविक भिक्षुसंघ का स्थापक मंखलिपुत्र गोशालक है'। इस कथन की पुष्टि वे जैन शास्त्रों का नाम लेकर करते हैं।

२ प्रवर्त्तक और प्रवर्तनसमय

हमारे विचार में 'आजीविक संघ का संस्थापक गोशालक था अथवा नियतिवाद की मान्यता गोशालक ने प्रचलित की' इस अभिप्राय का स्पष्ट कथन किसी भी जैन शास्त्र में नहीं है।

आवश्यकचूर्णि और कल्पसूत्र की टीकाओं में तीन जगह गोशालक के 'नियति' पर विश्वास करने का उल्लेख है। भगवतीसूत्र के पन्द्रहवें शतक में और उपासकदशा के सातवें अध्ययन में गोशालक के आजीविक भिक्षुसंघ का मुखिया होने की सूचनायें हैं और उसके

नियतिवादी होने का स्पष्ट कथन तो उपासकदशा के छठे और सातवें अध्ययन के अतिरिक्त अन्यत्र भी अनेक जगह है, पर इन सब उल्लेखों से भी 'गोशालक' आजीविक मत और संघ का संस्थापक था यह बात सिद्ध नहीं हो सकती। इसके विपरीत इन उल्लेखों से तो यह सिद्ध होता है कि उस समय में नियतिवाद एक चिरप्रचलित मान्यता थी जिसकी गोशालक अपने किसी भी प्रयत्न की निष्फलता में दुहाई दिया करता था; और आजीविक संघ एक संघटित संस्था थी, जिसका मुखिया बनकर गोशालक बड़ी आसानी से अपने को तीर्थंकर मनवाने में सफल हुआ था।

महावीर ने तत्कालीन अन्यतीर्थिकों को चार विभागों में बाँटा था जिसमें नियतिवादियों का नम्बर चौथा था। यदि नियतिवाद का प्रवर्तक मंखलि गोशालक ही होता तो हमारा ख्याल है कि महावीर उसे इतना महत्त्व कभी नहीं देते, क्योंकि उनकी दृष्टि में मंखलिपुत्र गोशालक और उसकी शक्ति कोई महत्त्व नहीं रखते थे। इससे ज्ञात होता है कि महावीर के समय में 'नियतिवादी' आजीविक संघ एक चिर प्रचलित सुदृढ़ संस्था थी। इसीलिये महावीर को उसके खंडन की आवश्यकता प्रतीत हुई थी।

आजीविक संघ गोशालक से भी पहले था इसकी एक सूचना बौद्ध ग्रन्थों से भी मिलती है।

बौद्धागम विनयपिटक और मज्झिमनिकाय में बुद्धको बुद्धत्व प्राप्त होने के बाद तुरन्त एक 'उपक' नामक आजीविक भिक्षु के मिलने और उनके आगे अपने आध्यात्मिक अनुभव प्रकट करने का कथन है।

यदि आजीविक संघ की स्थापना गोशालक ने की होती तो बुद्धको बुद्धत्व प्राप्त होते ही आजीविक भिक्षु का मिलना असम्भव था, क्योंकि महावीर की बत्तीस वर्ष की उम्र में जब पहले पहल गोशालक उन्हें मिला, उस समय उसकी किशोरावस्था थी। किशोरावस्था से हम १५–१६ वर्ष का अनुमान करते हैं। जिस समय कि महावीर को प्रव्रज्या लिये लगभग दो वर्ष हो चुके थे उस समय वह शिष्य होकर उनके साथ हुआ और नवें वर्ष उनसे जुदा हो श्रावस्ती में छः मास तक

आतापनापूर्वक तपस्या कर तेजोलेश्या प्राप्त की और बाद में निमित्त-शास्त्र का अध्ययन कर वह आजीविक संघ का नेता बना। निमित्ता-ध्ययन आदि के लिये यदि तीन-चार वर्ष का समय और ले लिया जाय तो गोशालक का आजीविक संघ का नेतृत्व ग्रहण करना और महावीर का तीर्थंकर पद प्राप्त करना लगभग एक ही समय में हुआ, यह कहा जा सकता है।

हमारी गणना के अनुसार महावीर ने अपनी उम्र के तेतालीसवें वर्ष में जब तीर्थंकर पद प्राप्त किया उस समय बुद्ध को पैंसठवाँ वर्ष चलता था और तबतक उनको बुद्धत्व प्राप्त हुए भी अठाईस वर्ष हो चुके थे। इस परिस्थिति में बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त होते ही गोशालक स्थापित आजीविक संघ के भिक्षु का मिलना बिलकुल असंभव है।

यदि बुद्ध और महावीर के बीच में इतना अन्तर न मानकर डा० स्मिथ आदि की मान्यता के अनुसार महावीर का निर्वाण बुद्ध के निर्वाण से एक दो वर्ष पहले मान लिया जाय तो भी महावीर के तीर्थंकर होने के पूर्व बारह वर्ष ऊपर बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त हो जाता है। उस समय गोशालक का आजीविक संघ का नेता होना तो दूर रहा, वह महावीर का शिष्य भी नहीं बन पाया था।

इस प्रकार बुद्ध को बुद्ध होने के समय गोशालक का किसी भी प्रकार आजीविक संघ का नेतृत्व प्रमाणित नहीं हो सकता और बुद्ध को उस समय आजीविक भिक्षु के मिलने की बात कहते हैं, इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि आजीविक संघ का संस्थापक मंखलि गोशालक नहीं पर उसका पूर्ववर्ती कोई अन्य पुरुष होना चाहिये।

बौद्ध सूत्र दीर्घनिकाय और मज्झिमनिकाय में मंखलि गोशालक के अतिरिक्त किससंकिच्च और नन्दवच्छ नामक दो और आजीविक नेताओं के उल्लेख मिलते हैं। हमारा अनुमान है कि ये दोनों गोशालक के पूर्ववर्ती आजीविक भिक्षु थे और उन्होंने आजीविक मत स्वीकार करने के बाद गोशालक को तेजोलेश्या लब्धिधारी और निमित्तशास्त्र-वेदी जान कर अपने संघ का नायक बनाया था। यही कारण है कि

गोशालक स्वयं संघाग्रणी होकर भी इनके साथ मित्र का सा व्यवहार करता था।

इन सब वृत्तान्तों से यह बात तो लगभग निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है कि आजीविक मत और संघ गोशालक के प्रादुर्भाव के पहले से चला आता था।

आजीविक मत की स्थापना किसने की, इस विषय में यद्यपि कोई स्पष्ट उल्लेख या प्रमाण नहीं है तथापि भगवतीसूत्र में वर्णित गोशालक के शरीरान्तर प्रवेश के सिद्धान्त के ऊपर से हम कुछ अनुमान कर सकते हैं।

महावीर के सामने अपने मत के अन्यान्य सिद्धान्तों का वर्णन करने के बाद गोशालक कहता है—"दिव्यसंयूथ और संनिगर्भ के भव-क्रम से मैं सातवें भव में उदायी कुण्डियायन हुआ। बाल्यावस्था में ही प्रव्रज्या लेकर मैंने धर्माराधन किया और अन्त में उस शरीर को छोड़-कर क्रम से एणेयक, मल्लराम, माल्यमण्डित, रोह, भारद्वाज और गौतमपुत्र अर्जुन इन छः मनुष्यों के शरीरों में प्रवेश किया और क्रमशः २२, २१, २०, १९, १८, १७ वर्ष तक उनमें रहा। अन्त में मैंने गौतमपुत्र अर्जुन का शरीर छोड़ कर गोशालक मंखलिपुत्र के शरीर में यह सातवाँ शरीरान्तर प्रवेश किया और इसमें कुल १६ वर्ष रहने के उपरान्त मैं निर्वाण प्राप्त करूँगा।"

डा० हॉर्नले कहते हैं—गोशालक ने यह कल्पना अपनी जाति को छिपाने के लिये की थी, पर हमारी समझ में गोशालक इतना मूर्ख नहीं था कि अपने अपलाप के लिये वह ऐसी असम्भावित कल्पना करने का साहस करता अथवा ऐसा करने पर भी उसके अनुयायी उसे सत्य मान लेते। हम तो समझते हैं कि आजीविक मतवालों की मान्यता ही कुछ ऐसी होगी कि उदायी कुण्डियायन के पद पर आनेवाला पुरुष शरीरान्तर प्रविष्ट स्वयं उदायी कुण्डियायन ही होता है। इस मान्यतानुसार गोशालक मंखलिपुत्र भी उदायी कुण्डियायन का सातवाँ पदाचार्य होने से सप्तम शरीर-प्रविष्ट उदायी कुंडियायन मान लिया गया होगा और इसी बुत्ते पर उसने अपने लिये महावीर

का शिष्य गोशालक नहीं, पर उदायी कुंडियायन होने की बात कही होगी।

यदि हमारी उक्त कल्पना में कुछ यौक्तिकता मानी जा सकती है तो यह मानना अनुचित नहीं है कि आजीविक संघ का आदि प्रवर्तक उदायी कुंडियायन नाम का पुरुष था और गोशालक के स्वर्गवास समय तक उसको स्वर्गवासी हुए एक सौ तेंतीस वर्ष हो चुके थे। तब-तक उसके पद पर ऐणेयक, मल्लराम, माल्यमंडित, रोह, भारद्वाज, गौतमपुत्र अर्जुन और गोशालक मंखलिपुत्र—ये सात पदधर हो चुके थे जिन्होंने क्रमशः २२, २१, २०, १९, १८, १७ और १६ वर्ष तक आचार्य-पद भोगा था।

३. धार्मिक आचार

आजीविकों के धार्मिक आचार कैसे थे, यह जानना सहज नहीं। इस समय उनका खुद का कोई ग्रन्थ या आचार-पद्धति विद्यमान नहीं है और जैन तथा बौद्ध सूत्रों में इनके आचारविषयक जो वर्णन मिलते हैं वे अतिसंक्षिप्त और अव्यवस्थित हैं। इस दशा में आजीविक मत के आचारमार्ग का निरूपण करना कोरी अटकलबाजी ही होगी। फिर भी जैन और बौद्ध साहित्य में इस मत के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा गया है, उसीके आधार पर हम इनकी आचारपद्धति का निरूपण करेंगे।

जैन सूत्र स्थानाङ्ग में लिखा है—"आजीविकों के चार प्रकार के तप हैं—उग्र तप, घोर तप, रसनिर्यूहना तप और जितेंद्रिय-प्रतिलीनता तप।" इन तपों का यथार्थ स्वरूप क्या था, यह कहना कठिन है। पर इनके नामों से इतना तो अवश्य ज्ञात होता है कि ये बड़े ही दुष्कर तप होंगे। इन्हीं तपों के अनुकूल जीवन व्यतीत करते हुए आजीविक भिक्षुओं का वर्णन जैन औपपातिकसूत्र में मिलता है, जो इस प्रकार है—

'ग्राम, नगर, पुर, संनिवेशों में जो आजीविक होते हैं वे इस प्रकार के होते हैं—द्विगृहान्तरित, त्रिगृहान्तरित, सप्तगृहान्तरित (क्रमसे दो, तीन और सात घरों में भिक्षार्थ जानेवाले और न मिलने पर उपवास करनेवाले), उत्पलवृन्तिक (कमलों के थोटों का भोजन करनेवाले), गृहसामुदानिक (घरों के क्रम से भिक्षा लेनेवाले), विद्युदन्तरित

(बीच में बिजली के चमकने पर भिक्षावृत्ति से निवृत्त होनेवाले) और उष्ट्रिका श्रमण (मिट्टी के बड़े बर्तन के भीतर बैठे रहनेवाले)।

'इस प्रकार की वृत्तिवाले आजीविक बहुत वर्षों तक श्रामण्य पाल कर अन्त में आयुष्य पूर्ण कर अच्युत-कल्प तक देवपद प्राप्त कर सकते हैं, फिर भी वे आराधक नहीं होते।'

ऊपर मुजब कष्टकारी व्रत रखते हुए भी आजीविक हरी वनस्पति, कच्चा अन्न और फल आदि का आहार कर लेते थे। इसी कारण महावीर ने एक बार इनके शास्त्र पर हमला करते हुए कहा था—"आजीविक-समय का तो अर्थ ही यह है कि सचित्त पदार्थों का भोजन करना—सब प्राणियों की हिंसा, छेदन भेदन और विनाश कर आहार करना।"

आजीविक भिक्षुओं का वेष केवल नग्नता के रूप में था। जिस समय गोशालक नालन्दा की तन्तुवायशाला में चातुर्मास्य रहा था, उस समय उसके पास वस्त्र थे पर चातुर्मास्य के बाद जब महावीर वहाँ से कोल्लाग संनिवेश की तरफ विहार कर गये तब वह भी नग्न हो उनकी खोज में निकल पड़ा और कोल्लाग में उनका शिष्य होकर महावीर के साथ विचरने लगा था।

बौद्ध शास्त्रों में भी आजीविक भिक्षुओं को नग्न ही बताया है और इसी कारण उनके लिये वहाँ सर्वत्र 'अचेलक' शब्द का प्रयोग किया है।

डा० हार्नले की कल्पना है कि गोशालक का अनुकरण करके महावीर ने भी इस नाग्न्य आचार को स्वीकृत किया होगा। हम डाक्टर महाशय की इस कल्पना का समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि महावीर के पास लगभग तेरह महीना ही वस्त्र रहा था। जिस समय वे दूसरा वर्षा चातुर्मास्य नालन्दा में ठहरे थे, उनके पास वस्त्र नहीं था, परन्तु गोशालक तबतक वस्त्रधारी था जो चातुर्मास्य के बाद महावीर का शिष्य होने के समय अचेलक बना था। इस दशा में महावीर ने नहीं किन्तु गोशालक ने ही महावीर का अनुकरण करके अपने वस्त्रों का त्याग किया था, यह निश्चित है।

आजीविकों के आचार का कुछ वर्णन बौद्ध मज्झिमनिकाय में

उपलब्ध होता है। वहाँ छत्तीसवें प्रकरण में निर्ग्रन्थसंघ के साधु सच्चक के मुख से बुद्ध के समक्ष गोशालक मंखलिपुत्र तथा उसके मित्र नन्दवच्छ और किस्स-संकिच्च के अनुयायियों द्वारा पाले जानेवाले आचारों का वर्णन कराया है।

आजीविकों के सम्बन्ध में सच्चक कहता है—"वे सब वस्त्रों का परित्याग करते हैं। सब शिष्टाचारों को दूर रखकर चलते हैं। अपने हाथों में भोजन करते हैं। भिक्षा के लिए आने अथवा राह देखने संबंधी किसी की बात नहीं सुनते। अपने लिये आहार नहीं बनवाने देते। जिस बर्तन में आहार पकाया गया हो उसमें से उसे ग्रहण नहीं करते। देहली के बीच रखा हुआ, ओखली में कूटा जाता और चूल्हे पर पकता हुआ आहार ग्रहण नहीं करते। एक साथ भोजन करते हुए युगल से तथा सगर्भा, दूधमुँहे बच्चेवाली और पुरुष के साथ संभोग करती हुई स्त्री से आहार नहीं लेते। जहाँ आहार कम हो, जहाँ कुत्ता खड़ा हो और जहाँ मक्खियाँ भिनभिनाती हों वहाँ से आहार नहीं लेते। मत्स्य, माँस, मदिरा, मैरेय और खट्टी कांजी को वे स्वीकार नहीं करते। उनमें से कुछ केवल एक घर भिक्षा माँगते हैं और एक मुट्ठी अन्न को ग्रहण करते हैं। अन्य सात घरों में भिक्षा माँगते हैं और सात मुट्ठी अन्न का स्वीकार करते हैं। कोई एक, कोई दो और कोई सात अन्नोपहार से निर्वाह करते हैं। कोई दिन में एक बार, कोई दो-दो दिन बाद एक बार, कोई सात-सात दिन बाद एक बार और कोई पन्द्रह-पन्द्रह दिन बाद एक बार आहार करते हैं। इस प्रकार वे नाना प्रकार के उपवास करते हैं।'

इसी प्रकार का आजीविकों का आचार-वर्णन दीर्घनिकाय में भी किया गया है, पर वहाँ पर यह वर्णन कश्यप के मुख से कराया गया है।

उत्तराध्ययनसूत्र के उपोद्घात में प्रो० जाकोबी ने आजीविक और निर्ग्रन्थों के आचारों की एकता बताई है, पर वास्तव में इन दोनों सम्प्रदायवालों के आचारों में बहुत बड़ा अन्तर था। यद्यपि मज्झिमनिकाय में आजीविकों के कठिनतम तप और भिक्षा के नियमों का वर्णन है

तथापि सब आजीविक भिक्षुओं द्वारा सदाकाल ये ही नियम पालन किये जाते थे, यह मान लेना भूल होगी। संभव है, आजीविक भिक्षुओं में से अमुक भाग अवस्था विशेष में अमुक समय तक के लिये इन कड़े नियमों का अनुसरण करता हो, पर इतने ही सादृश्य से इनका आचार निर्ग्रन्थों के आचार के तुल्य मान लेना ठीक नहीं।

निर्ग्रन्थों और आजीविकों में मुख्य आचार-भेद सचित्त-अचित्त संबंधी था। निर्ग्रन्थ कुछ भी सचित्त वस्तु का ग्रहण और भक्षण तो क्या स्पर्श तक नहीं करते थे, पर आजीविकों के लिये यह बात नहीं थी। वे सचित्त (हरी, अखंडित वनस्पति, वनस्पति के बीज अर्थात् अनाज वगैरह) और आकरोत्पन्न शीतल जल का स्वीकार और सेवन कर लेते थे।

इसके सिवाय दूसरी भी अनेक शिथिलतायें आजीविकों के आचार में थीं। बौद्ध विनयपिटक में अमुक आजीविकों के छाता ओढ़ कर चलने का उल्लेख मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि आजीविक भिक्षुओं में जिस प्रकार उग्र तपस्यायें प्रचलित थीं उसी प्रकार हद दर्जे की शिथिलता भी। निर्ग्रन्थों की स्थिति इससे भिन्न थी। उनमें हद दर्जे की कष्टकर प्रतिज्ञायें थीं, पर शैथिल्य का प्रवेश तक नहीं था। उनमें जिनकल्पिक, स्थविर कल्पिक आदि निर्ग्रन्थों के भिन्न-भिन्न दर्जे नियत थे और सब नियमित मर्यादाओं में चलते थे।

आजीविक भिक्षुओं के तो क्या, आजीविकोपासक गृहस्थों के आचार भी बहुत मामूली ढंग के होते थे। वृत्तिवान् जैन श्रमणोपासक जितने नियम उपनियमों से अपने को प्रतिज्ञाबद्ध करते थे उतने आजीविकोपासक नहीं। उनमें जो जो धार्मिक वृत्तिवाले होते, वे निम्नलिखित व्रत स्वीकार करते थे—

१. मातापिता की सेवा।

२. पंचफल प्रत्याख्यान अर्थात् गूलर, बड़, बेर, सतर और पीपल के फलों का त्याग।

३. प्याज, लहसुन और कंद-मूल का त्याग।

४. अलाञ्छित और बिना नाथे हुए बैलों से जीविका चलाना।

५' त्रस (चलते फिरते) जीवों को बचाकर जीवन निर्वाह करना।

भगवतीसूत्र के आठवें शतक के पाँचवें उद्देशक में भगवान् महावीर कहते हैं कि ये बारह आजीविकोपासक हैं—ताल, तालपलंब, उव्विह, संविह, अवविह, उदय, नामुदय, णमुदय, अणुवालय, संखवालय, अयंपुल, और कायरय। ये अरिहंत को देवता माननेवाले, मातापिता की सेवा करनेवाले, गूलर, वड़, वेर, सतर और प्लक्ष (पीपल) इन पाँच फलों के त्यागी, प्याज लहसुन और कंद मूल को नहीं खानेवाले, अनिर्लाञ्छित और अनाथित बैलों से और त्रस प्राणों को बचाकर आजीविका चलाते हैं। जब आजीविकोपासक भी इस प्रकार निरवद्य जीवन गुजारते हैं तो श्रमणोपासकों का तो कहना ही क्या? उन्हें तो इन पन्द्रह ही कर्मादानों को न स्वयं करना चाहिये, न कराना चाहिये, न करते हुए का अनुमोदन करना चाहिये।

इसी सूत्र में अन्यत्र श्रमणोपासकों के व्रत विषयक विविध विकल्पों का वर्णन करके भगवान् महावीर कहते हैं कि इस प्रकार विविध विकल्पों से व्रत पालनेवाले श्रमणोपासक होते हैं, आजीविकोपासक ऐसे नहीं होते।

जैन श्रमणोपासकों के सामायिक और पौषध व्रत का आजीविक किस प्रकार मखौल उड़ाते थे इसका पता भगवतीसूत्र के आठवें शतक के पाँचवें उद्देशक में वर्णित आजीविकों के प्रश्नों से लगेगा।

एक समय भगवान् महावीर राजगृह के गुणशील चैत्य में पधारे हुए थे। तब इन्द्रभूति गौतम ने आकर उनसे कहा—'भगवन्! आजीविक लोग निर्ग्रन्थ स्थविरों से पूछते हैं कि सामायिकव्रत में स्थित श्रमणोपासक की किसी चीज की चोरी हो जाय तो व्रत पूर्ण होने के बाद वह उसकी तलाश करे या नहीं? यदि करे, तो वह अपनी चीज को तलाश करता है यह कहा जायगा या दूसरे की चीज की? और सामायिकस्थित श्रमणोपासक की भार्या से कोई पुरुष गमन करे तो वहाँ क्या कहना चाहिये, श्रमणोपासक की भार्या से गमन या और कुछ?' इत्यादि।

ऊपर के दोनों प्रश्न आजीविकों के थे जिनका गौतम ने भगवान् महावीर से पूछकर खुलासा किया था।

उपर्युक्त उल्लेखों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि निर्ग्रन्थों और आजीविकों के आचार भिन्न-भिन्न थे। यही नहीं, कभी कभी वे एक दूसरे के साम्प्रदायिक आचारों पर कटाक्ष तक किया करते थे।

४. धार्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्त

आजीविक मत के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय में भी थोड़ी बहुत जानकारी जैन और बौद्ध सूत्रों से ही मिलती है। गोशालक ने अपने मुख से स्वमत के जो धार्मिक सिद्धान्त भगवान् महावीर के सामने प्रकट किये थे, उनका सविस्तर वर्णन भगवतीसूत्र के पंद्रहवें शतक में है, जो 'गोशालक' वाले प्रकरण में दिया गया है।

इसके अतिरिक्त आजीविकों के नियतिवाद का भी अनेक स्थलों में उल्लेख आता है।

उपासकदशांग के छठे अध्ययन में एक देव और श्रमणोपासक कुण्डकौलिक के संवाद में नियतिवाद की चर्चा है। पौषध व्रत में बैठे हुए श्रमणोपासक कुंडकौलिक की नाम-मुद्रिका और उत्तरीयवस्त्र उठा कर आकाशस्थित देव कहता है—'हे कुण्डकौलिक श्रमणोपासक! गोशालक मंखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति बड़ी सुन्दर है। उसमें न उत्थान है, न कर्म है, न बल है, न वीर्य है और न पुरुषपराक्रम क्योंकि उसके मत में सर्वभाव नियत हैं। श्रमण भगवान् महावीर की धर्मप्रज्ञप्ति अच्छी नहीं। उसमें उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुष-पराक्रम कारण माने गये हैं, क्योंकि उनके मत में सर्वभाव अनियत हैं।

इसी सूत्र के सातवें अध्ययन में आजीविकोपासक सद्दालपुत्र और महावीर का वार्तालाप है। अपने मिट्टी के बर्तन इधर उधर करते हुए सद्दालपुत्र से भगवान् महावीर पूछते हैं—'सद्दालपुत्र! यह बर्तन कैसे बना? पुरुषपराक्रम से या उसके बगैर?' उत्तर में सद्दालपुत्र कहता है— 'ये मृत्तिकाभाण्ड नियतिबल से बनते हैं, पुरुषपराक्रम से नहीं। सभी पदार्थ नियतिवश होते हैं। जिसका जैसा होना नियत

---

१ देखिए पृष्ठ १२७-१३४।

होता है वह वैसे ही होता है। उसमें पुरुषपराक्रम कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता, क्योंकि सर्वभाव नियत होते हैं।'

बौद्ध दीर्घनिकाय में गोशालक के सिद्धान्तों का सारांश इस प्रकार है:—

'प्राणियों की भ्रष्टता के लिये निकट का अथवा दूर का कोई कारण नहीं है। वे बगैर निमित्त अथवा कारण के भ्रष्ट होते हैं। प्राणियों की पवित्रता के लिये निकट या दूर का कोई कारण नहीं है। वे बगैर निमित्त या कारण के ही पवित्र होते हैं। कोई भी अपने खुद के अथवा दूसरों के प्रयत्नों पर आधार नहीं रखता। संक्षेप में सारांश यही है कि कुछ भी पुरुष-प्रयास पर अवलंबित नहीं है, क्योंकि शक्ति, पौरुष अथवा मनुष्यबल जैसी कोई चीज ही नहीं है। प्रत्येक सविचार (उच्चतर प्राणी), प्रत्येक सेन्द्रियवस्तु (अधमतर कोटि के प्राणी), प्रत्येक प्रजनित वस्तु (प्राणीमात्र) और प्रत्येक सजीव वस्तु (सर्व वनस्पति) बलहीन, प्रभावहीन और शक्तिहीन है। इनकी भिन्न-भिन्न अवस्थायें विधिवश या स्वभाववश होती हैं और षड् वर्गोंमें से एक अथवा दूसरे की स्थिति के अनुसार मनुष्य सुख-दुःख के भोक्ता बनते हैं।'

आजीविक कैसे कट्टर नियतिवादी होते थे, इस बात को प्रमाणित करने के लिये ऊपर के जैन और बौद्ध वर्णन ही पर्याप्त हैं, तथापि हम उनकी एक और योजना यहाँ उद्धृत करेंगे जिससे यह जाना जा सकेगा कि वे कैसे नियतिवादी धार्मिक सिद्धान्तोंपर विश्वास रखनेवाले होते थे। बौद्ध दीर्घनिकाय में आजीविकों के सिद्धान्तों में लिखा है—

चौदह लाख मुख्य प्रकार के जन्म हैं। फिर वे छः हजार (अथवा दुल्य मुजब साठ हजार) और छः सौ दूसरे हैं। कर्म के पाँच सौ प्रकार हैं, (पंचेन्द्रिय के अनुसार) फिर पाँच भी हैं और (मन, वचन, काया मुजब) तीन भी हैं, और पूरा कर्म और आधा कर्म, इस प्रकार दो भी है (पूरा अर्थात् मन वचन काया से किया हुआ कर्म और आधा अर्थात् केवल मन से किया हुआ कर्म)। आचरण के बासठ प्रकार हैं। आन्तरकल्प बासठ होते हैं। मनुष्यों में छः वर्ग (अभिजाति) हैं। मानव जीवन की आठ

अवस्थायें हैं। चार हज़ार नौ सौ प्रकार के आजीव हैं। चार हज़ार नौ सौ प्रकार के परिव्राजक हैं। नागलोग में आवाद उनचास प्रदेश हैं। दो हज़ार शक्तियाँ हैं। तीस हज़ार पापमोचन स्थान हैं। छत्तीस धूलराजियाँ हैं। संज्ञी आत्माओं में से सात उत्पत्तियाँ हैं, असंज्ञी प्राणियों में से सात उत्पत्तियाँ हैं और (ईख) की दो गाँठों के बीच में से सात उत्पत्तियाँ हैं। सात प्रकार देवों के हैं। सात मनुष्यों के हैं। सात पिशाचों के हैं। सात सरोवरों के हैं। सात बड़े और सात सौ छोटे जलप्रपात हैं। सात आवश्यक और सात अनावश्यक स्वप्न हैं। चौरासी लाख महाकल्प हैं जहाँ बाल और पण्डित दोनों समान रीति से संसार में भटक-भटक कर अन्त में अपने दुःखों का अन्त करेंगे। यद्यपि बाल अमुक शील, व्रत, तप और ब्रह्मचर्य द्वारा अपरिपक्व कर्मों को परिपक्व करने की आशा करेंगे और पण्डित इन्हीं साधनों द्वारा परिपक्व हुए कर्मों से छूटने की आशा करेंगे, परन्तु दो में से एक भी कृतकार्य नहीं हो सकेंगे। मानो नाप नाप कर दिये हों, ऐसे सुख-दुःखों को संसार में कोई नहीं बदल सकता। इनमें न वृद्धि हो सकती है, न हानि। जैसे रस्सी के बंडल को उकेरने पर उसकी लंबाई तक ही उकेरा जायगा ज्यादा नहीं, वैसे ही बाल और पंडित दोनों समान रीति से नियत समय तक संसार भ्रमण करेंगे और उसके बाद ही उनके दुःखों का अन्त होगा।'

अन्तिम नियतिवाद के उपदेश को छोड़ कर यही योजना मज्झिमनिकाय और संयुक्तनिकाय में भिक्खु पकुधकच्चायन की और तिब्बती दुल्व में अजितकेशकंबल की होने का उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि केवल आजीविकों के ही नहीं दूसरे भी तत्कालीन-दार्शनिकों के सैद्धान्तिक विचार इसी प्रकार के होंगे।

इस योजना में उल्लिखित मनुष्यों की षड् अभिजातियों का स्वरूप निर्ग्रन्थ प्रवचन में दिये हुए छः लेश्याओं के स्वरूप से मिलता जुलता है और पाँच इन्द्रियों के द्वारा किया गया प्राणियों का पाँच में विभाग भी जैन प्रवचन की शैली से मिलता है। इसके अतिरिक्त 'सब्वे जीवा सब्वे सत्ता' इत्यादि शब्द रचना भी निर्ग्रन्थ प्रवचन से अक्षरशः मिलती है।

आजीविक आत्मवादी, पुनर्जन्मवादी और निर्वाणवादी होते थे, यह तो इनके सिद्धान्तों से ही निश्चित है; पर उनके मत में आत्मा का स्वरूप क्या था, यह जानना कठिन है।

बौद्ध मज्झिमनिकाय में लिखा है कि बुद्ध के विरुद्ध छहों भिक्षु-नेता समान रीति से यह प्रतिपादन करते थे कि 'प्रबुद्ध आत्मा' निर्वाण के बाद अपना अस्तित्व जारी रखती है, तथापि इस अस्तित्व के खास प्रकार पर इनमें मतभेद था। गोशालक का मत था कि आत्मा 'रूपी' है और महावीर की मान्यता थी कि यह 'अरूपी' है।

जैनसूत्र सूत्रकृताङ्ग में तीन सौ त्रेसठ प्रवादियों के क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी—ये चार विभाग किये हैं। इनमें से दूसरे अक्रियावादियों के मूल आठ भेद स्थानाङ्गसूत्र में माने हैं जिनमें सातवां भेद नियतिवादियों का है।

जैन नन्दीसूत्र में दृष्टिवादांग के वर्णन में ग्यारह परिकर्मों का निरूपण करके लिखा है कि चार परिकर्म चतुष्कनय संबंधी हैं और सात त्रिराशिक संबंधी। सूत्रगत के निरूपण में बाईस सूत्रों के नाम निर्देश करके लिखा है कि ये बाईस सूत्र छिन्नच्छेदनयिक हैं, जो जैन दर्शन के क्रम का अनुसरण करते हैं। ये ही बाईस सूत्र अच्छिन्नच्छेदनयिक हैं जो आजीविक सूत्र की परिपाटी का अनुसरण करते हैं। ये ही बाईस सूत्र त्रिकनयिक हैं जो त्रैराशिक सूत्र की परिपाटी का अनुसरण करते हैं और ये ही बाईस सूत्र चतुष्कनयिक हैं जो जैन-प्रवचन का अनुगमन करते हैं। इस प्रकार सब मिलकर अठासी सूत्र होते हैं।

उपर्युक्त वर्णन में त्रैराशिक और आजीविकों का उल्लेख है और वह भी यों ही नहीं पर उनके मतानुसारी बाईस बाईस सूत्रों की सूचना के साथ। टीकाकारों के कथनानुसार ये त्रैराशिक भी गोशालक के ही शिष्य थे और सत् असत् सदसत्, नित्य अनित्य नित्यानित्य इत्यादि सर्वत्र तीन राशियों की मान्यता के कारण ये त्रैराशिक कहलाते थे।

सूत्रकृताङ्ग की टीका में आचार्य शीलांकसूरि ने भी त्रैराशिकों को गोशालक के शिष्य लिखा है। परन्तु त्रैराशिक गोशालक के शिष्य थे, इस कथन में प्रमाण क्या है सो हम नहीं कह सकते। इसके विपरीत

त्रैराशिक जैन संघ में से निकले थे ऐसा प्रमाण जैनागम कल्पसूत्र में मिलता है। आर्यमहागिरि के प्रशिष्य रोहगुप्त के वर्णन में सूत्रकार लिखते हैं—"एत्थ तेरासिया निग्गया" अर्थात् यहाँ से त्रैराशिक निकले।

आर्यमहागिरि आर्यस्थूलभद्र के बड़े शिष्य थे और जिनकल्पिकों का अनुकरण करते हुए वे अचेलक होकर विचरते थे। उनका अनुसरण करनेवाले उनके कतिपय शिष्य भी वैसा ही करते थे। आश्चर्य नहीं, त्रैराशिक मत का प्रवर्तक रोहगुप्त भी उसी कोटि का हो और उसे आजीविकों की तरह नग्न रहते देख उसके विरोधियों ने 'गोशालक शिष्य' इस नाम से प्रसिद्ध कर दिया हो। अथवा यह भी हो सकता है कि श्रमणसंघ से वहिष्कृत होने के वाद रोहगुप्त स्वयं ही आजीविकों के संघ में मिल गया हो। कुछ भी हो, जहाँ तक हमारा ख्याल है, त्रैराशिकों की उत्पत्ति जैनसंघ से मानना अधिक युक्तिसंगत है।

उक्त नन्दीसूत्र के वर्णन में वाईस 'अछिन्नच्छेदनयिक' सूत्र आजीविकों की सूत्र-परिपाटी का अनुसरण करनेवाले कहे हैं। यद्यपि 'अछिन्नच्छेदनय' का अर्थ टीकाकारों ने स्पष्ट नहीं लिखा, परन्तु जहाँ तक हम समझते हैं इसका तात्पर्य अशुद्ध नैगम, संग्रह और व्यवहार नय से है। यदि हमारी यह कल्पना ठीक मानी जाय तो यह अनुमान कर लेना अनुचित नहीं होगा कि आजीविक द्रव्यार्थिक नयों को माननेवाले थे। उनकी कतिपय दूसरी बातों से भी इस अनुमान का समर्थन होता है।

इसके विपरीत श्रमण भगवान् महावीर पर्यायार्थिक नयों के अधिक आग्रही थे, यह बात जमालि के विरोध के कारण को विचारने से स्वयं समझ में आ सकती है। महावीर के 'करेमाणे कडे' के विरुद्ध जमालि ने 'कडे कडे' यह प्ररूपणा की थी। वस्तुतः दोनों कथनों में भिन्न-भिन्न नयों की अपेक्षा थी। महावीर की दृष्टि 'ऋजुसूत्र' नामक पर्यायार्थिक नय पर थी और जमालि की 'व्यवहार' नामक द्रव्यार्थिक नय पर।

महावीर ने जमालि को एक मात्र इसी दृष्टि-भेद के कारण निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रत्यनीक मान कर संघ से वहिष्कृत कर दिया था। इससे

यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है कि महावीर को पदार्थ प्ररूपण में अशुद्ध नयों का आसरा लेना पसंद नहीं था अर्थात् प्रमेय का जिज्ञासित स्वरूप जुदाकर न समझानेवाले नयों से पदार्थ निरूपण करना महावीर पसंद नहीं करते थे। इससे सिद्ध है कि उनका झुकाव ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत इन चार नयों की तरफ अधिक था। यही कारण है कि नन्दीसूत्रकार ने छिन्नच्छेदनयिक सूत्रों को स्वसमयपरिपाट्यनुसारी कहा है और अच्छिन्नच्छेदनयिक सूत्रों को आजीविकसूत्र परिपाट्यनुसारी।

सूत्रकृताङ्ग की टोका में त्रैराशिकों की मान्यताओं के वर्णन में लिखा है कि 'वे आत्मा की तोन अवस्था मानते हैं—समळा, शुद्धा और अकर्मा।'

जिस तरह मलिन जल उबालने से शुद्ध होता है और उसमें के रजकण नीचे बैठ जाने पर वह बिलकुल निर्मल हो जाता है, इसी तरह कर्ममळ से लिप्त आत्मा तप-संयम से शुद्ध होती है और सर्वकर्मांशों से मुक्त होने पर अकर्मा। पर जैसे निर्मल हुआ जल भी वायु आदि से रजकण गिरने से पुनः समल हो जाता है, उसी प्रकार अकर्मक आत्मा भी अपने तीर्थ की उन्नति अवनति को देख रागद्वेषवश हो फिर समल हो जाती है और अपने तीर्थ की उन्नति करती है।

उपर्युक्त सिद्धान्त गोशालक-शिष्य त्रैराशिकों का होना लिखा है, पर एक तो त्रैराशिक गोशालक के ही शिष्य थे इस बात का कुछ प्रमाण नहीं है। दूसरा उन्हें गोशालक के मतानुयायी मान लेने पर भी इससे यह सिद्ध होना कठिन है कि गोशालक की भी यही मान्यता थी क्योंकि गोशालक के स्वर्गवास के बहुत पीछे त्रैराशिक संप्रदाय निकला था।

पूर्वोक्त नन्दीसूत्र के उल्लेखानुसार पूर्वश्रुत में आजीविक और त्रैराशिक मतानुसारी सूत्रपरिपाटी का वर्णन होने से डा० हॉर्नले का

आजीविक और दिगम्बर

कथन है कि जिन आजीविक और त्रैराशिकों का नन्दी में उल्लेख है वे गोशालक से बदल कर महावीर के पास गये हुए आजीविक थे। ये दोनों सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ

सम्प्रदाय से पृथक् नहीं थे। उनका यह भी कथन है कि वर्तमान दिगम्बर जैन संघ उन्हीं आजीविक और त्रैराशिकों का उत्तराधिकारी है। इसके प्रतिपादन में वे कहते हैं:—

(१) महावीर के साथ गोशालक का झगड़ा हुआ उस समय जो आजीविक भिक्षु महावीर से जा मिले थे उन्होंने अपना नाग्न्याचार कायम रक्खा था।

(२) आजीविक और त्रैराशिकों के मत का पूर्वश्रुत में वर्णन होने से ये निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय के वर्तुल के बाहर के नहीं हो सकते।

(३) आजीविक नग्न होते थे और दिगम्बर भी नग्न होते हैं।

(४) आजीविक एक दण्ड रखते थे और दिगम्बर भी रखते हैं।

(५) तामिल भाषा में आजीविक शब्द का अर्थ दिगम्बर होता है।

(६) शीलाङ्काचार्य के लेख से आजीविक और दिगम्बर एक साबित होते हैं।

(७) दसवीं सदी के कोषकार हलायुध ने दिगम्बरों को आजीविक लिखा है।

(१) डा० महोदय के 'महावीर से जा मिलनेवाले आजीविक भिक्षु निर्ग्रन्थ संघ में मिलने के बाद भी नग्न ही रहे थे' इस कथन में कुछ भी प्रमाण नहीं है।

(२) पूर्वश्रुत में उल्लेख होने से ही आजीविक और त्रैराशिकों को निर्ग्रन्थ संघ के वर्तुल के भीतर मान लेना भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि पूर्वश्रुत दृष्टिवाद का एक भाग होने से उसमें अन्य दार्शनिकों के मत का उल्लेख होना कोई नयी बात नहीं है। दृष्टिवाद में प्रत्येक दर्शन की आलोचना प्रत्यालोचना होना स्वाभाविक है। आजीविक और त्रैराशिकों के सिद्धान्त अधिकांश में जैन सिद्धान्तों से मिलते जुलते थे इस वास्ते सूत्र विभाग में इनके मतानुसारी सूत्रों का होना कुछ अस्वाभाविक या आश्चर्यजनक नहीं है और इस कारण से ही इनको निर्ग्रन्थ संघ में मान लेना ठीक नहीं।

(३) आजीविक और दिगम्बर दोनों नग्न होने से भी एक नहीं

हो सकते। आजीविकों की ही तरह पूरणकश्यप और उसके अनुयायी भी नग्न रहते थे, तो क्या नग्नता के नाते इनको भी उन दोनों से अभिन्न मान लिया जायगा? कभी नहीं। वर्तमान समय में निरंजनी आदि अनेक वैष्णव साधुओं की जमातें नग्न रहती हैं फिर भी यह कभी नहीं कह सकते कि दिगम्बर जैन साधु इनसे अभिन्न हैं।

(४) दिगम्बर जैनों के एक दण्ड रखने के विधान की बात भी हम सत्य नहीं मान सकते। जहाँ तक हमें ज्ञात है दिगम्बर जैन साधु किसी भी तरह का दण्ड नहीं रखते और न ऐसा करने का उनके शास्त्रों में विधान ही है।

(५) तामिल भाषा में आजीविक शब्द का अर्थ 'दिगम्बर' करने से भी आजीविक और दिगम्बर जैन एक नहीं हो सकते, क्योंकि उस प्रदेश में आजीविकों का अधिक प्रचार था और वे निरन्तर नग्न ही रहते थे इस कारण वे वहाँ दिगम्बर भी कहलाते होंगे। परन्तु इस शब्दार्थ मात्र से दिगम्बर जैन और आजीविक अभिन्न सिद्ध नहीं हो सकते। नग्न रहने से हर कोई दिगम्बर कहा जा सकता है पर इससे यह दिगम्बर जैन ही है यह मान लेना युक्तिसंगत नहीं।

(६) शीलांकाचार्य ने आजीविक का पर्याय दिगम्बर किया तो इससे भी उनकी नग्नता मात्र प्रकट होती है, न कि दिगंबर जैनों से अभिन्नता।

(७) हलायुध ने अभिधानरत्नमाला में दिगम्बर जैनों को आजीविक कह दिया, इससे भी वे अभिन्न सिद्ध नहीं किये जा सकते। कोपकार कुछ प्रामाणिक इतिहासकार नहीं होते कि वे जो कुछ लिखें प्रमाणसिद्ध ही लिखें। अपने समय में जिस शब्द का जो अर्थ किया जाता हो उसे उस अर्थ में लिख देना, इतना ही कोपकारों का कर्त्तव्य होता है। हलायुध के समय में दिगम्बर जैनों को जैनेतर लोग आजीविक नाम से भी पहचानते होंगे इस कारण कोपकार ने उन्हें आजीविक भी लिख दिया, पर इतने ही से वे आजीविक नहीं हो सकते।

ऊपर हमने देखा कि डा० हार्नले के दिये हुए प्रमाणों में एक भी प्रमाण ऐसा नहीं जो दिगम्बर जैनों को ही आजीविक अथवा त्रैराशिक

सिद्ध कर सके। इसके अतिरिक्त दिगम्बरों को त्रैराशिक मानने में किसी प्रकार का दार्शनिक मान्यता विषयक सादृश्य भी नहीं है। यदि दिगम्बर जैन ही त्रैराशिक होते तो इनमें भी सत् असत् सदसत्, नित्य अनित्य नित्यानित्य इत्यादि त्रैराशिक संमत तीन राशि की और तीन नय की मान्यता होती, पर ऐसा कुछ भी नहीं है।

श्वेताम्बर जैनसंघ के अनेक नये पुराने ग्रन्थों में दिगम्बर सम्प्रदाय का उल्लेख और वर्णन है, पर कहीं भी इनको श्वेताम्बरों ने 'आजीविक' अथवा 'त्रैराशिक' नहीं कहा। भाष्यों और चूर्णियों में सर्वत्र इनको 'बोडिय' (बोटिक) इस नाम से व्यवहृत किया है। दसवीं सदी के बाद के ग्रन्थों में आशाम्बर, दिगम्बर, दिक्पट इत्यादि नामों का इनके लिये प्रयोग हुआ है। कहीं भी आजीविक अथवा त्रैराशिक ये शब्द दिगम्बर जैनों के लिये प्रयुक्त नहीं हुए। यदि वे एक होते तो सबसे पहले श्वेताम्बर जैन ही उनको गोशालक शिष्य कहकर तिरस्कृत करते, क्योंकि उनके सबसे अधिक निकटवर्ती वे ही थे। पर वैसा कहीं भी उल्लेख नहीं किया। इसके विपरीत श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने दिगम्बर और आजीविकों का भिन्न-भिन्न उल्लेख किया है। उदाहरण के तौर पर हम यहाँ ओघनिर्युक्ति-भाष्य की एक गाथा का अवतरण देंगे जिसमें आजीविक और दिगम्बरों का अलग-अलग उल्लेख है।

साधु वर्षा चातुर्मास्य के लिए ग्राम में प्रवेश करें उस समय होनेवाले अपशकुनों का वर्णन करते हुए उक्त भाष्यकार कहते हैं—

'चक्कयरंमि भमाडो, भुक्खामारो य पंडुरंगंमि।
तच्चन्निअ रुहिरपडनं, बोडियमसिए धुवं मरणं ॥१०७॥

अर्थात् (ग्राम में प्रवेश करते समय) चक्रधर भिक्षु सामने मिले तो चातुर्मास्य में भटकना पड़े, पांडुरंग आजीविक भिक्षु सामने मिले तो भूख और मार सहन करना पड़े, बौद्ध भिक्षु के सामने मिलने पर खून गिरे और बोटिक दिगम्बर जैन तथा असित-भौत नामक भिक्षुओं के सामने मिलने पर निश्चित मरण हो।

उपर्युक्त गाथा में आजीविकों के लिये 'पांडुरंग' और दिगम्बरों के

लिये 'वोडिय' नाम प्रयुक्त हुए हैं। यदि वे दोनों एक ही होते तो उनका भिन्न-भिन्न नामों से उल्लेख करने की कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती।

इन सब बातों का विचार करने पर यह बात निश्चित हो जाती है कि दिगम्बर जैन मूल निर्ग्रन्थ संघ का ही एक विभाग है। आजीविक या त्रैराशिकों से इसका कुछ भी संबन्ध नहीं।

अब हम आजीविकों के इतिहास पर दृष्टिपात करेंगे।

आजीविकों का इतिहास

बौद्ध महावंश में लंका के राजा 'पांडुकाभय' के आजीविकों के लिये एक मकान बनवाने का उल्लेख है। यदि महावंशकार का यह कथन ठीक हो तो ई० स० पूर्व पाँचवीं सदी के अंतिम चरण तक आजीविक लंका तक पहुँच गये थे, यही कहना चाहिये।

उपलब्ध साधनों में आजीविकों के संबन्ध में सबसे प्राचीन उल्लेख तो गया के पास बर्बर पहाड़ की एक गुफा की दीवार पर खुदे हुए अशोक के एक लेख में है। इसमें लिखे मुजब यह लेख महाराजा अशोक के राज्य के तेरहवें वर्ष में खोदा गया था। इस लेख का भाव यह है—'राजा प्रियदर्शी ने अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में यह गुफा आजीविकों को अर्पण की।'

दूसरा उल्लेख इसी महाराज अशोक के शासन स्तंभों में के सातवें स्तम्भ पर राज्य के २८ वें वर्ष में खुदे हुए लेख में आता है जो इस प्रकार है—'मैंने योजना की है कि मेरे धर्म महामात्र बौद्ध संघ के, ब्राह्मणों के, आजीविकों के, निर्ग्रन्थों के और वास्तविक भिन्नतावाले कुछ पाषण्डों के कार्य में व्याप्त हो जायँगे।'

तीसरा प्राचीन उल्लेख नागार्जुन की गुफा की दीवारों पर खुदे हुए अशोक के पुत्र दशरथ के लेख में आता है, जो इस प्रकार है—'यह गुफा महाराज दशरथ ने राजगद्दी पर आने के बाद तुरन्त आचन्द्रार्क निवास के लिये सम्मान्य आजीविकों को अर्पण की।'

पहले जो आजीविकों के पास कालकाचार्य के निमित्त शास्त्र पढ़ने की बात कही गई है, उससे सिद्ध है कि विक्रम-पूर्व प्रथम शताब्दी में दक्षिण भारत में आजीविकों का खासा प्रचार था।

आजीविकों का एक विचित्र वृत्तान्त सदजीरो सुगुइर (Sadajiro Suguira) 'हिन्दू लोजिक ऐज़ प्रीजर्व इन चाइना एण्ड जापान' नामक छोटे ग्रन्थ में आता है।

उपोद्घात के पृष्ठ सोलह पर ग्रन्थकार कहता है—'चीनी और जापानी ग्रन्थकर्त्ता बार-बार इन महासम्प्रदायों में (अर्थात् सुप्रसिद्ध छः भारतीय सम्प्रदायों में) दो विशेष सम्प्रदायों का समावेश करते हैं जो 'निकेन्दत्री' और 'अशिविक' के नाम से पहिचाने जाते हैं और एक दूसरे से बिलकुल मिलते-जुलते हैं। ये दोनों मानते हैं कि पापी जीवन का दण्ड जल्दी या देरी से चुकाना ही पड़ता है और इससे बचना अशक्य होने से जैसे भी हो यह जल्दी ही चुकाना अच्छा है, जिससे कि भावी जीवन आनन्द में निर्गमन हो सके। इस प्रकार इनके विचार तापसिक थे। उपवास, मौन, अचलासन और आकंठ अपने को दबाये रखना ये इनकी तपस्या के बोधक थे। सम्भवतः ये सम्प्रदाय जैन अथवा किसी अन्य हिन्दू सम्प्रदाय की प्रशाखायें थीं।'

उक्त लेख में उल्लिखित 'निकेन्दत्री' और 'अशिविक' क्रमशः निर्ग्रन्थव्रती और आजीविक हैं, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

वृहज्जातक के प्रव्रज्यायोग प्रकरण में वराहमिहिर ने जो सात भिक्षु वर्ग बताये हैं उनमें आजीविक भी शामिल हैं।

विक्रम की सातवीं सदी की कृति निशीथचूर्णि में 'आजीविक' शब्द का परिचय देते हुए चूर्णिकार जिनदासगणि महत्तर लिखते हैं—'आजीवक गोशालक-शिष्य होते हैं जो पंडरभिक्षुक भी कहलाते हैं।'

ओघनिर्युक्ति-भाष्यकार भी आजीविकों का पांडुरंग नाम से व्यवहार करते हैं जैसा कि पहले बताया जा चुका है।

अनुयोगद्वार चूर्णि में 'पंडरंग' शब्द का पर्याय बताते हुए चूर्णिकार कहते हैं—"पंडरंगा सा (सस) रक्खा" अर्थात् 'पंडरंग' का अर्थ 'सरजस्क' भिक्षु है।

दसवीं सदी के प्रसिद्ध जैन टीकाकार आचार्य शीलांक ने एकदण्डियों को शिवभक्त बताया है।

ग्यारहवीं शताब्दी के टीकाकार भट्टोत्पल ने वृहज्जातक की टीका

में 'आजीविकों' का अर्थ 'एकदण्डी' किया है और उन्हें 'नारायण' का भक्त लिखा है।

उपर्युक्त प्रमाणों और नामोल्लेखों से जो निष्कर्ष निकलता है उसका सार यह है कि बृहज्जातक के उल्लेख से पाया जाता है कि वराहमिहिर के समय अर्थात् विक्रम की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध तक आजीविक विद्यमान थे और वे 'आजीविक' नाम से ही पहचाने जाते थे।

निशीथचूर्णि और ओघनिर्युक्ति के भाष्यकार के समय विक्रम की सातवीं शताब्दी में आजीविक 'गोशालक शिष्य' के नाम से प्रसिद्ध होने पर भी 'पाण्डुरभिक्षु' अथवा 'पाण्डुरंगभिक्षु' कहलाने लगे थे।

अनुयोगद्वारचूर्णि में 'पंडुरंग' शब्द का पर्याय 'सरजस्क' लिखा है। इससे हमें उनका 'पाण्डुरंग' यह नाम प्रचलित होने का कारण भी समझ में आ जाता है। आजीविक भिक्षु नग्न रहते थे, इस कारण संभव है कि शीतनिवारणार्थ शैव संन्यासियों की तरह इन्होंने भी अपने शरीर पर भस्म या किसी तरह की सफेद धूल (रजस्) लगाना शुरू कर दिया हो और इससे वे पांडुरंग (भूरे रंगवाले) या 'पांडुराङ्ग' (धूसर शरीरवाले) कहलाने लगे हों। कुछ भी हो, पर यह तो निश्चित है कि इन नामों के साथ ही आजीविक नये धर्म-संप्रदायों के निकट पहुँच चुके थे और इसका परिणाम वही हुआ जो होना चाहिये था। विक्रम की आठवीं सदी में पहुँच कर आजीविक अपना अस्तित्व खो बैठे। वे हमेशा के लिये शैव और वैष्णव संप्रदायों में मिल कर उन्हीं नामों से प्रसिद्ध हो गये। आचार्य शीलाङ्क इनको शैव और भट्टोत्पल नारायणभक्त बताते हैं उसका यही कारण है।

दक्षिण भारत में तथा अन्यत्र आज तक निरंजनी आदि नग्न संन्यासियों की जमातें जो दृष्टिगोचर होती हैं, हमारे ख्याल से ये उसी नामशेष आजीविक संप्रदाय के अवशेष हैं।

अब हम एक शंका का निराकरण कर के इस लेख को पूरा करेंगे।

'विक्रम की आठवीं शताब्दी में ही आजीविक सम्प्रदाय नामशेष हो गया था' हमारे इस कथन पर प्रश्न हो सकता है कि यदि आठवीं शताब्दी में ही आजीविकों की समाप्ति हो गई होती तो विक्रम के

तेरहवीं सदी के चौथे और चौदहवीं सदी के पहले चरण में चोलराजा राज के द्वारा पेरुमाल के मन्दिर की दीवारों पर खुदवाये गये संवत् १२९५–१२९६, १३०० और १३१६ के शिलालेखों में आजीविकों पर कर लगाने का उल्लेख कैसे होता ?

उत्तर यह है कि उक्त लेखों में आजीविकों पर कर लगाने का जो उल्लेख है, वह गोशालकशिष्य आजीविकों के लिये नहीं किन्तु आजीविकों के सादृश्य से पिछले समय में 'आजीविक' नामप्राप्त 'दिगम्बर' जैनों के लिये है।

दक्षिण भारत आजीविक और दिगम्बर जैन दोनों ही का मुख्य विहार क्षेत्र था। यही नहीं, दोनों ही सम्प्रदायवाले दिगम्बर और अवैदिक भिक्षु थे। इस कारण सर्वसाधारण में उन दोनों का भेद समझना सहज नहीं था। लोग आजीविकों को दिगम्बर समझ लेते थे और दिगम्बरों को आजीविक भी। परन्तु जब से खरे आजीविक आजीविक मिटकर पंडुरंगादि नामों से प्रसिद्ध हो वैष्णवादि सम्प्रदायों में मिल गये तबसे आजीविक नाम केवल दिगम्बर जैनों के लिये ही रह गया। धनञ्जय दिगम्बर जैनों के आजीविक नाम से प्रसिद्ध होने की जो बात कहता है उसका कारण भी इससे समझ में आ जाता है क्योंकि उस समय से बहुत पहले ही वास्तविक आजीविकों का अस्तित्व मिट चुका था और नग्न भिक्षुओं के लिये सुप्रसिद्ध 'आजीविक' नाम का प्रयोग नग्न भिक्षुओं के नाते दिगम्बर जैन साधुओं के लिये रूढ हो गया था। राजा राज के लेखों में दिगम्बर जैनों के लिये जो 'आजीविक' शब्द प्रयुक्त हुआ है उसका यही कारण है।

आजीविक मत सम्बन्धी मुख्य बातों का यथोपलब्ध वर्णन ऊपर कर दिया। गोशालक के जीवन वृत्तान्त और 'मंखलिपुत्र' नाम के सम्बन्ध में ऊपर ऊहापोह नहीं किया, क्योंकि जीवन-वृत्तान्त चरित्त खंड में 'गोशालक' नामक परिच्छेद में आ गया है और 'मंखलिपुत्र' नामकी चर्चा कुछ महत्त्व नहीं रखती। इस विषय में हमारे विचार डा० हार्नले के विचारों से भिन्न हैं।

६ उपसंहार

जैन सूत्रों में गोशालक की जाति और आजीविका के सम्बन्ध में जो लिखा है उसे हम यथार्थ मानते हैं। प्राचीन जैन सूत्रों में जहाँ तहाँ तमाशगीरों की नामावली आती है वहाँ सर्वत्र 'मंख' नाम भी आया करता है। इस वास्ते 'मंख' शब्द का टीकाकारों ने जो अर्थ किया है उसमें शंका करने का कोई कारण नहीं दीखता। गोशालक का जितना परिचय जैनों को था उतना बौद्धों को नहीं। इस वास्ते बौद्धों का यह कथन कि 'मंखलि' यह गोशालक का नाम था, कुछ भी प्रमाण नहीं रखता। 'मंखलि' यह गोशालक के बाप या जाति का नाम था। इसीलिये उसके नाम के साथ सर्वत्र 'मंखलिपुत्र' यह विशेषण बोला जाता था। बौद्धों ने इस विशेषण के एक देश 'मंखलि' का गोशालक के लिये ही प्रयोग कर डाला और पिछले लेखकों ने उसका संस्कृत रूप 'मस्करिन्' बनाकर उसे 'परिव्राजक' शब्द का पर्याय बना लिया। डा० ह्यार्नले का अभिप्राय है कि 'मंखल' जैसा कोई शब्द नहीं जिससे 'मंखलि' शब्द सिद्ध हो। इसलिये 'मस्करिन्' का प्राकृत रूप 'मंखलि' अथवा 'मक्खलि' मानकर उसे गोशालक का नाम मानना ही ठीक है, क्योंकि गोशालक और उसके अनुयायी एक दण्ड रखते थे जो संस्कृत भाषा में 'मस्कर' कहलाता था और जिसके धारण करने से गोशालक 'मस्करी' कहलाता था।

जहाँ तक हम समझते हैं 'मक्खलिपुत्त' गोशालक के सम्बन्ध में डा० महोदय की यह कल्पना प्रामाणिक नहीं। गोशालक या उसके समय के आजीविक भिक्षु वंश-दण्ड रखते थे, यह बात किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होती।

उस समय में जो एकदण्डी सन्यासियों का सम्प्रदाय था उसका आजीविकों से कोई वास्ता नहीं था, यह बात सूत्रकृताङ्ग की टीका में वर्णित आर्द्रक मुनि के वृत्तान्त और दूसरे अनेक वर्णनों से सिद्ध है। गोशालक 'मस्करी' श्रमण कहलाता था यह सत्य, पर उसका कारण 'मस्कर' नहीं, उसके बाप की अथवा जाति का नाम 'मंखलि' था।

जहाँ तक हमारा अनुमान है, गोशालक के स्वर्गवास के बाद जैनों की तरह आजीविकों में भी दण्ड रखने की प्रथा चली थी और वह दण्ड भी मुख्यतया वंश का ही होता था।

पिछले समय के विद्वानों को आजीविक 'मस्करी' क्यों कहलाते हैं इसका वास्तविक ज्ञान न होने से वे वंश को ही 'मस्कर' मानकर 'मस्करयोगात् मस्करी' इस प्रकार की व्याख्या करने लगे। यही कारण है कि भाष्यकार पतञ्जलि जैसे प्रौढ़ विद्वान् ने इस व्याख्या पर अरुचि प्रदर्शित की है।

कापिल, योगी, बौद्ध आदि अनेक अवैदिक सम्प्रदायों की ही तरह आजीविक सम्प्रदाय भी सैकड़ों वर्षों से वैदिक धर्म की बृहत्कुक्षि में समाया हुआ है तथापि इसके बहु व्यापक संस्कार भारतवर्ष से कभी मिटनेवाले नहीं।

दाक्षिणात्य वैष्णव सम्प्रदायों का जो दया के सिद्धान्त की तरफ अधिक झुकाव है उसका भी कुछ श्रेय आजीविक सम्प्रदाय के हिस्से जायगा और इन सबसे अधिक व्यापक 'यद्भाव्यं तद्भविष्यति' वाला सिद्धान्त आज भी कितने ही भारतवासियों के हृदय पर जमा हुआ है, जो आजीविकों की ही अमर देन है।

षष्ठ परिच्छेद

जिनकल्प और स्थविरकल्प

भगवान् महावीर के श्रमणगण में आचार-मार्ग दो थे—एक स्थविरकल्प और दूसरा जिनकल्प।

सभी मनुष्य पहले 'स्थविरकल्प' में दीक्षित होते थे। पर विशिष्ट संहनन और श्रुतसंपत्ति पाने के उपरान्त उनमें से जो श्रमण अधिक उग्र चर्या धारण करना चाहते वे 'स्थविरकल्प' से निकल कर 'जिनकल्प' का स्वीकार करते थे और तब से वे 'जिनकल्पिक' कहलाते थे।

श्वेताम्बर जैनों के निर्युक्ति और भाष्यादि आगम ग्रन्थों में जिन-कल्पिक की व्याख्या करते हुए उसकी योग्यता के विषय में लिखा गया है कि जो वज्रऋषभनाराचसंहननवाला और साढ़े नवपूर्व के ऊपर तथा दशपूर्व के भीतर श्रुत पढ़ा हुआ हो वही जिनकल्प ग्रहण कर सकता है। जिनकल्पिक नग्न, निष्प्रतिकर्म और विविध अभिग्रहधारी होने के नाते एक होते हुए भी, 'पाणिपात्र' (हाथ में भोजन करने-वाले) और 'पात्रधारी' के भेद से दो प्रकार के होते हैं।

(१) पाणिपात्र भी उपधिभेद से चार प्रकार के होते थे। कोई रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण रखते, कोई उक्त दो के अतिरिक्त एक, कोई दो और कोई तीन कल्प (चादरें) रखते थे।

(२) पात्रधारी भी उक्त दो, तीन, चार और पाँच उपकरणों के अतिरिक्त सात प्रकार के पात्र निर्योग के रखने से क्रमशः नौ, दस, ग्यारह और बारह प्रकार की उपधि के कारण चार प्रकार के होते थे। इस प्रकार श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार 'जिनकल्पिकों' के मूल दो और और उत्तर आठ भेद होते थे।

दिगम्बर जैनाचार्य देवसेन कृत 'भावसंग्रह' में जिनकल्पिकों का वर्णन नीचे मुजब उपलब्ध होता है—

"तीर्थंकरों ने 'कल्प' दो प्रकार का कहा है—'जिनकल्प' और 'स्थविरकल्प'। जिनकल्प उत्तम संहननधारी के लिये कहा है। जिन-कल्प में रहे हुए मुनि पैर में लगा कांटा या नेत्र में गिरि रज को स्वयं नहीं निकालते, दूसरों के निकालने पर वे मौन रहते हैं। जलवृष्टि आदि के कारण विहार मार्ग रुक जाने पर वे छः मास तक निराहार कायो-त्सर्ग-ध्यान में रहते हैं। वे एकादशाङ्ग सूत्रों के धारक, धर्म और शुक्ल ध्यान को ध्यानेवाले, संपूर्ण कषायत्यागी, मौनव्रती और गुहावासी होते हैं। बाह्य एवं आभ्यन्तर परिग्रह रहित निःस्नेह निःस्पृह होकर जिनकी तरह विचरते हैं, अतएव वे जिनकल्पस्थित श्रमण कहलाते हैं।"

अब हम इन्हीं जिनकल्पिकों का वर्णन दिगम्बर विद्वान् वामदेव के 'भावसंग्रह' के आधार पर लिखेंगे।

'अब जिनकल्प नामक वृत्तान्त कहते हैं जिससे कि भव्य आत्माओं को मुक्ति का सङ्गम प्राप्त होता है। जिनकल्पिक शुद्ध सम्यक्त्व युक्त, इंद्रिय और कषायों को जीतनेवाले, एकादशाङ्ग श्रुत को एक अक्षर की तरह जाननेवाले होते हैं। पैर में लगा कांटा और आँखों में गिरी हुई रज को वे स्वयं नहीं दूर करते, दूसरों के दूर करने पर वे मौन रहते हैं। वे प्रथम संहनन(वज्रऋषभनाराच)वाले और निरन्तर मौनी होते हैं। पर्वत की गुफाओं में, जङ्गलों में अथवा नदी के तट पर रहते हैं। वर्षाकाल में मार्ग जीवाकुल होने पर छः मास तक निःस्पृह और निराहार कायोत्सर्ग-ध्यान में खड़े रहते हैं। मोक्षसाधन में एकनिष्ठावाले, रत्नत्रय से शोभित, निःसंग और निरन्तर धर्म और शुक्ल ध्यान में लीन रहते हैं। ये मुनि 'जिन' की तरह अनियतवासी होकर विचरते हैं, इसी कारण से आचार्यों ने इनको 'जिनकल्प' इस नाम से कहा है।

स्थविरकल्पिक।

श्वेताम्बर जैन आगमों में स्थविरकल्पिकों का जो वर्णन मिलता है, उसे हम दो भागों में बाँटेंगे और उनको क्रमशः 'सूत्रकालीन' तथा 'भाष्यकालीन' इन नामों से पहचानेंगे।

सूत्रकालीन स्थविरों का वर्णन इस प्रकार है—

"जो भिक्षु तीन वस्त्र और एक पात्र के साथ रहता है, उसे कभी

चतुर्थ वस्त्र माँगने की इच्छा नहीं करनी चाहिये। तीन वस्त्र भी निर्दोष जानकर माँगने चाहिये और जैसे मिलें वैसे ही काम में लाने चाहिये। न उन्हें धोवे रंगे, न धुले-रंगे वस्त्रों को धारण करे। विहार में उन्हें न छिपाकर अल्प वस्त्रवान् होकर फिरे। यही वस्त्रधारी की सामग्री है। जब वह यह समझे कि शीतकाल बीत गया और ग्रीष्मकाल आ गया है तब यथाजीर्ण वस्त्रों को त्याग दे वा कम कर दे अथवा एक शाटक (टुकड़ा) रख कर बाकी त्याग दे अथवा बिलकुल अचेल बन जाय। इस प्रकार करता हुआ वह अपने को हलका बनाता है और इससे एक प्रकार की तपःसाधना होती है। जो बात भगवान् ने कही है उसे यथार्थ समझना चाहिये।

"जो भिक्षु एक पात्र और दो वस्त्रों के साथ रहता है उसे तीसरे वस्त्र की याचना नहीं करनी चाहिये।

"जो भिक्षु एक पात्र और एक वस्त्र के साथ रहता है उसे दूसरा वस्त्र माँगने की इच्छा नहीं करनी चाहिये।

"जो भिक्षु अचेलक होकर रहता है यदि वह यह समझे कि मैं तृणस्पर्श, शीतस्पर्श, तेजःस्पर्श, दंशमशकस्पर्श और दूसरा कोई भी भयंकर स्पर्श सहन कर सकता हूँ, पर लज्जा प्रतिच्छादन को नहीं छोड़ सकता तो वह कटिबन्धन रख सकता है। अचेलक होकर विचरने में तृण, शीत, ताप और दंशमशक का स्पर्श अथवा कोई अन्य भयंकर स्पर्श भी आ पड़े तो उसे सहन करे। अचेलक में लघुता समझ कर उक्त परीषह सहन करे।

"जो भी दो वस्त्रों से, तीन वस्त्रों से, बहुवस्त्रों से अथवा अचेलकता से अपना निभाव करते हैं वे एक दूसरे की निन्दा नहीं करते क्योंकि वे सभी जिनाज्ञा में चलते हैं।"

अब हम भाष्यकालीन अर्थात् विक्रम की दूसरी तीसरी सदी के स्थविरों के वेष और उपकरणों का वर्णन करेंगे—

भाष्यकाल में स्थविरों के उपकरणों में कुछ वृद्धि हो गई थी। यद्यपि तीन वस्त्र, कटिबन्ध और एक पात्र रखने की रीति पहले से ही चली आती थी पर उसमें खास परिवर्तन यह हुआ था कि पहले जो

कटिबन्ध नामक एक छोटा चिथड़ा कमर पर लपेटा जाता था और जिसके दोनों अंचल गुह्य भाग ढाँकने के निमित्त आगे की तरफ लटके रहने के कारण 'अग्रावतार' भी कहलाता था, उसका स्थान अब चोल-पट्टक ने ग्रहण कर लिया था। पहले प्रतिव्यक्ति एक ही पात्र रक्खा जाता था पर आर्यरक्षितसूरि ने वर्षाकाल में एक 'मात्रक' नामक अन्य पात्र रखने की जो आज्ञा दे दी थी उसके फलस्वरूप आगे जाकर 'मात्रक' भी एक अवश्य धारणीय उपकरण हो गया। इसी तरह झोली में भिक्षा लाने का रिवाज भी लगभग इसी समय चालू हुआ जिसके कारण पात्रनिमित्तक उपकरणों की वृद्धि हुई। परि-णाम स्वरूप स्थविरों के कुल १४ उपकरणों की संख्या हुई जो इस प्रकार है:—

१ पात्र, २ पात्रबन्ध, ३ पात्रस्थापन, ४ पात्रप्रमार्जनिका, ५ पटल, ६ रजस्त्राण, ७ गुच्छक, ८, ९ दो सौत्र वस्त्र (चादरें) १० ऊनी वस्त्र (कम्बल), ११ रजोहरण, १२ मुखवस्त्रिका, १३ मात्रक और १४ चोलपट्टक।

यह उपधि 'औघिक' अर्थात् सामान्य मानी गयी और आगे जाकर इसमें जो कुछ उपकरण बढ़ाये गये वे 'औपग्रहिक' कहलाये। औपग्रहिक उपधि में संस्तारक, उत्तरपट्टक, दंडासन और दंडक ये खास उल्लेखनीय हैं। ये सब उपकरण आजकल के श्वेताम्बर जैन मुनि रखते हैं।

आचार्य देवसेन अपने 'भावसंग्रह' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं —"जिन ने साधुओं के लिये स्थविरकल्प भो कहा है। वह इस प्रकार

दिगम्बराचार्यों का स्थविरकल्प

है—पंचवस्त्रत्याग, अकिंचनता, प्रतिलेखन, पंच महाव्रतों का धारण करना, खड़े भोजन, एक बार भोजन, हाथ में भोजन (वह भी समय पर भक्ति-पूर्वक दिया हुआ), भिक्षा की याचना न करना, दो प्रकार के तप में उद्यम करना, सदाकाल छः प्रकार का आवश्यक करना, भूमिशयन, केशलोच और जिनवर के जैसा प्रतिरूप ग्रहण करना।

"संहनन के गुण और दुःषमकाल के प्रभाव से आजकल स्थविर-

कल्पस्थित साधु पुर, नगर और ग्रामवासी हो गये हैं और उन्होंने वह उपकरण भी ग्रहण किया है जिससे कि चारित्र का भंग न होता हो। योग्य होने पर पुस्तकदान भी स्वीकार करते हैं। समुदाय से विहार, यथाशक्ति धर्मप्रभावना, भव्य जीवों को धर्मोपदेश, शिष्यों का पालन तथा ग्रहण स्थविरकल्पिकों का आचार है। यद्यपि संहनन तुच्छ, काल दुःषम और मन चपल है तथापि धीर पुरुष महाव्रतों का भार उठाने में उत्साहवान् हैं।

"पूर्वकाल में उस शरीर से हजार वर्ष में जितने कर्मों का नाश करते थे, आजकल के हीनसंहननी एक वर्ष में उतने कर्मों की निर्जरा करते हैं।"

अब हम महावीर के शासन में 'श्वेताम्बर' और 'दिगम्बर' नामक दो शाखाएं निकलने के कारण पर विचार करेंगे।

कुछ यूरोपीय और भारतवर्षीय विद्वानों का यह ख्याल है कि महावीर के निर्वाण के बाद तुरन्त ही उनके शिष्यों में दो विभाग हो गये थे। पर वास्तव में यह बात नहीं है। जिन बौद्ध उल्लेखों के आधार पर वे ऐसा ख्याल करते हैं वे उल्लेख वस्तुतः महावीर की जीवित अवस्था में उनके शिष्य जमालि द्वारा खड़े किये गये मतभेद के सूचक हैं। यह बात हम ने 'वीरनिर्वाण संवत् और जैन कालगणना' नामक पुस्तक में प्रमाणपूर्वक समझा दी है। जहाँ तक हम समझते हैं इस मतभेद का बीज 'आचाराङ्गसूत्र' का वह उल्लेख है कि जिसमें साधु को अचेलक रहने में लाभ बताया है।

मतभेद का अङ्कुर

महावीरनिर्वाण के बाद चौंसठ वर्ष तक उनके शिष्यों में स्थविरकल्पिक और जिनकल्पिक दोनों तरह के साधु रहे, पर बाद में जिनकल्प का आचरण बंद पड़ गया और लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक उसकी कुछ भी चर्चा नहीं हुई। स्थविरकल्प में रहनेवाले साधु यद्यपि नग्नप्राय रहते थे, तथापि शीतनिवारणार्थ कुछ वस्त्र और एक पात्र अवश्य रखते थे। यह स्थिति भद्रबाहु के पट्टधर आर्य स्थूलभद्र तक बराबर चलती रही।

आर्य स्थूलभद्र के शिष्यों में से सब से बड़े आर्य महागिरि ने पिछले

समय में अपना साधुगण आर्य सुहस्ती को सौंप दिया और आप वस्त्र-पात्र का त्याग कर जिनकल्पिक साधुओं का सा आचार पालने लगे। यद्यपि वे स्वयं जिनकल्पिक होने का दावा नहीं करते थे तथापि उनका झुकाव वस्तुतः जिनकल्प की ही तरफ था।

उस समय के सब से बड़े श्रुतधर होने के कारण आर्य महागिरि के इस आचरण का किसी ने विरोध नहीं किया, बल्कि जिनकल्प की तुलना करनेवाले कहकर उनके सतीर्थ्य आर्य सुहस्ती जैसे युगप्रधान ने उनकी प्रशंसा की, पर आगे जाते यह प्रशंसा महँगी पड़ी। आर्य महागिरि तो वीरनिर्वाण संवत् २६१ में स्वर्गवासी हो गये, पर उन्होंने जो जिनकल्प का अनुकरण किया था उसकी प्रवृत्ति बंद नहीं हुई। उनके कतिपय शिष्यों ने भी उनका अनुसरण किया। परिणामस्वरूप आर्य महागिरि और सुहस्ती सूरि के शिष्य गण में अन्तर और मनमुटाव बढ़ने लगा और अन्त में खुल्लमखुल्ला नग्नचर्या और करपात्रवृत्ति का विरोध होने लगा। महागिरि की परम्परावाले आचाराङ्ग के अचेलकत्व प्रतिपादक उस उल्लेख से अपनी प्रवृत्ति का समर्थन करते थे, तब विरोध पक्ष वाले उस उल्लेख का अर्थ जिनकल्पिकों का आचार होना बताते थे और स्थविरों के लिये वैसा करना निषिद्ध समझते थे। वे कहते थे कि 'बिलकुल वस्त्र न रखना और हाथ में भोजन करना जिनकल्पिकों का आचार है, स्थविरकल्पिकों को उसकी तुलना भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जब इस समय उत्तम संहनन न होने से जिनकल्प पाला ही नहीं जाता तो उसका स्वांग करने से क्या लाभ?' इस प्रकार दोनों की तनातनी बढ़ती जाती थी। सम्भवतः आर्य महागिरि का शिष्य रोहगुप्त और प्रशिष्य आर्य गंग भी बाद में जिनकल्पिक पक्ष में मिल गये थे जो कि तीन राशियों के और दो क्रियाओं के अनुभव की प्ररूपणा करने के अपराध में संघ से बहिष्कृत किये गये थे। यद्यपि रोहगुप्त, गांगेय वगैरह के मिल जाने के कारण वह पक्ष कुछ समय के लिये विशेष आग्रही बन गया था, पर अन्त में वह निर्बल हो गया। आर्य महागिरि के शिष्य-प्रशिष्यों के स्वर्गवास के बाद दो तीन पीढ़ी तक चल कर वह नामशेष रह गया।

इस प्रकार आचाराङ्ग के एक उल्लेख रूप बीज से सचेलकता-अचेलकता के मतभेद का अंकुर उत्पन्न हुआ और कुछ समय के बाद मुरझा गया। यद्यपि इस तनातनी का असर स्थायी नहीं रहा, तथापि इतना जरूर हुआ कि पिछले आचार्यों के मनमें आर्य महागिरि के शिष्यों के संबंध में वह श्रद्धा नहीं रही जो वैसे श्रुतधरों के ऊपर रहनी चाहिये थी। यही कारण है कि वालभी युगप्रधान पट्टावली में आज हम महागिरि के शिष्य बलिस्सह और स्वाति जैसे बहुश्रुतों का नाम नहीं पाते। उधर आर्य सुहस्ती की स्थविर-परम्परा प्रतिदिन व्यवस्थित और प्रबल हो रही थी और आर्य वज्र तक इसी प्रकार उन्नति करती रही, पर आर्य वज्र के समय में दो बार पड़े हुए दीर्घकालीन दुर्भिक्षों के कारण जैन श्रमणसंघ बहुत छिन्न-भिन्न हो गया। वज्र प्रभृति सैकड़ों स्थविर दुष्काल के कारण अनशन करके परलोक सिधार गये। शेष जो बचे थे वे भी एक दूसरे से बहुत दूर चले गये थे। यद्यपि वज्र के बाद आर्यरक्षित, जो कि सर्व-सम्मति से संघस्थविर नियत हुए थे, अंततक संघ-स्थविर रहे, पर आर्यरक्षित के स्वर्गवास के बाद स्थविरों में दो दल हो गये।

जो श्रमणगण दुष्काल के कारण पूर्व एवं उत्तर में दूर तक चले गये थे उन्होंने आर्यरक्षित के बाद आर्य नन्दिल को अपना नया संघ-स्थविर नियत कर लिया। जो श्रमणगण दक्षिण, पश्चिम और मध्य-भारत में विचरते थे उन्होंने आर्यरक्षित के बाद उनके शिष्य पुष्यमित्र को संघ-स्थविर माना जो आर्यरक्षित के उत्तराधिकारी थे। इस प्रकार विक्रम की दूसरी सदी में श्रमण संघ की यद्यपि दो शाखायें हो गई थीं तथापि उनके आचारमार्ग में कुछ भी शिथिलता नहीं आने पाई थी। सभी श्रमणगण आचाराङ्गसूत्र के अनुसार एक-एक पात्र और मात्र शीतकाल में ओढ़ने के लिये एक, दो या तीन वस्त्र रखते थे। चोलपट्टक का अभी तक प्रचार नहीं हुआ था, पर कटिबन्ध (अग्गोयर–अग्रावतार) का लगभग सार्वत्रिक प्रचार हो गया था। यद्यपि वस्ती के बाहर उसे कोई रखता और कोई बिलकुल नग्न रहता पर वस्ती में जाते समय सभीको उसका उपयोग करना पड़ता था। शीतनिवारणार्थ जो एक कम्बल और एक दो सूती वस्त्र रक्खे जाते थे वे भी ठंडी के

समय में ही ओढ़े जाते थे, शेष काल में ओढ़ने की प्रवृत्ति नहीं थी।

आर्यरक्षित के स्वर्गवास के बाद धीरे-धीरे साधुओं का निवास बस्तियों में होने लगा और इसके साथ ही नग्नता का भी अन्त होता गया। पहले बस्ती में जाते समय बहुधा जिस कटिबन्ध का उपयोग होता था वह बस्ती में बसने के बाद निरन्तर होने लगा। धीरे-धीरे कटि-वस्त्र का भी आकार-प्रकार बदलना गया। पहले मात्र शरीर का अगला गुह्य अंग ही ढकने का विशेष ख्याल रहता था, पर बाद में सम्पूर्ण नग्नता ढांक लेने की जरूरत समझी गयी और उसके लिये वस्त्र का आकार प्रकार भी कुछ बदलना पड़ा। फलतः उसका नाम 'कटिबन्ध' मिटकर चोलपट्टक (चुल्लपट्ट—छोटा वस्त्र) पड़ा। इस प्रकार स्थविर-कल्पियों में जो पहले ऐच्छिक नग्नता का प्रचार था उसका धीरे धीरे अन्त हो गया।

आर्य महागिरि के समय से जिनकल्प की तुलना के नाम से कति-पय साधुओं ने जो नग्न रहने की परम्परा चालू की थी वह उस समय के बहुत पहले ही बंद हो चुकी थी। आचाराङ्ग के उस अचेलकता प्रति-पादक उल्लेख को जिनकल्प-प्रतिपादक करार दिया जा चुका था और उस समय के ग्रन्थकार चोलपट्टक की गणना स्थविरकल्पियों के मूल उपकरणों में कर चुके थे।

स्थविरकल्प की जिस परिस्थिति का ऊपर उल्लेख किया गया है उसी परिस्थिति में मथुरा के निकटस्थ 'रहवीर'[1] नामक गाँव में रह कर

मतभेदाङ्कुर की नवपल्लवता

आर्य कृष्ण के शिष्य शिवभूति ने फिर जिनकल्प की चर्चा खड़ी की और स्वयं जिनकल्प बनकर चिर-काल से मुरझाये हुए जिनकल्प और स्थविरकल्प के मतभेद के अङ्कुर को नवपल्लवित किया।

१—'रहवीर' गांव कहाँ था, इसका श्वेताम्बर ग्रन्थों में कुछ भी खुलासा नहीं है, तथापि उसे हमने मथुरा के निकट बताया है। इसके दो कारण हैं—

(१) मथुरा के कंकाली टीले में से जैन श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य आर्य 'कण्ह' की एक अर्ध नग्न मूर्त्ति निकली है जो प्रायः विक्रम की द्वितीय शताब्दी के

पाठकों के ज्ञानार्थ हम आवश्यकमूलभाष्य और उसकी चूर्णि में कहा हुआ शिवभूति का वृत्तान्त ज्यों का त्यों यहाँ लिख देते हैं ताकि इस विषय में श्वेताम्बरों की मौलिक मान्यता जानी जा सके।

"महावीर को सिद्ध हुए छः सौ नौ वर्ष व्यतीत हुए तब रथवीरपुर में बोटिकों का दर्शन उत्पन्न हुआ। रथवीरपुर नगर था। वहाँ 'दीपक' नाम का उद्यान था। आर्य कृष्ण नाम के आचार्य वहाँ पधारे।

"वहाँ सहस्रमल्ल शिवभूति नामक एक आदमी रहता था। एक समय उसकी स्त्री ने अपनी सास से शिकायत करते हुए कहा—'वे नित्य आधी रात के समय आते हैं, तब तक मैं जागती हुई भूखी बैठी रहती हूँ। सास ने कहा—आज द्वार बंद कर सो जा, मैं जागूँगी। वह सो गई। आधी रात के समय उसने द्वार खटखटाया। तब माता ने फटकार कर कहा—इस समय जहाँ खुले द्वार दिखाई दे वहाँ चला जा। वह लौट गया और तलाश करने पर साधुओं का उपाश्रय खुला पाया। उसने साधुओं को वन्दन करके कहा—मुझे प्रव्रज्या दीजिये। पर साधुओं ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। उसने स्वयं अपना लोच कर दिया, तब उसे साधु का वेष दिया गया और उसके साथ साधु वहाँ से चले गये।

"कालान्तर में साधु फिर वहाँ आये। राजा ने शिवभूति को एक बहुमूल्य कम्बल दिया। आचार्य ने कहा—साधुओं को इसकी क्या जरू-

---

प्रारम्भ में निर्मित हुई थी। तथा मथुरा के आसपास और उसके पश्चिम प्रदेश में बहुत पूर्वकाल में 'कृष्ण गच्छ' अथवा 'कृष्णर्षि गच्छ' नाम से प्रसिद्ध श्वेताम्बराम्नाय का एक प्राचीन गच्छ भी प्रचलित हुआ था जो विक्रम की पन्द्रहवीं सदी तक चलता रहा। कालसाम्य का विचार करने पर हम समझते हैं कि ये मूर्तिवाले और गच्छ के आदिपुरुष वे ही आर्य कृष्ण होंगे जिनके शिष्य शिवभूति ने जिनकल्प का स्वीकार किया था।

(२) दिगम्बराचार्यों ने नियमपूर्वक शौरसेनी भाषा का सब से अधिक आदर किया है जो कि मथुरा के आसपास की प्राचीन काल की भाषा है। इससे भी हमारे अनुमान का समर्थन होता है कि दिगम्बर शाखा का मूल उद्भवस्थान वही शूरसेन देश है जिसकी राजधानी मथुरा थी।

रत है ? तू ने यह क्यों लिया ? यह कहकर बगैर पूछे ही कंबल को फाड़ कर उसकी निषद्यायें (निशीथियें) कर दीं। इससे शिवभूति बहुत नाराज हुआ।

"एक दिन जिनकल्पिक साधुओं का वर्णन हो रहा था कि जिनकल्पिक दो प्रकार के होते हैं—पाणिपात्र और पात्रधारी। इस समय शिवभूति ने पूछा—आजकल इतनी उपधि क्यों रखी जाती है ? जिनकल्प क्यों नहीं किया जाता ? आचार्य ने कहा—नहीं किया जा सकता। इस समय उसका विच्छेद हो गया है। शिवभूति बोला—विच्छेद कैसे हो जाय ? मैं करता हूँ। परलोकार्थी को यही करना चाहिये। उपधि-परिग्रह क्यों रखना चाहिये ? परिग्रह में कषाय, मूर्छा, भय आदि बहुत दोष हैं। शास्त्र में भी अपरिग्रहत्व ही कहा है। जिनेश्वर भगवान् भी अचेलक ही थे। इसलिये अचेलकता ही अच्छी है। गुरु ने कहा—तब तो शरीर का भी त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि किसी को इसपर भी कषाय मूर्छादि हो जाते हैं। शास्त्र में अपरिह्ग्रत्व कहा है, पर उसका तात्पर्य इतना ही है कि साधु को धर्मोपकरण पर भी मूर्छा नहीं करनी चाहिये। जिन भी एकान्त अचेलक नहीं थे। शास्त्र में कहा है कि सभी जिनवर एक देवदूष्य के साथ दीक्षित हुए थे। इस प्रकार स्थविरों ने शिवभूति को समझाया, पर कर्मोदय के वश वह वस्त्रों को छोड़ कर चला गया। उत्तरा नामकी उसकी एक बहन थी। वह उद्यान स्थित शिवभूति के वंदनार्थ गयी और उसको देखकर उसने भी अपने वस्त्र छोड़ दिये। वह भिक्षार्थ गाँव में गई। उसे देखकर एक गणिका ने, यह सोचकर कि इसे देखकर लोग हम से भी विरक्त हो जायंगे उसके उरःप्रदेश पर एक वस्त्र बांध दिया। यद्यपि उसकी इच्छा वस्त्र रखने की नहीं थी, पर शिवभूति ने कहा—'रहने दे, यह तुझे देवता ने दिया है।

"उसने कोंडकुण्ड[1] और वीर नामक दो शिष्य किये और तब से शिष्य परम्परा चली।

१—भाष्य का पाठ "कोडिन्नकोट्टवीरा" है जिसका चूर्णिकार ने 'कोडिन्न' और 'कोट्टवीर' इस प्रकार पदच्छेद किया है और इन्हें शिवभूति का शिष्य लिखा है, परन्तु हमारे विचार में 'कोडिन्नकोट्ट' यह कोण्डकुण्ड का अपभ्रंश

और दीक्षा लेने के बाद राजा की तरफ से अमूल्य कम्बल की भेंट इत्यादि ऐसी बातें हैं कि शिवभूति के राजकर्मचारी होने और कुटुम्ब के अपमान से घर छोड़ चल निकलने की बात को सत्य मानने में कुछ भी सन्देह नहीं रहता। साथ ही ऐसे राजमान्य मनुष्य को राजा की तरफ से मिली हुई भेंट के सम्बन्ध में गुरु का उपालम्भ और उस चीज का नाश कर देना, यह भी अवश्य अपमानजनक घटना है। इस घटना से उत्तेजित शिवभूति का गुरु से विरुद्ध होना, और वह भी वस्त्र के ही सम्बन्ध में, बिलकुल स्वाभाविक है।

शिवभूति ने आर्य कृष्ण से उपधि न रखने के सम्बन्ध में जो दलीलें की हैं उनका सार इतना ही है कि उपधि कषाय, मूर्छा और भय इत्यादि का कारण है। उन्होंने यह नहीं कहा कि उपधि रखने से मुक्ति ही नहीं होती। इसके विपरीत वे आर्या उत्तरा को वस्त्र रखने की सम्मति देते हैं, क्योंकि साधु को अचेलक होने के विषय में तो शास्त्र का आधार था पर स्त्री को वैसा करने के सम्बन्ध में कल्पाध्ययन की स्पष्ट निषेधाज्ञा थी। शिवभूति इस बात से अनभिज्ञ हों यह संभव नहीं था और इसीलिये उन्होंने उत्तरा को अचेलक न होने की आज्ञा दी थी। इस विषय में गणिका द्वारा उसे वस्त्र देने की जो बात कही गयी है, संभव है वह द्वेष का परिणाम मात्र हो।

यद्यपि शिवभूति ने वस्त्र-पात्र न रखने का उत्कृष्ट जिन कल्प स्वीकारा था तथापि आगे जाकर उन्हें अनुभव हुआ कि इस प्रकार का उत्कृष्ट मार्ग अधिक समय तक चलना कठिन है। अतएव उन्होंने साधुओं के आपवादिक लिङ्ग का भी स्वीकार किया।

पाठकगण हमारी इस बात को कोरी कल्पना न समझें, क्योंकि इसी सम्प्रदाय के प्राचीन ग्रन्थों से यह बात प्रमाणित होती है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के धुरन्धर आचार्य आर्यशिव जो कि स्वयं हस्तभोजी थे अपने 'भगवतीआराधना' ग्रन्थ में लिखते हैं—"जो औत्सर्गिक लिङ्ग में रहनेवाला हो उसके लिए तो वह है ही, पर आपवादिक लिङ्गवाले को भी संथारा लेने के समय औत्सर्गिक लिङ्ग (नग्नता) धारण करना श्रेष्ठ है।

"जिसको विहारचर्या में मानसिक, वाचिक और कायिक दोष निश्चितरूप से लगे हों वह भी संस्तारक के समय औत्सर्गिक लिङ्ग धारण कर ले।"

संस्तारक के समय कारण से विशेष आपवादिक लिङ्ग भी रह सकता है। इसके सम्बन्ध में वे कहते हैं—"यदि स्थान योग्य न हो, संस्तारक लेनेवाला महर्द्धिक या लज्जाशील हो, म्लेच्छ लोगों की बस्ती हो, स्वजन वहाँ विद्यमान हों तो आपवादिक लिङ्ग भी रह सकता है।"

"स्त्री भी परिमित उपधि रखती हुई उनके लिये जो औत्सर्गिक और आपवादिक लिङ्ग कहा है उसमें रहे।"

यहाँ पर यह भी बता देना चाहिये कि आर्य शिव अचेलकता, केशलोच, व्युत्सृष्टशरीरता और प्रतिलेखन इन चार बातों को औत्सर्गिक लिङ्ग कहते हैं। आपवादिक लिङ्ग में किन किन बातों की छूट होती थी, इसका यद्यपि उन्होंने खुलासा नहीं किया तथापि महर्द्धिक और लज्जाशील को आपवादिक लिङ्ग की छूट देने से यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि इस आपवादिक लिङ्ग में वस्त्र की छूट अवश्य होती थी[1]। स्त्री

---

१. दर्शनसार की चौबीसवीं गाथा की टीका में दिगम्बराचार्य श्री श्रुतसागरसूरि ने भी आपवादिक लिङ्ग में वस्त्रादि रखना ही स्वीकार किया है—

"सहजुप्पण्णं रूवं, दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिवण्णो, मिच्छादिट्ठी हवइ एसो ॥२४॥"

"टीका—मिच्छादिट्ठी हवइ एसो–मिथ्यादृष्टिर्भवत्येषः। अपवादवेषं धरन्नपि मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्य इत्यर्थः। कोऽपवाद वेषः? कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वोपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चतीत्युपदेशः कृतः। संयमिनां इत्यपवादवेषः। तथा नृपादिवर्गोत्पन्नः परमवैराग्यवान् लिंगशुद्धिरहितः उत्पन्नमेहनपुटदोषः लज्जावान् वा शीतासहिष्णुर्वा तथा करोति सोऽप्यपवादलिंगः प्रोच्यते। उत्सर्गवेषस्तु नग्न एवेति ज्ञातव्यम्। सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः। विशेषोक्तो विधिरपवाद इति परिभाषणात्।" (दर्शनप्राभृत टीका पृ० २१) उपर्युक्त टीका के पाठ में श्रुतसागर सूरि ने दो बातें कहीं हैं।

पहली यह कि पिछले समय में दिगम्बर भट्टारकों में जो वस्त्र पहनने की प्रवृत्ति चली उसका आरम्भ मांडवगढ़ में भट्टारक वसन्तकीर्ति से हुई थी।

"जिसको विहारचर्या में मानसिक, वाचिक और कायिक दोष निश्चितरूप से लगे हों वह भी संस्तारक के समय औत्सर्गिक लिङ्ग धारण कर ले।"

संस्तारक के समय कारण से विशेष आपवादिक लिङ्ग भी रह सकता है। इसके सम्बन्ध में वे कहते हैं—"यदि स्थान योग्य न हो, संस्तारक लेनेवाला महर्द्धिक या लज्जाशील हो, म्लेच्छ लोगों की वस्ती हो, स्वजन वहाँ विद्यमान हों तो आपवादिक लिङ्ग भी रह सकता है।"

"स्त्री भी परिमित उपधि रखती हुई उनके लिये जो औत्सर्गिक और आपवादिक लिङ्ग कहा है उसमें रहे।"

यहाँ पर यह भी बता देना चाहिये कि आर्य शिव अचेलकता, केशलोच, व्युत्सृष्टशरीरता और प्रतिलेखन इन चार बातों को औत्सर्गिक लिङ्ग कहते हैं। आपवादिक लिङ्ग में किन किन बातों की छूट होती थी, इसका यद्यपि उन्होंने खुलासा नहीं किया तथापि महर्द्धिक और लज्जाशील को आपवादिक लिङ्ग की छूट देने से यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि इस आपवादिक लिङ्ग में वस्त्र की छूट अवश्य होती थी[1]। स्त्री

---

१. दर्शनसार की चौवीसवीं गाथा की टीका में दिगम्बराचार्य श्री श्रुतसागरसूरि ने भी आपवादिक लिङ्ग में वस्त्रादि रखना ही स्वीकार किया है—

"सहजुप्पण्णं रूवं, दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिवण्णो, मिच्छादिट्ठो हवइ एसो ॥२४॥"

"टीका—मिच्छादिट्ठी हवइ एसो-मिथ्यादृष्टिर्भवत्येषः। अपवादवेषं धरन्नपि मिथ्यादृष्टिर्ज्ञातव्य इत्यर्थः। कोऽपवाद वेषः? कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वोपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टी-सादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चतीत्युपदेशः कृतः। संयमिनां इत्यपवादवेषः। तथा नृपादिवर्गोत्पन्नः परमवैराग्यवान् लिंगशुद्धिरहितः उत्पन्नमेहनपुटदोषः लज्जावान् वा शीताद्यसहिष्णुर्वा तथा करोति सोऽप्यपवादलिंगः प्रोच्यते। उत्सर्गवेषस्तु नग्न एवेति ज्ञातव्यम्। सामान्योक्तो विधिरुत्सर्गः। विशेषोक्तो विधिरपवाद इति परिभाषणात्।" (दर्शनप्राभृत टीका पृ० २१) उपर्युक्त टीका के पाठ में श्रुतसागर सूरि ने दो बातें कही हैं।

पहली यह कि पिछले समय में दिगम्बर भट्टारकों में जो वस्त्र पहनने की प्रवृत्ति चली उसका आरम्भ मांडवगढ़ में भट्टारक वसन्तकीर्ति से हुई थी।

को परित्त उपधि के उपरान्त औत्सर्गिक अथवा आपवादिक लिङ्ग रखने की आज्ञा से यह भी सिद्ध है कि पहले दिगम्बर सम्प्रदायवाले धार्मिक योग्यता के नाते स्त्री और पुरुषों में कुछ भी अन्तर नहीं मानते थे। यद्यपि स्त्री को सर्वथा नग्न रहने का निषेध था तथापि उनकी आत्मोन्नति की योग्यता पुरुषों से हीन नहीं मानी गई थी जैसा कि पिछले आचार्यों ने माना है। पिछले आचार्यों ने स्त्रियों में पंचम गुणस्थानक से आगे बढ़ने की योग्यता ही नहीं मानी, फिर वह चाहे मास-मास के उपवास करनेवाली और चारित्र पालनेवाली आर्या (साध्वी) ही क्यों न हो। पिछले दिगम्बर ग्रन्थकारों के मत से वह उतनी ही आत्मोन्नति करेगी जितनी कि एक देशविरति गृहस्थ श्रावक कर सकता है, परन्तु हम समझ सकते हैं कि भगवती-आराधनाकार आचार्य शिव आर्या और साधु की योग्यता में कोई अन्तर नहीं समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने आर्याओं के मरण को 'बाल-पण्डित मरण' न मानकर 'पण्डित मरण' माना है।

यद्यपि प्राचीन दिगम्बराचार्यकृत ग्रन्थों में श्रमण और आर्याओं की उपधि में क्या क्या उपकरण रहते थे, इसका कुछ निर्णय नहीं देखा जाता, तथापि उक्त आपवादिक लिङ्ग के विधान से और इसी ग्रन्थ के कतिपय अन्य उल्लेखों से यह निश्चित है कि वे वस्त्र और पात्र रखते अवश्य थे, पर इस प्रवृति को वे 'उत्सर्ग मार्ग' न कह कर 'अपवाद मार्ग' कहते थे।

पाठकों के विलोकनार्थ हम उन उल्लेखों को यहाँ उद्धृत करेंगे जिनसे कि दिगम्बर सम्प्रदाय में भी साधुओं के लिये पात्रों का रखना अनिवार्य ठहरता है।

साधु द्वारा किये जानेवाले कायिक विनय का वर्णन करते हुए शिवार्य कहते हैं—'आसन देना, उपकरण देना, उचित शरीर का स्पर्श

दूसरी बात टीकाकार ने यह कही कि राजादिवर्ग का मनुष्य वैराग्यशील हो, जो लिंगशुद्धि रहित हो, जिसकी पुरुषेन्द्रिय विकृत हो अथवा जो लज्जाशील हो या ठंडी आदि सहन करने में असमर्थ हो वह वैसा कर सकता है, अर्थात् अपवाद लिंग रूप टाट, (चटाई) वस्त्र आदि से अपनी लज्जा और शीत दूर कर सकता है।

करना (विश्राम के लिये पगचंपी वगैरह करना), समयोचित कार्य करना, भोजन लाना, संथारा करना, उपकरणों की प्रतिलेखना करना इत्यादि शरीर से साधुवर्ग का जो उपकार किया जाता है वह 'कायिक विनय है।'

भगवती आराधना की ३१० वीं गाथा में तो स्पष्ट रूप से आहार औषधादि द्वारा साधु अन्य साधु का वैयावृत्त्य करे ऐसा विधान किया है।

पाठकगण के विलोकनार्थ हम उस मूल गाथा को ही यहाँ उद्धृत कर देते हैं—

"सेज्जागासणिसेज्जा–उवधिपडिलेहणा उवगाहिदे।
आहारोसहवायण–विकिंचणुव्वत्तणादीया॥" ३१०॥

अर्थात् निवासस्थान, आसन, उपधि और औपग्रहिक उपकरणों की प्रतिलेखना करना; आहार, औषध, वाचना देना, मलमूत्र आदि को बाहर परठना (फेंकना), शरीर मर्दन आदि करना वैयावृत्त्य (सेवा-बन्दगी) कहलाता है।

यही गाथा कुछ परिवर्तन के साथ वट्टकेरस्वामी के मूलाचार ग्रन्थ में पञ्चाचाराधिकार में भी आती है, जहाँ उसके टीकाकार आचार्य वसुनन्दी लिखते हैं—"आहारेण—भिक्षाचर्यया, औषधेन—शुंठिपिप्पल्यादिकेन, शास्त्रव्याख्यानेन, च्युतमलनिर्हरणेन, वन्दनया च, शय्यावकाशेन, निषद्योपधिना, प्रतिलेखनेन च पूर्वोक्तानामुपकारः कर्तव्यः। एवैस्ते प्रतिगृहीता आत्मीकृता भवन्तीति।" (मूलाचार पृ० ३०८)

उसी भगवती आराधना की गाथा ६६५–६६८ में संलेखना करनेवाले साधु की सेवा संबंधी व्यवस्था बताते हुए शिवार्य कहते हैं—"लब्धिवान् और सरल प्रकृतिक चार मुनि उसके योग्य निर्दोष आहार लावें तथा चार वैसा ही निर्दोष पानी लावें, चार मुनि क्षपक के लिये प्रस्तुत किये हुए आहार-पानी के द्रव्यों की सावधानी से रक्षा करें और चार वैयावृत्त्य कर मुनि क्षपक के मलमूत्र आदि को परठे (बाहर ले जाकर छोड़ें) और समय पर उपधि, शय्या संथार आदि की प्रतिलेखना करें।"

इसी ग्रन्थ की गाथा ६९२ में ग्रन्थकार कहते हैं—'तेल और कसैले द्रव्य से क्षपक को बार बार कुल्ले कराने चाहिए ताकि उसकी जीभ और कान बलवान् और मुख तेजस्वी हो।'

ये ही ग्रन्थकार गाथा ७०२ और ७०३ में कहते हैं—"यदि क्षपक की इच्छा हो तो उसकी समाधि के लिये सब प्रकार का आहार लाकर उसे खिलाना चाहिए और फिर एक एक कम करते हुए पहले के आहार पर ले आना और क्रमशः भोजन का त्याग करवा कर उसे पानी पर ले आना चाहिये"।

मूलाचार के समाचाराधिकार की "गच्छे वेज्जावच्चं" इस १७४ वीं गाथागत 'वेज्जावच्च' शब्द की व्याख्या करते हुए वसुनन्दी श्रमणाचार्य लिखते हैं—"वेज्जावच्चं—वैयावृत्त्यं कायिकव्यापाराहारादिभिरुपग्रहणम्।" अर्थात् वैयावृत्त्य का अर्थ शारीरिक प्रवृत्ति और आहार आदि से उपकार करना है।

आचार्य वट्टकेर मूलाचार के समयसाराधिकार की ६१ वीं गाथा में कहते हैं—'साधुओं को साध्वियों के उपाश्रय में ठहरना, बैठना, सोना, पढ़ना और आहार नीहार करना (भोजन करना और टट्टी जाना) नहीं चाहिये'।

प्रिय पाठकगण! जो आचार्य गुणाधिक उपाध्याय, तपस्वी, शिष्य, दुर्बल, समनोज्ञ, गण, कुल और संघका आहार औषधादि से विनय वैयावृत्य करने की साधुओं को आज्ञा करते थे, क्षपक के लिये चार-चार साधुओं को आहार पानी लाने और मलमूत्र को दूर त्यागने के लिये नियत करने का विधान करते थे, उसको सब प्रकार का भोजन लाकर देने और तेल आदि के कुल्ले कराने की सलाह देते थे और जो आचार्य साधुओं के लिए साध्वियों के स्थान में आहार पानी करने का निषेध करते थे क्या उनके सम्बन्ध में भी यह कह सकते हैं कि वे पात्र रखने के विरोधी थे? हम जानते हैं कि वे स्वयं हाथों में भोजन करनेवाले थे तथापि साधुओं को ऊपर मुजब उपदेश देते थे। इसका अर्थ यही है कि उनके अपवादमार्ग से जाते थे।

यदि ऐसा न होता तो इन पात्रसाध्य कार्यों के विधान का कुछ अर्थ ही नहीं होता और 'गृहस्थ के ही घर में साधु भोजन करे' ऐसा पहले एकान्त नियम होता तो साध्वी के उपाश्रय में आहार करने के निषेध की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

ऊपर कहा गया है कि शिवभूति ने प्रारम्भ में अपने आचरण से जिनकल्प का पुनरुद्धार करने का निश्चय किया था, पर आगे जाने पर उन्हें अनुभव ने सिखाया कि वर्तमान समय में जिनकल्प को चलाना आसान नहीं है। एक व्यक्ति कैसा भी आचरण कर सकता है पर वैसे ही आचरणवालों की परम्परा जारी रखना सरल नहीं। परिणामस्वरूप अपने मार्ग को उन्होंने आचारांगोक्त मूल स्थविरमार्ग में परिगणित किया और इस उत्सर्गमार्ग को न पाल सके उनके लिये उसी सूत्र के अनुसार कुछ वस्त्र-पात्र रखने की व्यवस्थावाला अपवाद मार्ग भी नियत किया।

परिणाम

यद्यपि शिवभूति के सम्प्रदाय का उद्भव उत्तरापथ में हुआ था पर वहाँ उसका अधिक प्रचार नहीं हो सका। कारण स्पष्ट है। प्राचीन स्थविरसंघ का उन दिनों वहाँ पूर्ण प्राबल्य फैला हुआ था और मथुरा के आसपास के ९६ गाँवों में तो जैनधर्म राजधर्म के रूप में माना जाता था। इस स्थिति में शिवभूति या उनके अनुयायियों का वहाँ टिकना बहुत कठिन था। इस कठिनाई के कारण उस सम्प्रदाय ने उधर से हटकर दक्षिणापथ की तरफ प्रयाण किया, जहाँ आजीविक संप्रदाय के प्रचार के कारण पहले ही नग्न साधुओं की तरफ जन-साधारण का सद्भाव था। वहाँ जाने पर इस सम्प्रदाय की भी अच्छी कद्र हुई और धीरे-धीरे वह पगभर हो गया। यद्यपि सम्प्रदायवालों ने अपने संप्रदाय का नाम 'मूलसंघ' रक्खा था, पर दक्षिण में जाने के बाद वे 'यापनीय' और 'खमण' इन नामों से अधिक प्रसिद्ध हुए।

प्राचीन स्थविर परम्परा में प्रतिदिन शैथिल्य के भाव पड़ रहे थे। बस्ती में रहना तो उन्होंने पहले ही शुरू कर लिया था, अब धीरे-धीरे उनमें चारित्रमार्ग की अन्य शिथिलताएँ भी प्रवेश कर रही थीं। यद्यपि सुविहित गीतार्थ व्यवस्था बनाये रखने के लिये बहुत कुछ प्रयत्न कर

रहे थे, शिथिलाचारियों का 'पासत्था' आदि नामों से परिचय दे उनके चेप से बचने के लिये वे साधुओं को उपदेश दे रहे थे, फिर भी निम्न-गामी शैथिल्य-प्रवाह रोका नहीं जा सका। विक्रम की पाँचवीं और छठी सदी तक 'पासत्था' आदि नामों से पहचाने जानेवाले शिथिलाचारियों के गाँव-गाँव में अड्डे जमने लगे और उग्रविहारी सुविहितों की संख्या कम होने लगी। इस स्थिति से नवीन स्थविर (दिगम्बर) परम्परा ने पर्याप्त लाभ उठाया। परिमित वस्त्र-पात्र की छूट के कारण उनके यहाँ साधुओं की संख्या खूब बढ़ती गई और प्राचीनकालीन नग्नतादि उत्कृष्ट क्रियाओं के कारण गृहस्थवर्ग भी प्रतिदिन उनकी तरफ झुकता गया। परिणाम यह हुआ कि विक्रम की पाँचवीं सदी के आसपास जाकर इस परम्परा ने अपना स्वतन्त्र संघ स्थापित कर दिया और प्राचीन स्थविर-परम्परा के पूर्व नाम 'मूलसंघ' को अपने लिये व्यवहृत किया।

यद्यपि यह नया 'मूलसंघ' तबतक उन्हीं जैन आगमों से अपना काम चलाता था, तथापि महावीर का गर्भापहार, उनका विवाह आदि अनेक बातें वह नहीं भी मानता था और इस कारण वह धीरे-धीरे अपना नया साहित्य निर्माण किये जाता था।

प्राचीन स्थविर परम्परा के अधिक साधुओं के शिथिल और नित्य-वासी हो जानेपर भी उसमें त्यागी सुविहित श्रुतधरों की भी कमी न थी। नवीन परम्परा की उत्कृष्टता अथवा उन्नति के कारण नहीं, पर उसके नये विचार और कतिपय सिद्धान्तभेद के कारण उन्होंने इसका फिर प्रतिवाद करना शुरू किया और परिणामस्वरूप दोनों परम्परा-वालों में तनातनी बढ़ने लगी। छठी सदी के विद्वान् आचार्य कुन्दकुन्द[1],

---

१ आचार्य कुन्दकुन्द का समय हमने विक्रम की छठी सदी माना है। इसके अनेक कारण हैं, जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं—

(१) कुन्दकुन्दाचार्य कृत पञ्चास्तिकाय की टीका में जयसेनाचार्य लिखते हैं कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दाचार्य ने शिवकुमार महाराज के प्रतिबोध के लिये रचा था। डॉ० पाठक के विचार से यह शिवकुमार ही कदम्बवंशी शिवमृगेश थे जो संभवतः विक्रम की छठी शताब्दी के व्यक्ति थे। अतएव इनके समकालीन कुन्दकुन्द भी छठी सदी के ही व्यक्ति हो सकते हैं।

देवनन्दी वगैरह ने प्राचीन परम्परा से मजबूत मोरचा लिया। पहले जो सूत्र, निर्युक्ति आदि प्राचीन आगमों को इनके पूर्वाचार्य मानते आये थे, इन्होंने उनका मानना भी अस्वीकार कर दिया और अपने लिये आचार, विचार और दर्शनविषयक स्वतन्त्र साहित्य की रचना

---

(२) प्रसिद्ध दिगम्बर जैन विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमी ने नियमसार की एक गाथा खोज निकाली है, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द ने 'लोकविभाग' परमागम का उल्लेख किया है। यह 'लोकविभाग' ग्रंथ संभवतः सर्वनन्दी आचार्य की कृति है, जो कि वि० सं० ५१२ में रची गयी थी। इससे भी कुन्दकुन्द छठी सदी के ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त दो कारणों के अतिरिक्त कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अनेक उल्लेख ऐसे हैं जो उनको विक्रम की पांचवीं सदी के बाद का ग्रन्थकार सिद्ध करते हैं। उनमें से कुछ उल्लेख ये हैं—

(१) समय प्राभृत की गाथा ३५० तथा ३५१ में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—"लोगों के विचार में देव, नारक, तिर्यंच और मनुष्य प्राणियों को विष्णु बनाता है, तब श्रमणों (जैन साधुओं) के मत में षट्निकाय के जीवों का कर्ता आत्मा है।"

"इस प्रकार लोक और श्रमणों के सिद्धान्त में कोई विशेष नहीं है। लोगों के मत में कर्ता 'विष्णु' है और श्रमणों के मत में 'आत्मा'। कहने की जरूरत नहीं है कि 'विष्णु' को कर्तापुरुष माननेवाले 'वैष्णव' संप्रदाय की उत्पत्ति विष्णुस्वामी से ई० स० की तीसरी शताब्दी में हुई थी। उनके सिद्धान्त ने खासा समय बीतने के बाद ही लोक सिद्धान्त का रूप धारण किया होगा, यह निश्चित है। इससे कहना पड़ेगा कि कुन्दकुन्द विक्रम की चौथी सदी के पहले के नहीं हो सकते।

(२) कुन्दकुन्द ने 'बोधप्राभृत' की गाथा ६-८ और १० में क्रमशः 'आयतन', 'चैत्यगृह' और 'प्रतिमा' की चर्चा की है। जहाँ तक हमने देखा है, इन बातों की चर्चा चैत्यवास के साथ सम्बन्ध रखती हुई पायी गई है। अतएव इन चर्चाओं से पाया जाता है कि कुन्दकुन्द का अस्तित्व-समय "चैत्यवास" काल के पहले का नहीं हो सकता।

(३) 'भावप्राभृत' की १४९ वीं गाथा में कुन्दकुन्द ने 'शिव' 'परमेष्ठी' 'सर्वज्ञ' 'विष्णु' 'चतुर्मुख' आदि कतिपय पौराणिक देवों के नामों का उल्लेख किया है। इससे भी जाना जाता है कि वे पौराणिक काल में हुए थे, पहले नहीं।

को जिसमें वस्त्र-पात्र रखने का एकान्त रूप से निषेध किया। यद्यपि इस ऐकान्तिक निषेध के कारण उन्हें स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का भी निषेध करना पड़ा, क्योंकि स्त्रियों को सर्वथा अचेलक मानना अनुचित था और वस्त्रसहित रहते हुए उनकी मुक्ति मान लेने पर अपने

---

(४) 'भावप्राभृत' की १६२ वीं गाथा में वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का और 'मोक्षप्राभृत' की ४ थी गाथा में तथा 'रयणसार' की १३४ से १४५ पर्यन्त की गाथाओं में उन्होंने 'वाह्य' 'आभ्यन्तर' और 'पर' इन त्रिविध आत्माओं की चर्चा की है, जो विक्रम की पांचवीं सदी के बाद में प्रचलित होनेवाले विषय हैं।

(५) 'लिंग प्राभृत' की गाथा ९-१०-१६ और २१ वीं में साधुओं की आचार विषयक जिन शिथिलताओं की निन्दा की है उनको देखने से यही मानना पड़ता है कि कुन्दकुन्द उस समय के व्यक्ति थे जब कि साधुओं में पर्याप्त शिथिलता आ गई थी। उनमें गृहस्थों के जैसी अन्य प्रवृत्तियों के उपरान्त जमीन जागीर लेने और खेतीवाड़ी कराने तक की शिथिलता प्रविष्ट हो गयी थी। यह समय निश्चित रूप से विक्रमीय पाँचवीं सदी के बाद का था।

(६) 'रयणसार' की १८ वीं गाथा में सात क्षेत्र में दान करने का उपदेश करने के उपरान्त उसी प्रकरण की गाथा २८ वीं में कुन्दकुन्द कहते हैं—"पंचमकाल में इस भारतवर्ष में यंत्र-मंत्र-तंत्र-परिचर्या (सेवा या खुशामद), पक्षपात और मीठे वचनों के ही कारण दान दिया जाता है, मोक्ष के हेतु नहीं।'

इससे यह सावित होता है कि कुन्दकुन्द उस समय के व्यक्ति थे जब कि इस देश में तांत्रिक मत का खूब प्रचार हो गया था और मोक्ष की भावना की अपेक्षा सांसारिक स्वार्थ और पक्षापक्षी का बाजार गर्म हो रहा था। पुरातत्त्ववेत्ताओं को कहने की शायद ही जरूरत होगी कि भारतवर्ष की उक्त स्थिति विक्रम की पांचवीं सदी के वाद में हुई थी।

(७) 'रयणसार' की गाथा ३२ वीं में जीर्णोद्धार, प्रतिष्ठा, जिनपूजा और तीर्थवन्दनविषयक द्रव्यभक्षण करनेवाले को नरक-दुःख का भोगी बताकर कुन्दकुन्द कहते हैं—"पूजादानादि का द्रव्य हरनेवाला पुत्रकलत्रहीन, दरिद्र, पंगु, गूंगा, वहरा और अन्धा होता है और चाण्डालादि कुल में जन्म लेता है।"

इसी प्रकार अगली ३३-३६ वीं गाथाओं में पूजा और दानादि द्रव्य भक्षण करनेवालों को विविध दुर्गतियों के दुःखभोगी होना वतलाया है। इससे

वस्त्रधारी प्रतिस्पर्द्धियों की मुक्ति का निषेध करना असंभव था। इसी तरह केवली का कवलाहार मानने पर उसके लाने के लिये पात्र भी मानना पड़ता और इस दशा में पात्रधारी स्थविरों का खंडन नहीं करने पाते।

सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द के समय में देवद्रव्य और दान दिये हुए द्रव्यों की दुर्व्यवस्था होना एक सामान्य बात हो गई थी। मंदिरों की व्यवस्था में साधुओं का पूरा दखल हो चुका था और वे अपना आचार मार्ग छोड़ कर गृहस्थोचित चैत्य कार्यों में लग चुके थे। जैन इतिहास से यह बात सिद्ध है कि विक्रम की पाँचवीं सदी से साधु चैत्यों में रहकर उनकी व्यवस्था करने लग गये थे और छठी से दसवीं सदी तक उनका पूर्ण साम्राज्य रहा था। वे अपने अपने गच्छ-सम्बन्धी चैत्यों की व्यवस्था में सर्वाधिकारी के ढंग से काम करते थे। उस समय के सुविहित आचार्य इस प्रवृत्ति का विरोध भी करते थे, परन्तु उनपर उसका कोई असर नहीं होता था। इस समय को श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने "चैत्यवासप्रवृत्तिसमय" के नाम से उद्घोषित किया है। यही समय दिगम्बर सम्प्रदाय में "भट्टारकीय-समय" के नाम से पहचाना जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने ठीक इसी समय की प्रवृत्तियों का खण्डन किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वे पाँचवीं सदी के पूर्व के व्यक्ति नहीं थे।

(८) 'रयणसार' की १०५ तथा १०८ से १११ तक की गाथाओं में कुन्दकुन्द ने साधुओं की अनेक शिथिल प्रवृत्तियों का खण्डन किया है, जिनमें राजसेवा, ज्योतिषविद्या, मंत्रों से आजीविका, धनधान्य का परिग्रह, मकान, प्रतिमा, उपकरण आदि का मोह, गच्छ का आग्रह, वस्त्र और पुस्तक की ममता आदि बातों का खण्डन लक्ष्य देने योग्य है। कहने की शायद ही जरूरत होगी कि उक्त खराबियाँ साधु समाज में छठी और सातवीं सदी में पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो रही थीं। पाँचवीं सदी में इनमें से बहुत कम प्रवृत्तियाँ साधुसमाज में प्रविष्ट होने पायी थीं और विक्रम की तीसरी चौथी शताब्दी तक ऐसी कोई भी बात जैन निर्ग्रन्थों में नहीं पायी जाती थी। इससे यह निस्संदेह सिद्ध होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के बाद के ग्रन्थकार हैं। यदि ऐसा न होता और दिगम्बर जैन पट्टावलियों के लेखानुसार वे विक्रम की प्रथम अथवा दूसरी सदी के ग्रंथकार होते तो छठी सदी की प्रवृत्तियों का उनके ग्रन्थों में खण्डन नहीं होता।

इन नये सिद्धान्तों की योजना से उन्हें अपनी परम्परागत आपवादिक लिङ्ग प्रवृत्ति को स्वयं उठा देना पड़ा, क्योंकि ऐसा किये विना वे विरोधिपक्ष का सामना कर नहीं सकते थे।

कुन्दकुन्दाचार्य आदि के इन नये सिद्धान्तों से इस परम्परा को कुछ लाभ हुआ और कुछ हानि भी।

लाभ यह हुआ कि ऐसी ऐकान्तिक अचेलकवृत्ति से दक्षिण देश में, जहाँ पहले से ही आजीविक आदि नग्न सम्प्रदायवालों का मान और प्रचार था, इनके अनुयायी गृहस्थों की संख्या काफी बढ़ गई और इस कारण साधु समुदाय में भी वृद्धि हुई।

हानि यह हुई कि इनके नये सिद्धान्तों को इस परम्परा के सभी अनुयायियों ने स्वीकार नहीं किया और परिणाम स्वरूप यह परम्परा जो पहले केवल 'मूलसंघ' के नाम से पहचानी जाती थी अब से अनेक भागों में बँट गई और उसके अनेक संघ बन गये, 'यापनीयसंघ',

---

(९) कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथों में अनेक स्थान पर "गच्छ" शब्द का प्रयोग किया है जो विक्रम की पाँचवीं सदी के बाद का पारिभाषिक शब्द है। श्वेताम्बरों के प्राचीन भाष्यों तक में 'गच्छ' शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। हाँ, छठी सातवीं शताब्दी के बाद के भाष्यों, चूर्णियों और प्रकीर्णकों में 'गच्छ' शब्द का व्यवहार अवश्य हुआ है। यही बात दिगम्बर सम्प्रदाय में भी है। जहाँ तक हमें ज्ञात है उनके तीसरी चौथी शताब्दी के साहित्य में "गच्छ" शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ।

(१०) विक्रम की नवीं सदी के पहले के किसी भी शिलालेख, ताम्रपत्र या ग्रंथ में कुन्दकुन्दाचार्य का नामोल्लेख न होना भी यही सिद्ध करता है कि वे उतने प्राचीन व्यक्ति न थे जितना कि अधिक दिगम्बर विद्वान् समझते हैं। यद्यपि मर्करा के एक ताम्रपत्र में, जो कि संवत् ३८८ का लिखा हुआ माना जाता है, कुन्दकुन्द का नामोल्लेख है, तथापि हमारी इस मान्यता में कुछ भी आपत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि उस ताम्रपत्र में उल्लिखित तमाम आचार्यों के नामों के पहले 'भटार' (भट्टारक) शब्द लिखा गया है। इससे सिद्ध है कि यह ताम्रपत्र भट्टारक काल में लिखा गया है जो विक्रम की सातवीं सदी के बाद शुरू होता है। इस दशा में ताम्रपत्रवाला संवत् कोई अर्वाचीन संवत् होना चाहिये अथवा तो यह ताम्रपत्र ही जाली होना चाहिये।

'काष्ठासंघ' 'माथुरसंघ' वगैरह नामों से प्रसिद्ध हुए और एक दूसरे को भला बुरा कहने लगे।

विक्रम की सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ से दसवीं के अन्त तक के चार सौ वर्षों में दोनों स्थविर परम्पराओं में अनेक दिग्गज विद्वान् उत्पन्न हुए।

पहली परम्परा के विद्वानों में सिद्धसेनगणि, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, मल्लवादी, जिनदासगणिमहत्तर, हरिभद्रसूरि, बप्पभट्टिसूरि, शीलाङ्काचार्य आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

द्वितीय परम्परा में भी समन्तभद्र, अकलङ्कदेव, विद्यानन्दी, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, देवसेनभट्टारक आदि अनेक नामी विद्वान् हो गये। इन सभी विद्वानों ने अपनी अपनी कृतियों द्वारा अन्य दार्शनिक विद्वानों का सामना तो किया ही पर साथ ही साथ अपने विरुद्ध जैन परम्परा के सिद्धान्तों का खण्डन करने में भी कुछ उठा नहीं रक्खा। इसी समय से एक दूसरे को दिगम्बर श्वेताम्बर कहने का भी प्रारम्भ हुआ।

हम ऊपर कह आये हैं कि पहले पहल आवश्यक-भाष्यकार ने नूतन स्थविर परम्परा वालों को 'बोडिया' नाम से सम्बोधित करके इनके मत को 'मिथ्यादर्शन' कहा था और इसका उत्तर भी अनेक दिगम्बर विद्वानों ने दे दिया था; पर भट्टारक देवसेन ने अपने दर्शनसार और भावसंग्रह में श्वेताम्बरों को 'धूर्त, संशयमिथ्यादृष्टि, गृहिकल्पिक, व्रतभ्रष्ट, समन्यलिंगी, मार्गभ्रष्ट' आदि विशेषणों द्वारा उसका ब्याज के साथ बदला लिया और इन्हीं का अनुसरण पं० वामदेव, भट्टारक रत्ननन्दी प्रभृति पिछले विद्वानों ने किया।

भट्टारक देवसेन ने श्वेताम्बरों को गालियाँ देकर ही सन्तोष नहीं माना; किन्तु आवश्यक-भाष्य-चूर्णि में दिगम्बरों की जो उत्पत्ति लिखी है, उसके उत्तर में उन्होंने श्वेताम्बरों की उत्पत्तिविषयक एक कथा भी गढ़ दी, जो नीचे दी जाती है।

'जब विक्रम राजा को मृत्यु हुए एक सौ छत्तीस वर्ष हो

चुके तब सौराष्ट्र में 'वलभी' नगरी में श्वेतपट (श्वेताम्बर) संघ की उत्पत्ति हुई।

'उज्जयिनी नगरी में भद्रबाहु नामक एक अच्छे निमित्त शास्त्रवेत्ता आचार्य थे। उन्होंने निमित्तज्ञान से भविष्य जानकर अपने संघ से कहा—यहाँ बड़ा दुर्भिक्ष होनेवाला है, जो पूरे बारह वर्ष तक रहेगा। इसलिये अपने अपने संघ के साथ दूसरे देशों में चले जाना चाहिये। भद्रबाहु के उक्त वचन को सुनकर सब आचार्य अपने अपने संघ के साथ जहाँ सुभिक्ष था वहाँ चले गये। परन्तु एक शान्तिनामा आचार्य जो कि बहुशिष्य-परिवार युक्त था, सुन्दर सौराष्ट्र देश की वलभी नगरी पहुँचा, जाने के बाद वहाँ भी बड़ा भयंकर दुष्काल पड़ा। जहाँ भिखारियों ने पेट चीर भोजन निकालके खाया। इस निमित्त को पाकर सर्व साधुओं ने कम्बल, दण्ड, तुंबा और ओढ़ने के लिये श्वेत वस्त्र धारण किये। ऋषियों का आचार छोड़कर दीनवृत्ति से माँग कर भिक्षा ली और उपाश्रय में बैठकर यथेच्छ भोजन किया।

'इस प्रकार का आचरण करते करते कितना ही काल बीतने पर सुभिक्ष हुआ तब 'शान्ति' आचार्य ने अपने संघ को बुलाकर कहा—'अब इस कुत्सित आचरण को छोड़ो और इसकी निन्दा गर्हा कर फिर मुनींद्रों का आचार ग्रहण करो।' यह वचन सुन कर उनके प्रथम शिष्य ने कहा—'इस अति दुर्धर आचरण को कौन धारण कर सकता है ? न मिलने पर उपवास, दूसरे अनेक दुःसह अन्तराय, एक ही स्थान पर भोजन करना, अचेलक रहना, किसी चीज का न माँगना, ब्रह्मचर्य, जमीन पर सोना, दो दो महीने के बाद असह्य केश लोच करना, नित्य असह्य बाईस परीषहों का सहना (यह सब कठिन आचार इस समय कौन पाल सकता है ? इस समय तो) जो कुछ भी आचार हम ने ग्रहण किया है वही सुखकर है, दुःषमकाल में इसे छोड़ नहीं सकते।' तब शान्ति ने कहा—'चारित्रभ्रष्ट होकर जीवित रहना अच्छा नहीं, यह जैनमार्ग को दूषित करने वाला है। जिन भगवान् के कहे हुए निर्ग्रन्थ प्रवचन को छोड़ अन्यथा प्रवृत्ति करना मिथ्यात्व है।' इस पर रुष्ट होकर शिष्य ने (शान्ति के) मस्तक में एक

लम्बे दण्ड से प्रहार किया, जिसकी चोट से स्थविर मरकर व्यन्तर देव हुआ।

'तब पाखण्ड को प्रकट करने वाला शिष्य श्वेतपट संघ का अधिपति हुआ और 'सग्रन्थ को भी निर्वाण हो सकता है' इस प्रकार का धर्मोपदेश करने लगा।

'अपने अपने पाखण्ड के अनुकूल शास्त्रों की रचना की और लोगों में उनका व्याख्यान करके उसी प्रकार का आचार प्रचलित किया। (इस प्रकार) निर्ग्रन्थता को दूषित कर उसकी निन्दा और अपनी प्रशंसा कर वह कपटपूर्वक बहुद्रव्य ग्रहण करके मूर्ख लोगों में अपना जीवन बिताने लगा।

'उधर शान्ति आचार्य का जीव व्यन्तरदेव उपद्रव करके कहने लगा—'जिन धर्म पाकर मिथ्यात्व को मत प्राप्त होओ'। तब डर कर जिनचन्द्र ने उसकी सर्व-द्रव्य-सम्पूर्ण अष्टप्रकारी पूजा बनाई जो आज भी उसको दी हुई है। आज भी वह बलिपूजा सर्व प्रथम उसीके नाम से दी जाती है। वह श्वेतपट संघ का पूज्य-कुलदेव कहा गया।

'इस प्रकार मार्गभ्रष्ट सेवड़ों की उत्पत्ति कही।'

इसी आशय की श्वेताम्बरोत्पत्ति विषयक कथा ग्रन्थकार ने अपने 'दर्शनसार' नामक ग्रन्थ में भी लिखी है, पर वहाँ उन्होंने अपने अतिशय ज्ञान का भी परिचय दे दिया है, लिखा है 'और इस प्रकार अन्य भी आगमदुष्ट मिथ्याशास्त्रों की रचना करके 'जिनचन्द्र' ने अपनी आत्मा को प्रथम नरक में स्थापित किया।'

इसी कथा को पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदी के आस पास के दिगम्बर विद्वान् पं० वामदेव जी ने भी अपने भावसंग्रह में लिखा है, जहाँ अन्य वृत्तान्त तो इसी प्रकार का है, पर एक बात जो उन्होंने नयी कही है उसे नीचे लिख देते हैं।

'डरे हुए जिनचन्द्र ने उपद्रव की शान्ति के लिये आठ अंगुल लम्बे एक चतुरस्र काष्ठ पर उसका संकल्प कर के पूजन किया। श्वेत वस्त्र पर स्थापन करके विधिपूर्वक पूजन करने से उस व्यन्तर ने

उपद्रवात्मक चेष्टा को छोड़ दिया। वह 'पर्युपासन' नामक कुलदेव हुआ जो आज भी जलगन्ध आदि से बड़ी भक्ति से पूजा जाता है।'

'बीच में उत्तम श्वेतवस्त्र रख कर उसका पूजन किया इस कारण यह मत लोक में 'श्वेताम्बर' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ'।

विक्रम की सत्रहवीं सदी के भट्टारक रत्ननन्दी ने 'भद्रबाहु चरित्र' नामक एक ग्रन्थ बनाया है, यद्यपि इसका नाम भद्रबाहु-चरित्र है पर वास्तव में इसकी रचना श्वेताम्बर मत के खण्डन के लिये की गई है। इसमें भी श्वेताम्बरमतोत्पत्ति का वृत्तान्त दिया है, पर यह देवसेन और वामदेव के दिये हुए वृत्तान्तों से बिलकुल विलक्षण है। भट्टारकजी का दिया हुआ वृत्तान्त यहाँ पूरा पूरा उद्धृत करना तो अशक्य है; पर उसका संक्षिप्त सार दे देते हैं।

'एक समय श्रुतकेवली भद्रबाहु बारह हजार मुनि परिवार के साथ उज्जयिनी नगरी के बाहर उद्यान में पधारे। उज्जयिनी का राजा चन्द्रगुप्ति आचार्य महाराज के वन्दनार्थ गया और पिछली रात में देखे हुए १६ स्वप्नों का फल पूछा। भद्रबाहुस्वामी ने राजा को उसके स्वप्नों का फल बताया जिसे सुन कर राजा को वैराग्य प्राप्त हुआ और भद्रबाहु के पास दीक्षा ले जैन मुनि हो गया।

'एक समय भद्रबाहु स्वामी जिनदास सेठ के घर आहार के लिये गये, तब घर में जाते ही वहाँ पालने में झूलते हुए दो मास के बालक ने उनसे कहा—'आओ आओ।' स्वामी ने पूछा—कितने समय तक ? बालक ने उत्तर दिया—'बारह वर्ष पर्यन्त।'

'भद्रबाहु ने स्थान पर आकर मुनिसंघ को बुलाकर कहा—साधुओ ! इस देश में बारह वर्ष का भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने वाला है, इस वास्ते संयमार्थी मुनियों के लिए अब इस देश में रहना उचित नहीं है।

'भद्रबाहु के वचन सुनकर संघ वहाँ से विहार करने को तत्पर हुआ। उज्जयिनी के धनाढ्य श्रावकों के वहाँ रहने के लिये आग्रह करने पर भी जब भद्रबाहु ने वहाँ रहना स्वीकार नहीं किया तब उन्होंने रामल्य स्थूलाचार्य, स्थूलभद्र वगैरह साधुओं से वहाँ रहने की प्रार्थना की और उसे उन्होंने स्वीकार किया और बारह हजार साधु वहीं ठहरे।

'भद्रबाहु उज्जयिनी से बारह हजार साधुओं के साथ कर्नाटक की तरफ विहार कर गये, एक बड़ी अटवी में जाकर उन्होंने निमित्त से अपनी आयुष्य अल्प जानकर विशाखाचार्य को संघ के साथ आगे विहार कराके आप वहीं अटवी में चन्द्रगुप्त मुनि के साथ ठहरे, अनशन किया और समाधि मरण कर स्वर्ग सिधारे। चन्द्रगुप्ति मुनि गुरु के चरणों का आलेखन कर उनकी सेवा करते और कान्तारवृत्ति से जीवन निर्वाह करते हुए वहीं रहे।

'विशाखाचार्य संघ के साथ चोलदेश पहुँचे। उधर उज्जियिनी में घोर दुर्भिक्ष पड़ा। एक दिन रामल्य, स्थूलभद्रादि आहार करके वन में जा रहे थे, उनमें से एक मुनि पीछे रह गये। भीखमंगों ने उनका पेट फाड़ भोजन निकाल खाया यह बात नगर में पहुँचते ही हाहाकार मच गया और श्रावकों ने एकत्र हो मुनि मंडल से प्रार्थना की—'भगवन्! बड़ा विषमकाल है इस समय आप नगर में पधार जायँ तो बहुत अच्छा हो। क्योंकि ज्ञानियों के लिये वन और नगर दोनों समान हैं।' श्रावकों की प्रार्थना का स्वीकार हुआ तब श्रावकों ने समहोत्सव उन्हें नगर में लाकर ज्ञाति के बन्धनानुसार भिन्न भिन्न उपाश्रयों में ठहराया।

'प्रतिवर्ष भीषण दुर्भिक्ष पड़ रहे थे और रंक भीखमंगों की बाढ़सी आ गई थी जिनके भय से गृहस्थ लोग दिन भर किवाड़ बन्द कर रहने लगे। साधु आहार के लिये जाते तो रंक उनके भी पीछे पड़ते, जिन्हें श्रावक लोग लाठियों से मारकर दूर करते, इस विपत्ति से घबरा कर श्रावक लोगों से साधुओं ने कहा—महाराज, भीखमंगों से नाकों दम आ गया है और हम लोग रसोई भी इनके डर से रात्रि के ही समय करते हैं, मिहरबानी करके आप भी रात्रि के ही समय हमारे यहाँ से पात्र में आहार ले जायँ और दिन में उसका भोजन करें। श्रावकों के इस वचन पर सघ ने विचार कर के निर्णय किया—'जब तक विषम काल है तब तक ऐसा ही करेंगे, और उन्होंने तुम्बी का पात्र और भिक्षुक तथा कुत्तों के भय से हाथ में लाठी धारण की। गृहस्थों के घर से आहार लाकर एक दूसरे को देने लगे और मकान का द्वार बन्द कर गवाक्ष के उजाले में भोजन करने लगे।

'एक दिन रात्रि के समय आहार के लिये गये हुए क्षीणकाय नग्न साधु को देखकर यशोभद्र की सगर्भा स्त्री राक्षस की भ्रान्ति से डर गई और उसका गर्भपात हो गया। साधु तो यों ही लौट गया पर श्रावकों में इस घटना से हाहाकार मच गया और उन्होंने साधुओं से जाकर कहा—'मुनि महाराज! समय बड़ा खराब है और आपका यह रूप भी भयंकर है, इस वास्ते सुभिक्ष होने तक आप आधा वस्त्र पहनकर कंधे पर कम्बल रख रात्रि के समय आहार लेने जायँ और दिन में भोजन करें।' श्रावकों की प्रार्थना से साधुओं ने वैसा ही किया और धीरे-धीरे वे शिथिल हो गये।

'बारह वर्ष के बाद देश में फिर सुभिक्ष हुआ और विशाखाचार्य दक्षिण देश से चलकर उत्तर देश में क्रमशः कान्यकुब्ज नगर के बाहर उद्यान में पधारे।

'स्थूलाचार्य ने विशाखाचार्य को आया सुनकर उन्हें देखने के लिए अपने शिष्य भेजे। मुनियों ने जाकर आचार्य को वन्दन किया पर उन्होंने उन्हें प्रतिवन्दना नहीं की और कहा—'यह कौन सा नया मत निकाला है?' साधु लज्जित होकर वापस आये और सब वृत्तान्त अपने गुरु को कह सुनाया।

'रामल्य, स्थूलभद्र और स्थूलाचार्य ने सब साधुओं को इकट्ठा करके कहा—'अब हमें क्या करना चाहिये?' इस पर स्थूलाचार्य ने अपना अभिप्राय व्यक्त करते हुए कहा—'इस बुरे आचार को छोड़ कर जिन मार्ग का स्वीकार कर छेदोपस्थापना करनी चाहिये।' साधुओं को स्थूलाचार्य की बात पसंद न आयी, उन्होंने कहा—'इस सुगम मार्ग को छोड़ कर अब दुष्कर मार्ग कौन ग्रहण करेगा?' स्थूलाचार्य बोले—'यह मत अच्छा नहीं है, मूलमार्ग को छोड़ कायरों का मार्ग पकड़ना संसार भ्रमण का कारण है' इस पर कितनेक भव्यात्माओं ने तो मूलमार्ग का स्वीकार कर लिया पर कितनेक उस सत्य वचन से उलटे जलने लगे और बोले—'यह बूढ़ा क्या जानता है? इसकी बुद्धि में भ्रम हो गया है, जो इस प्रकार बकता है, परन्तु जब तक यह जीता है हमें सुख से नहीं रहने देगा' यह कह कर उन पापियों ने उन्हें दण्डों से मारकर गड्ढे में फेंक

दिया। आर्तध्यान से मरकर आचार्य व्यन्तर देव हुआ और अवधि-ज्ञान से पूर्व भव देख कर इन नामधारी साधुओं को दुःख देने लगा। तब भयभीत होकर उन्होंने मिलकर उससे अपराध की क्षमा मांगी; देव ने कहा—'विपरीत मार्ग को छोड़ कर संयम मार्ग को स्वीकार करो।' साधु बोले—'यह दुर्धर मार्ग पालना तो कठिन है, पर गुरु-बुद्धि से तुम्हारी पूजा नित्य किया करेंगे' इत्यादि विनय से व्यन्तर को शान्त किया और गुरु की हड्डी लाकर उसमें गुरु की कल्पना कर नित्य पूजने लगे। आज भी क्षपक अस्थि की कल्पना से उसे 'खमणादिहडी' कहते हैं। फिर उसकी शान्ति के लिये आठ अंगुल लम्बी काठ की चतुरस्र पट्टी को 'वही यह है' ऐसी कल्पना कर उसे विधिपूर्वक पूजा। तब उसने उपद्रव की चेष्टा छोड़ दी और इनका 'पर्युपासन' नामक कुलदेव हुआ, जो आज तक बड़ी भक्ति से पूजा जाता है। इस प्रकार लोक में यह 'अर्धफालक' नामक अद्भुत मत कलिकाल के बल से फैल गया।

'जिस व्रत का इन पञ्चेन्द्रियलोलुपों ने स्वयं आचरण किया था उसी प्रकार अपनी बुद्धि से सूत्र में लिख दिया।

'इस प्रकार बहुत समय व्यतीत हो गया। एक समय वलभी के राजा लोकपाल की रानी चन्द्रलेखा, जो कि उज्जयिनी के राजा चन्द्रकीर्ति की पुत्री और अर्धफालक मतवालों की शिष्या थी, अपने पति से बोली—'कान्यकुब्ज' नगर में हमारे गुरु महाराज विचरते हैं सो आप उन्हें यहाँ बुलायें।' रानी के कथन से राजा ने जिनचन्द्रादि अर्धफालकों को वलभीपुर बुलाया। प्रवेशमहोत्सव के दिन राजा उनकी अगवानी के लिये गया, पर साधुओं को नग्न और वस्त्रधारियों से विलक्षण वेषवाला देख कर वह वापस चला आया। रानी को इस बात का पता लगते ही गुरु के पास काफी संख्या में श्वेत वस्त्र भेजे जिन्हें उन्होंने लेकर धारण किया। फिर राजा ने उनकी भक्तिपूर्वक पूजा की। श्वेतवस्त्रों के धारण करने से उसी दिन से अर्धफालक मत से 'श्वेताम्बर' मत प्रकट हुआ।

'विक्रम राजा की मृत्यु के बाद एक सौ छत्तीस वर्ष बीतने पर लोक में श्वेताम्बर नामक मत उत्पन्न हुआ। केवली को भोजन, स्त्री

और ससंग साधुओं को उसी भव में मोक्ष, गर्भापहार आदि बातों का प्रतिपादक आगम-संग्रह उसी मूढ़ जिनचन्द्र आचार्य ने रचा।'

इन कल्पित कथाओं को यहाँ लिख कर इन्हें हम अप्राप्त महत्त्व नहीं देते और न इनकी मीमाँसा करने का ही कष्ट उठाते, परन्तु हम देखते हैं कि आजकल के बहुतेरे दिगम्बर विद्वान् भी इन्हें सत्य मानते हैं और इन्हीं बूतों पर श्वेताम्बर जैन संघ को अर्वाचीन ठहराने की चेष्टा करते हैं।

मीमांसा

प्रथम तो देवसेन भट्टारक दसवीं और पं० वामदेव और रत्ननन्दी भट्टारक क्रमशः सोलहवीं सत्रहवीं सदी के लेखक हैं। इनके पहले के किसी भी दिगम्बरीय जैन ग्रन्थ में इन कथाओं का उल्लेख नहीं है। इस दशा में क्रमशः साढ़े आठ सौ, चौदह सौ और पन्द्रह सौ वर्ष के बाद निराधार लिखे गये ये किस्से स्वयं ही महत्त्वहीन ठहरते हैं। दूसरे ये सभी लेखक इस विषय में एकवाक्य भी नहीं हैं। देवसेन दुर्भिक्ष के कारण दण्ड, कम्बल, तुम्बी और श्वेतवस्त्र धारण करने के कारण 'श्वेताम्बर' नाम पड़ा बताते हैं, वामदेव काठ की पट्टी पर श्वेतवस्त्र स्थापन करके व्यन्तर देव की पूजा करने के कारण 'श्वेताम्बर' नाम पड़ा लिखते हैं, और रत्ननन्दी रानी चन्द्रलेखा के कहने से श्वेतवस्त्र धारण करने से 'श्वेताम्बर' मत प्रकट होना लिखते हैं।

देवसेन और वामदेव, दूसरे नैमित्तिक भद्रबाहु ने उज्जयिनी से जिस दुर्भिक्ष के कारण दक्षिण में विहार किया था उसी दुर्भिक्ष के समय श्वेताम्बरों की उत्पत्ति बताते हैं, तब रत्ननन्दी दुर्भिक्ष का वृत्तान्त प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जोड़ते हैं और उस समय उज्जयिनी में 'अर्धफालक' मत की उत्पत्ति हुई लिखते हैं और फिर बहुत समय के बाद वलभी में सुभिक्ष के समय में रानी के कहने से श्वेत वस्त्रों को धारण कर 'श्वेताम्बर' हुए लिखते हैं।

देवसेन जिनचन्द्र द्वारा शान्तिव्यन्तर की सर्व द्रव्यों से अष्टविध पूजा प्रचलित होना और अपने समय तक उसका चालू रहना बताते हैं, तब वामदेव और रत्ननन्दी आठ अंगुल लम्बी चौरस काठ की

पट्टी पर श्वेत वस्त्र स्थापन कर पूजा करना और अपने समय तक उसका चालू रहना बताते हैं।

देवसेन शान्तिव्यन्तर को श्वेताम्बरों का पूज्य कुलदेव मात्र लिखते हैं तब पिछले दोनों लेखक उसका 'पर्युपासन' नाम होना बताते हैं।

रत्ननन्दी शिष्यों द्वारा शान्ति की हड्डियों को इकट्ठा कर पूजना और वह रीति अपने समय तक चालू रहना और उसका नाम 'खमणादिहडी' प्रसिद्ध होना लिखते हैं जिसका कि प्रथम दो लेखकों ने कुछ भी उल्लेख नहीं किया।

इस प्रकार इन लेखकों के परस्पर विरुद्ध कथन से ही इन कथाओं का बाह्य कलेवर तो स्वयं जर्जरित हो जाता है; परन्तु 'स्थान' और 'समय' इन दो बातों में ये सभी लेखक एक मत हैं, अर्थात् सब विक्रमराजा की मृत्यु के बाद १३६ वर्ष बीतने पर वलभी नगरी में श्वेताम्बर मत का उत्पन्न होना बताते हैं।

अब हम यह देखेंगे कि लेखकों की ये बातें अपने उद्भव में कुछ आधार भी रखती हैं या नहीं।

विक्रम की दूसरी शताब्दी के द्वितीय चरण में वलभी में 'मतोत्पत्ति' बताना निराधार है, क्योंकि उस समय वलभी का अस्तित्व था इसमें कोई प्रमाण नहीं है, वलभी कनकसेन के समय विक्रम की तीसरी शताब्दी में बसी थी, यह बात इतिहास प्रसिद्ध है।

वलभी नगरी और शान्तिसूरि इन दो नामों के उल्लेख से हम समझते हैं कि इन कथाओं का सम्बन्ध विक्रम की छठी शताब्दी के प्रथम चरण में वलभी में घटी हुई किसी घटना के साथ होना चाहिए।

वीर संवत् ९८० (विक्रम संवत् ५१०) में वलभी में माथुर और वाल्भ्य नाम से प्रसिद्ध दो श्वेताम्बर जैन संघों का सम्मेलन हुआ था और दोनों संघों ने दोनों वाचनाओं का समन्वयपूर्वक एकीकरण किया था। इस सम्मेलन में माथुर संघ के प्रधान देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण थे और वाल्भ्य संघ के प्रमुख कालकाचार्य और उपप्रमुख गंधर्व वादि वेताल शान्तिसूरि।

हम ऊपर कह आये हैं कि वालभ्य संघ नग्नता धारण करने वालों के विषय में बहुत अनुदार था और इसी कारण महागिरि के शिष्य बलिस्सह और स्वाति जैसे स्थविरों के नाम भी अपनी युगप्रधानावली में रखने की उदारता नहीं कर सका। आश्चर्य नहीं कि इसी सम्मेलन में दिगम्बरों के साथ भी मेल जोल करने सम्बन्धी कोई प्रस्ताव उपस्थित हुआ हो, पर वालभ्य संघ तथा खासकर शान्तिसूरि के शिष्यों ने उसे सफल न होने दिया हो और इस कारण दिगम्बर परम्परा-वालों ने शान्तिसूरि और उनके शिष्यों को कोसा हो।

सभी दिगम्बर लेखक श्वेताम्बरमत-प्रवर्तक का नाम 'जिनचन्द्र' लिखते हैं और वर्तमान जैन आगम उसी जिनचन्द्र के बनाये हुए बताते हैं। हम समझते हैं कि दिगम्बरों का यह 'जिनचन्द्र' और कोई नहीं, आचार्य 'जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण' हैं; जिनका समय विक्रम की छठी और सातवीं सदी का मध्य भाग था।

जिनभद्र उस समय की श्वेताम्बर परम्परा के युगप्रधान आचार्य ही नहीं वरन् कट्टर साम्प्रदायिक सिद्धान्तकार भी थे। इन्होंने विशेषा-वश्यकभाष्यादि अनेक भाष्य और अन्य प्रकरण ग्रन्थों की रचना की है। दिगम्बर विद्वान् इनको इतना कोसते हैं इसका यही कारण है कि इन्होंने दिगम्बरों का बड़ी कट्टरता पूर्वक खंडन करके श्वेताम्बर परम्परा को पुष्ट किया था।

भट्टारक देवसेन उपद्रव की शान्ति के लिये शान्ति व्यन्तर की पूजा करने की जो बात कहते हैं, वह वास्तव में श्वेताम्बर जैन परम्परा में प्रसिद्ध 'शान्तिस्नात्र' की सूचना है। श्वेताम्बरों में बहुत पुराने समय से 'जिन भगवान् का जन्माभिषेक महोत्सव' करने की प्रवृत्ति चली आती थी जो पिछले समय में 'शान्तिस्नात्र' और 'शान्तिपूजा' इन नामों से प्रचलित हुई थी जो आज तक इन्हीं नामों से प्रसिद्ध है। इसमें भगवान् आदिनाथ, अजितनाथ, शान्तिनाथ और पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं का २७ बार अथवा १०८ बार अभिषेक और पूजन किया जाता है। इसके प्रारम्भ में ग्रह और दिक्पालों को बलिदान भी किया जाता है। मालूम होता है भट्टारक देवसेनजी ने इसी शान्तिपूजा का नाम

सुनकर द्वेषवश 'शान्तिव्यन्तर' और उसकी पूजा की कल्पना गढ़ ली है।

पं० वामदेवजी 'आठ अंगुल लंबी चतुष्कोण काठ की पट्टी पर श्वेतवस्त्र बिछाकर शान्तिव्यन्तर की पूजा करने की बात कहते हैं। यह कथन वस्तुतः श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित योग-क्रिया का सूचक है। श्वेताम्बर मुनि सूत्रों के योग-सम्बन्धी काल, ग्रहण, स्वाध्याय प्रस्थापन आदि क्रियायें करते समय करीब आठ अंगुल लम्बी और चार पाँच अंगुल चौड़ी एक काठ की पट्टी अपने सामने रखते हैं और उस पर श्वेतवस्त्रिका भी बिछाते हैं। उसके आगे जो विधि की जाती है उसमें हस्तक्रिया भी ऐसी ही होती है, जिसे अनभिज्ञ आदमी नमस्कार ही समझ ले। पं० वामदेवजी ने इस प्रकार की योग-क्रिया करते हुए श्वेताम्बर मुनियों को कहीं देखकर यह मान लिया है कि यह शान्तिव्यन्तर की पूजा करते हैं।

पं० वामदेवजी 'पर्युपासन' यह नाम कहाँ से उठा लाये इसका कुछ पता नहीं चलता, क्योंकि इस नाम का या इसके मिलते जुलते नाम का श्वेताम्बर सम्प्रदाय में कोई भी देव नहीं माना गया है।

भट्टारक रत्ननन्दी की हड्डियों को पूजने की कल्पना ने तो पहले के दोनों लेखकों को मात कर दिया। श्वेताम्बर जैन साधु अपने पास जो स्थापनाचार्य रखते हैं उन्हीं को लक्ष्य करके रत्ननन्दी की यह कल्पना है। श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के साधुओं में अपने आचार्य की स्थापना रखने को प्राचीन प्रवृत्ति है। स्थापना में आचार्य की मूर्ति या चित्र नहीं किन्तु पाँच कौड़े रखते हैं। जिनका आकार घुटने के ऊपर की हड्डी से कुछ मिलता जुलता सा होता है, भट्टारक जी महाराज ने इन्हें कहीं देख लिया और तुरन्त लिख दिया कि 'ये शान्तिसूरि की हड्डियाँ हैं।' वे जो यह कहते हैं कि 'आज भी ये 'खमणादिहड्डी' इस नाम से प्रसिद्ध हैं' सो शायद यह कल्पित नाम नन्दी क्रिया में 'खमासमणहत्थेणं' इस शब्द के ऊपर से अथवा गुरु को वन्दन करने के लिए जो 'खमासमणों,' शब्द बोलते हैं उसके ऊपर से यह 'खमणादिहड्डी' नाम गढ़ लिया गया है।

उसी निबन्ध में डा० हार्नले कहते हैं—'यह सम्भवित जान पड़ता है कि निर्ग्रन्थ समाज में सामान्य नियम लंगोटी पहनने का था और केवल नग्नता का सम्प्रदाय गोशालक की टोली में ही प्रवर्तमान था।' (जैन साहित्य संशोधक पृ० ३५०)

डा० हार्नले अपने उसी निबन्ध में आगे जाकर कहते हैं—'आजीविक पक्ष के जो मनुष्य अपनी तरफ सक्रिय सहानुभूति रखते थे उनको लेकर गोशालक (महावीर से) दूर हो गया, इस प्रकार जुदा पड़ने वालों का समूह बड़ा था। या तो वह अपने नेता गोशालक की मृत्यु के बाद जीवित रहा था यह मान लेने का कोई कारण नहीं है। जो गोशालक की नीति के विरुद्ध आचार-विचारों के समर्थक नहीं थे वे आजीविक पक्ष के मनुष्य निर्ग्रन्थ संघ में हो रहे, परन्तु सम्पूर्ण नग्नता, भिक्षापात्र का त्याग, अहिंसा विषयक अपूर्ण सावधानी, दण्ड की विशिष्ट संज्ञा और सम्भवतः अन्य बातों सम्बन्धी अपने विचारों को रक्खे रहे। इन भेदों के कारण आजीविक पक्ष और निर्ग्रन्थ समूह के बीच अवश्य ही कुछ संघर्षण तो था ही, पर खास करके वह आजीविकों के प्रति सहानुभूति रखने वाले भद्रबाहु के समय में बाहर आया। ई० स० पहले की तीसरी सदी के पूर्व भाग में वह पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ और तेरासि (त्रैराशिक) के नाम से परिचित पक्ष निश्चित रूप से हमेशा के लिये जुदा पड़ा और उसका विशिष्ट संघ बना जो अब 'दिगम्बर' कहलाता है। इस प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन विभागों के मूल का उद्गम जैन धर्म के मूल प्रारम्भ तक में ज्ञात होता है, कारण कि इसका अस्तित्व परोक्ष रीत्या दो परस्पर विरोधी विभागों के प्रतिनिधि स्वरूप महावीर और गोशालक नाम के दो सहचर अग्रेसरों के वैमनस्य के आभारी हैं।' (जै० सा० सं० ३५६)

दिगम्बर विद्वान् अपने आचार्यों द्वारा गढ़ी हुई भद्रबाहु विषयक कल्पित कथा को सत्य ठहराने के लिये 'प्रख्यात यूरोपीय विद्वान्' कहकर जिनके अभिप्राय को गर्वपूर्वक उद्धृत करते हैं, उन्हीं डाक्टर हार्नले के उपर्युक्त उल्लेख हैं जिनमें वे महावीर को भिक्षापात्र की छूट रखनेवाला, उनके निर्ग्रन्थों को लंगोटी पहनने वाला और आधुनिक

दिगम्बर संघ को भद्रबाहु के समय में निर्ग्रन्थ संघ से जुदी पड़ी हुई गोशालक सन्तति होना बताते हैं। क्यों विद्वानो ! प्रख्यात यूरोपीय विद्वान् के इन विचारों को भी आप अक्षरशः सत्य मानेंगे न ?

इसी प्रकार डा० जे० स्टीवेन्सन और मि० एम० एस० रामस्वामी ऐयंगर ने ईसा की प्रथम शताब्दी में श्वेताम्बर-दिगम्बरों के पृथक् होने की जो बात कही है, उसका आधार भट्टारक देवसेन की वह कथा है जो कि उन्होंने श्वेताम्बरों की उत्पत्ति के विषय में गढ़ी है। यदि ये विद्वान् इस कथा को कसौटी पर चढ़ा कर जाँच करते तो विक्रम संवत् के निर्देश आदि से अपने आप इसकी नूतनता और कृत्रिमता प्रकट हो जाती।

हमने ऊपर इस कथा की जो मीमांसा की है, उससे विचारक समझ सकते हैं कि इस कथा में कुछ भी वास्तविकता नहीं है और जब आधारभूत वृत्तान्त ही कृत्रिम है, तो उसके आधार पर व्यक्त किये गये आधुनिक विद्वानों के अभिप्रायों का मूल्य कितना हो सकता है ? विचारक पाठकगण स्वयं निर्णय कर सकते हैं।

एनसाइक्लोपीडिया-बृटेनिका के किसी लेखक ने श्वेताम्बर जैन संघ की पुस्तकलेखन-संबंधी घटना का रहस्य न समझ कर उसे श्वेताम्बरों की उत्पत्ति मानने की भूल कर ली और उस भूल को प्रमाण के तौर पर उद्धृत करके दिगम्बर विद्वानों ने कह दिया कि देखो ! इसमें श्वेताम्बरों की उत्पत्ति पाँचवीं सदी में होना लिखा है। परन्तु उन्हें यह तो समझ लेना चाहिये था कि जब दिगम्बराचार्य स्वयं भी श्वेताम्बरों की उत्पत्ति विक्रम की दूसरी शताब्दी में हुई लिखते हैं तब यह पाँचवीं सदी बतानेवाला लेखक किस प्रकार प्रामाणिक हो सकेगा; परन्तु जिन्हें येन केन प्रकारेण श्वेताम्बरों की अर्वाचीनता ही सिद्ध करना है, उन्हें इन बातों से क्या मतलब ?

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता

ऊपर हमने यह बताने का यत्न किया है कि श्वेताम्बरों की उत्पत्ति के विषय में प्राचीन और आधुनिक विद्वानों ने जो कुछ लिखा है, उसमें वे सफल नहीं हुए, बल्कि उन्हीं के लेखों से श्वेताम्बर परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है।

इस प्रकार श्वेताम्बरोत्पत्ति के विषय में दिगम्बराचार्यों ने जो कथाएँ गढ़ी हैं उनका शरीर भानमती के पिटारे की तरह इधर उधर की नयी पुरानी बातों से भरा गया है। विक्रम संवत् १३६ में श्वेताम्बरों के उत्पन्न होने का जो कथन है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि लगभग इसी अर्से में शिवभूति ने जिनकल्प की हिमायत की थी और स्थविरों के निषेध करने पर भी वे जिनकल्पी बनकर गच्छ से निकल गये थे। सम्भव है कि नग्नता का सक्रिय विरोध करने के लिये स्थविरकल्प के नाम से चली आती हुई ऐच्छिक नग्नता का प्रचार भी उसके बाद रोक दिया गया हो और अपने विरुद्ध वस्त्रधारियों की इस प्रवृत्ति को पिछले दिगम्बराचार्यों ने 'श्वेताम्बरमतोत्पत्ति' के नाम से प्रसिद्ध कर दिया हो। ऐसा होना संभव भी है, क्योंकि श्वेताम्बरों ने दिगम्बरों के मत की उत्पत्ति लिखी थी तो दिगम्बरों को भी उसका कुछ न कुछ उत्तर तो देना ही था।

आधुनिक विद्वानों के विचार—

हम प्रारम्भ में ही कह आये हैं कि महावीर के शिष्यों का मुख्य भाग वस्त्रधारी होता था, तथापि संहनन, श्रुतज्ञान आदि की योग्यता प्राप्त करने के उपरान्त कितने ही जिनकल्प का स्वीकार कर नग्नावस्था में भी रहते थे और इस परिस्थिति के कारण प्राचीन जैन जैनेतर शास्त्रों में जैनश्रमणों के सम्बन्ध में नग्नतासूचक उल्लेख मिल जायँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इस प्रकार के उल्लेखों को देखकर कुछ यूरोपीय अथवा भारतवर्षीय विद्वानों ने लिख दिया कि 'प्राचीन समय में जैनश्रमण नग्न होते थे' तो इसमें आश्चर्य नहीं है। हम खुद भी तो कहते हैं कि जैन श्रमणों में कुछ नग्न भी होते थे, पर इससे यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि सभी जैन श्रमण नग्न होते थे, वस्त्रधारी होते ही नहीं थे?

बौद्धों की अर्वाचीन जातक कथाओं में निर्ग्रन्थ श्रमणों को 'नग्न निर्ग्रन्थ' लिखा देखकर कोई कह दे कि 'प्राचीन निर्ग्रन्थ भी नग्न होते थे' तो ऐसे आंशिक ज्ञानवालों के कथन से प्राचीन श्रमणों की नग्नता साबित नहीं हो सकती। जिन्होंने बौद्धों के सब से प्राचीन पालिग्रन्थों

और प्राचीन जैन सूत्रों का तलस्पर्शी अध्ययन किया है ऐसे विद्वानों की सम्मति ही इस विषय में अधिक विश्वसनीय हो सकती है।

डाक्टर हर्मन जेकोबी इसी प्रकार के विद्वान हैं और इन्होंने जैन-सूत्रों की प्रस्तावना में प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों के उल्लेखों से यह बात अच्छी तरह सिद्ध कर दी है कि प्राचीन निर्ग्रन्थ श्रमण एक वस्त्र रखते थे। इसीलिए बौद्ध लोग उन्हें 'एक साटक' कहा करते थे।

कतिपय कट्टर साम्प्रदायिक आधुनिक दिगम्बर डा० हार्नले जैसे विचारकों के किसी एकदेशीय अभिप्राय को पढ़कर उसे आप्त वाक्य से भी अधिक मान बैठते हैं और कहने लगते हैं कि देखो, हार्नले साहब के कथन से श्वेताम्बर संघ की उत्पत्तिविषयक दिगम्बर जैन कथानकों की सत्यता झलक जाती है। परन्तु वे यह नहीं सोचते कि हार्नले साहब ने उस कथानक की सत्यता में न तो कोई प्रमाण दिया है और न उसकी कसौटी ही की है। उन्होंने भद्रबाहु श्रुतकेवली के दक्षिण में जाने और बाद में श्वेताम्बर मत की उत्पत्ति बतानेवाला दिगम्बर जैनों का अर्वाचीन कथानक बिना विचारे ही अक्षरशः सत्य मानकर दुष्काल में मगध में रहने वाले मुनियों के वस्त्रधारण करने के कारण दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायों का विभाग होना बता दिया। यदि उन्होंने इस कथानक को कसौटी पर चढ़ाया होता, तो उन्हें ज्ञात हो जाता कि यह कथानक जो वृत्तान्त उपस्थित करता है उसमें कुछ भी सत्यता नहीं है। श्रवण बेल्गुल के एक प्राचीन लेख से इस कथानक की पोल खुल चुकी है कि दक्षिण में जाने वाले 'भद्रबाहु श्रुतकेवली' के नाम से प्रसिद्ध प्रथम भद्रबाहु नहीं किन्तु द्वितीय ज्योतिषी भद्रबाहु थे, जो विक्रम की कई शताब्दियों के बाद के आचार्य थे। इस पर भी यदि दिगंबर विद्वान् डा० हार्नले को आप्त मानने का आग्रह करते हों तो लीजिये हम भी इन्हीं हार्नले साहब के वचनों का प्रमाण उद्धृत कर दिखाते हैं।

आजीवक नामक अपने निबन्ध में डा० हार्नले कहते हैं—'जब सब तापस एक मत थे कि शरीर के उपरान्त कुछ भी दूसरी मिलकत तापस को न रखनी चाहिये, तब महावीर ने भिक्षान्न लेने के लिये भिक्षापात्र रखने की छूट रक्खी' (जै० सा० सं० ३५०)

उसी निबन्ध में डा० हार्नले कहते हैं—'यह सम्भवित जान पड़ता है कि निर्ग्रन्थ समाज में सामान्य नियम लंगोटी पहनने का था और केवल नग्नता का सम्प्रदाय गोशालक की टोली में ही प्रवर्तमान था।' (जैन साहित्य संशोधक पृ० २५०)

डा० हार्नले अपने उसी निबन्ध में आगे जाकर कहते हैं—'आजीविक पक्ष के जो मनुष्य अपनी तरफ सक्रिय सहानुभूति रखते थे उनको लेकर गोशालक (महावीर से) दूर हो गया, इस प्रकार जुदा पड़ने वालों का समूह बड़ा था। या तो वह अपने नेता गोशालक की मृत्यु के बाद जीवित रहा था यह मान लेने का कोई कारण नहीं है। जो गोशालक की नीति के विरुद्ध आचार-विचारों के समर्थक नहीं थे वे आजीविक पक्ष के मनुष्य निर्ग्रन्थ संघ में ही रहे, परन्तु सम्पूर्ण नग्नता, भिक्षापात्र का त्याग, अहिंसा विषयक अपूर्ण सावधानी, दण्ड की विशिष्ट संज्ञा और सम्भवतः अन्य बातों सम्बन्धी अपने विचारों को रक्खे रहे। इन भेदों के कारण आजीविक पक्ष और निर्ग्रन्थ समूह के बीच अवश्य ही कुछ संघर्षण तो था ही, पर खास करके वह आजीविकों के प्रति सहानुभूति रखने वाले भद्रबाहु के समय में बाहर आया। ई० स० पहले की तीसरी सदी के पूर्व भाग में वह पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ और तेरासि (त्रैराशिक) के नाम से परिचित पक्ष निश्चित रूप से हमेशा के लिये जुदा पड़ा और उसका विशिष्ट संघ बना जो अब 'दिगम्बर' कहलाता है। इस प्रकार दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन विभागों के मूल का उद्गम जैन धर्म के मूल प्रारम्भ तक में ज्ञात होता है, कारण कि इसका अस्तित्व परोक्ष रीत्या दो परस्पर विरोधी विभागों के प्रतिनिधि स्वरूप महावीर और गोशालक नाम के दो सहचर अग्रेसरों के वैमनस्य के आभारी हैं।' (जै० सा० सं० ३५६)

दिगम्बर विद्वान् अपने आचार्यों द्वारा गढ़ी हुई भद्रबाहु विषयक कल्पित कथा को सत्य ठहराने के लिये 'प्रख्यात यूरोपीय विद्वान्' कहकर जिनके अभिप्राय को गर्वपूर्वक उद्धृत करते हैं, उन्हीं डाक्टर हार्नले के उपर्युक्त उल्लेख हैं जिनमें वे महावीर को भिक्षापात्र की छूट रखनेवाला, उनके निर्ग्रन्थों को लंगोटी पहनने वाला और आधुनिक

दिगम्बर संघ को भद्रबाहु के समय में निर्ग्रन्थ संघ से जुदी पड़ी हुई गोशालक सन्तति होना बताते हैं। क्यों विद्वानो! प्रख्यात यूरोपीय विद्वान् के इन विचारों को भी आप अक्षरशः सत्य मानेंगे न?

इसी प्रकार डा० जे० स्टीवेन्सन और मि० एम० एस० रामस्वामी ऐयंगर ने ईसा की प्रथम शताब्दी में श्वेताम्बर-दिगम्बरों के पृथक् होने की जो बात कही है, उसका आधार भट्टारक देवसेन की वह कथा है जो कि उन्होंने श्वेताम्बरों की उत्पत्ति के विषय में गढ़ी है। यदि ये विद्वान् इस कथा को कसौटी पर चढ़ा कर जाँच करते तो विक्रम संवत् के निर्देश आदि से अपने आप इसकी नूतनता और कृत्रिमता प्रकट हो जाती।

हमने ऊपर इस कथा की जो मीमांसा की है, उससे विचारक समझ सकते हैं कि इस कथा में कुछ भी वास्तविकता नहीं है और जब आधारभूत वृत्तान्त ही कृत्रिम है, तो उसके आधार पर व्यक्त किये गये आधुनिक विद्वानों के अभिप्रायों का मूल्य कितना हो सकता है? विचारक पाठकगण स्वयं निर्णय कर सकते हैं।

एनसाइक्लोपीडिया-ब्रूटेनिका के किसी लेखक ने श्वेताम्बर जैन संघ की पुस्तकलेखन-संबंधी घटना का रहस्य न समझ कर उसे श्वेताम्बरों की उत्पत्ति मानने की भूल कर ली और उस भूल को प्रमाण के तौर पर उद्धृत करके दिगम्बर विद्वानों ने कह दिया कि देखो! इसमें श्वेताम्बरों की उत्पत्ति पाँचवीं सदी में होना लिखा है। परन्तु उन्हें यह तो समझ लेना चाहिये था कि जब दिगम्बराचार्य स्वयं भी श्वेताम्बरों की उत्पत्ति विक्रम की दूसरी शताब्दी में हुई लिखते हैं तब यह पाँचवीं सदी बतानेवाला लेखक किस प्रकार प्रामाणिक हो सकेगा; परन्तु जिन्हें येन केन प्रकारेण श्वेताम्बरों की अर्वाचीनता ही सिद्ध करना है, उन्हें इन बातों से क्या मतलब?

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता

ऊपर हमने यह बताने का यत्न किया है कि श्वेताम्बरों की उत्पत्ति के विषय में प्राचीन और आधुनिक विद्वानों ने जो कुछ लिखा है, उसमें वे सफल नहीं हुए, बल्कि उन्हीं के लेखों से श्वेताम्बर परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है।

अब हम यह देखेंगे कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता को सिद्ध करनेवाले कुछ प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं या नहीं।

बौद्धों के प्राचीन पालिग्रन्थों में आजीविकमत के नेता गोशालक के कुछ सिद्धान्तों का वर्णन मिलता है जिसमें मनुष्यों की कृष्ण, नील, लोहित, हारिद्र, शुक्ल और परमशुक्ल ये छः अभिजातियाँ बतायी गई हैं; इनमें से दूसरी नीलाभिजाति में बौद्धभिक्षुओं और तीसरी लोहिताभिजाति में निर्ग्रन्थों का समावेश किया है। इस स्थल में निर्ग्रन्थों के लिये प्रयुक्त बौद्धसूत्र के शब्द इस प्रकार हैं—"लोहिताभिजाति नाम निग्गंथा एकसाटकाति वदति"। अर्थात् एक-चीथड़ेवाले निर्ग्रन्थों को वह लोहिताभिजाति कहता है। (अंगुत्तरनिकाय भाग ३ पृष्ठ ३८३)

इस प्रकार गोशालक ने निर्ग्रन्थों के लिये जो यहाँ 'एक चीथड़ेवाले' यह विशेषण प्रयुक्त किया है और इसी प्रकार दूसरे स्थलों में भी अतिप्राचीन बौद्ध लेखकों ने जैन निर्ग्रन्थों के लिये 'एकसाटक' विशेषण लिखा है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध के समय में भी महावीर के साधु एक वस्त्र अवश्य रखते थे, तभी अन्य दार्शनिकों ने उनको उक्त विशेषण दिया है।

कट्टर साम्प्रदायिक दिगम्बर यह 'एकसाटक' विशेषण उदासीन निर्ग्रन्थ श्रावकों के लिये प्रयुक्त होने की सम्भावना करते हैं, परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं कि बौद्ध त्रिपिटकों में 'निग्गन्थ' शब्द केवल निर्ग्रन्थ साधुओं के लिये प्रयुक्त हुआ है; श्रावकों के लिये नहीं। जहाँ कहीं भी जैन श्रावकों का प्रसंग आया है, वहाँ सर्वत्र 'निग्गंठस्स नाथपुत्तस्स सावका' (निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र के श्रावक) अथवा 'निगंठसावक' (निर्ग्रन्थों के श्रावक) इस प्रकार श्रावक शब्द का ही उल्लेख हुआ है, न कि 'निगंथ' शब्द का। इसलिये 'निगंठ' शब्द का 'श्रावक' अर्थ लगाना कोरी हठधर्मी है।

बौद्धसूत्र मज्झिमनिकाय में निर्ग्रन्थ-संघ के साधु सचक के मुख से बुद्ध के समक्ष गोशाल मंखलिपुत्त तथा उसके मित्र नन्दवच्छ और किस्ससंकिच के अनुयायियों में पाले जाने वाले आचारों का वर्णन कराया है।

सचक कहता है—'ये सर्व वस्त्रों का त्याग करते हैं (अचेलक), सर्व शिष्टाचारों से दूर रहते हैं (मुक्ताचार), आहार अपने हाथों में ही चाटते हैं (हस्तापलेखण) इत्यादि ।

समझने की बात है कि यदि निर्ग्रन्थ जैन श्रमण सचक स्वयं अचेलक और हाथ में भोजन करनेवाला होता तो वह आजीविक भिक्षुओं का 'हाथ चाटनेवाले' आदि कहकर उपहास कभी नहीं करता। इससे भी जाना जाता है कि महावीर के साधु वस्त्रपात्र अवश्य रखते थे ।

बौद्ध दीर्घनिकाय के पासादिक सुत्तंत में महावीर के निर्वाण के बाद उनके साधुओं में झगड़ा होने की बात कही गई है और लिखा है कि निर्ग्रन्थज्ञातपुत्र के जो उज्वल वस्त्रधारी गृहस्थ श्रावक थे वे भी निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र के साधुओं से विरक्त हो गये। ग्रन्थ के मूल शब्द ये हैं—"येपि निगण्ठस्स नाथपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसना तेपि निगण्ठेसु नाथ-पुत्तियेसु निब्बिण्णरूपा ।" इसमें प्रयुक्त 'ओदातवसना' शब्द का अर्थ किसी अंग्रेज विद्वान् ने 'श्वेतवस्त्रधारी' ऐसा किया। इस पर से बाबू कामताप्रसाद जैन जैसे विद्वानों ने मान लिया कि श्वेतवस्त्रधारी महावीर के श्रावक होते थे। इसलिये बौद्धग्रन्थों का 'एकसाटक', निर्ग्रन्थ भी श्वेतवस्त्रधारी जैनश्रावक ही होगा। परन्तु वे यह तो देखें कि यहाँ पर साक्षात् 'श्रावक' शब्द का उल्लेख हुआ है। यदि 'निगंथ' शब्द श्रावकवाची होता तो यहाँ 'सावक' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता ही क्यों होती ?

दूसरे अवदात शब्द का अर्थ भी श्वेत नहीं, उज्वल अथवा स्वच्छ होता है। उज्वल श्वेत भी हो सकता है और अन्यवर्ण भी। अंग्रेज कोई केवली नहीं हैं, जो उनके कहने से अवदात का अर्थ श्वेत ही माना जाय और अन्यवर्ण न माना जाय ।

बलिहारी है ऐसे कट्टरपंथी विद्वानों की जो अपने पूर्वबद्ध विचारों के समर्थन के लिये सत्य वस्तु का गला घोंटने में और असत्य वस्तु को मूर्तिमान् बनाने में तनिक भी नहीं हिचकिचाते ।

दिगम्बर लेखक कहा करते हैं कि श्वेताम्बरमत प्रवर्तक जिनचन्द्र

ने अपने आचरण के अनुसार नये शास्त्र बनाये और उनमें स्त्रीमुक्ति और केवलिकवलाहार और महावीर का गर्भापहार आदि नयी बातें लिखीं। इस आक्षेप के ऊपर हम शास्त्रार्थ करना नहीं चाहते, क्योंकि स्त्रीमुक्ति और केवलिभुक्ति का निषेध पहले पहल दिगम्बराचार्य कुन्द-कुन्द ने ही किया है जो कि विक्रम की छठी सदी के विद्वान् ग्रन्थकार हैं। इनके पहले के किसी भी ग्रन्थकार ने इन बातों का निषेध नहीं किया। इसलिये इन बातों की प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध है।

रही गर्भापहार की बात, सो यह मान्यता भी लगभग दो हजार वर्ष से भी प्राचीन है, ऐसा कथन डा० हर्मन जेकोबी आदि विद्वानों का है और यह कथन केवल अटकल ही नहीं; ठोस सत्य है। इस पर भी इस विषय में जिनको शंका हो वे मथुरा के कंकाली टीला में से निकले हुए 'गर्भापहार' का शिलापट्ट देख लें, जो कि आजकल लखनऊ के म्यूजियम में सुरक्षित है। प्राचीन लिखित कल्पसूत्रों में जिस प्रकार का इस विषय का चित्र मिलता है ठीक उसी प्रकार का दृश्य उक्त शिलापट्ट पर खुदा हुआ है। माता त्रिशला और पंखा झेलनेवाली दासी को अवस्वापिनी निद्रा में सोते हुए और हिरन जैसे मुखवाले हरि-नैगमेषी देव को अपने हस्तसंपुट में महावीर को लेकर ऊर्ध्वमुख जाता हुआ बताया है। इस दृश्य के दर्शनार्थी लखनऊ के म्यूजियम में (नं० जे० ६२६ वाली शिला की तलाश करें)।

इसी प्रकार भगवान् महावीर की 'आमलकी क्रीड़ा' सम्बन्धी वृत्तान्त-दर्शक तीन शिलापट्ट कंकाली टीले में से निकले हैं और इस समय मथुरा के म्युजियम में सुरक्षित हैं। इन पर नं० १०४६ एफ् ३७ तथा ११९५ हैं। उपर्युक्त दोनों प्रसंगों से सम्बन्ध रखने वाले शिलालेख भी वहाँ मिलते हैं।

पाठकगण को ज्ञात होगा कि महावीर की 'आमलकी क्रीड़ा' का वर्णन भी जैन श्वेताम्बर शास्त्रों में ही मिलता है। दिगम्बरों के ग्रन्थों में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है।

उपर्युक्त दोनों प्रसंगों के प्राचीन लेखों और चित्रपट्टों से यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि श्वेताम्बर जैन आगमों में वर्णित 'गर्भा-

पहार' और 'आमलकी क्रीड़ा' का वृत्तान्त दो हजार वर्ष से अधिक प्राचीन है। इस प्रकार श्वेताम्बर जैन शास्त्रोक्त वृत्तान्तों के प्रामाणिक सिद्ध होने से उन शास्त्रों की प्रामाणिकता और प्राचीनता भी स्वयं सिद्ध हो जाती है।

श्वेताम्बर जैन संघ के मान्य कल्पसूत्र में पुस्तक लिखने के समय की स्मृति में वीरनिर्वाण संवत् ९८० और ९९३ के उल्लेख हैं और इस सूत्र की 'थेरावली' में भगवान् देवर्द्धिगणि तक की गुरु परम्परा का वर्णन है। इन दो बातों के आधार पर दिगम्बर विद्वान् कह बैठते हैं कि कल्पसूत्र देवर्द्धिगणि की रचना है, पर वे यह सुनकर आश्चर्य करेंगे कि इसी कल्पसूत्र की थेरावली में वर्णित कतिपय 'गण,' 'शाखा' और 'कुलों' का निर्देश राजा कनिष्क के समय में लिखे गये मथुरा के शिलालेखों में भी मिलता है। पाठकों के अवलोकनार्थ उनमें से दो एक लेखों को यहाँ उद्धृत करते हैं।

(१) "सिद्धं। सं० २० ग्रामा १। दि१० + ५। कोटियतो गणतो, वाणियतो कुलतो, वरारितो, शाखातो, शिरिकातो भत्तितो, वाचकस्य, आर्य्यसंघसिंहस्य निर्व्वर्त्तनं दत्तिलस्य······वि—लस्य कोठुंबिकिय, जयवालस्य, देवदासस्य, नागदिनस्य च नागदिनाये च मातुश्राविकाये दिनाये दानं। इ। वर्द्धमानप्रतिमा[1]।"

(२) "सिद्धं महाराजस्य कनिष्कस्य राज्ये संवत्सरे नवमे ॥ ९ ॥ मासे प्रथ१ दिवसे ५ अस्यां पूर्वाये कोटियतो गणतो, वाणियतो, कुलतो, वइरितो साखातो, वाचकस्य नागनंदिसनिर्वर्तनं ब्रह्मधूतुये भटिमित्तस्स कुटुंबिनिये विकटाये श्रीवर्द्धमानस्य प्रतिमा कारिता सर्वसत्वानं हित सुखाये।"

ऊपर के दोनों शिलालेखों में जिन गण, शाखा और कुल का उल्लेख हुआ है वे आर्य सुहस्ति के पट्ट शिष्य सुट्ठियसुप्पडिबुद्ध अपरनाम कोटियकाकन्दक से निकले थे। देखो, 'कल्पथेरावली' का निम्नलिखित पाठ—

---

१ यह लेख कनिंगहामकृत 'आर्कोलोजिकल सर्वे आफ इंडिया' के अंक आठवें में चित्र १३—१४ में प्रकट हुआ है।

"थेरेहिंतो सुट्ठिय-सुप्पडिबुद्धेहिंतो कोडिय-काकन्दएहिंतो वग्घा-वच्चसगुत्तेहिंतो इत्थ णं कोडियगणे नामं गणे निग्गए। तस्स णं इमाओ चत्तारि साहाओ, चत्तारि कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किंतं साहाओ? साहाओ एवमाहिज्जंति तंजहा—

उच्चानागरी १ विज्जाहरी य २ वइरी य ३ मज्झिमिल्ला य ४। कोडिय-गणस्स राया, हवंति चत्तारि साहाओ ॥ १ ॥ से तं साहाओ ॥ से किं तं कुलाइं? कुलाइं एवमाहिज्जंति तं जहा—

पढमित्थ वंभलिज्जं १, बिइयं नामेण वत्थलिज्जं तु २, तइयं पुण वाणिज्जं ३, चउत्थयं पण्हवाहणयं ४ ॥ १ ॥

(कल्पसूत्र मूल दे० ला० पा० ५५)

विचारकगण ऊपर दिये हुए लेखों और कल्पसूत्र के गण, शाखा और कुलों का मिलान करें और सोचें कि जैन श्वेताम्बर-परम्परा कितनी प्राचीन होनी चाहिये और जिसकी बातें लगभग दो हजार वर्ष के शिलालेखों से सत्य प्रमाणित होती हैं, वह कल्पसूत्र कितना प्रामाणिक होना चाहिए।

ऊपर हमने मथुरा के जिन लेखों और चित्रपट्टों का उल्लेख किया है वे सब मथुरा-कंकाली टीला के नीचे दबे हुए एक जैन स्तूप में से सरकारी शोधखातावालों को उपलब्ध हुए हैं। श्वेताम्बर परम्परा के आगमग्रन्थ आचाराङ्ग-निर्युक्ति में तथा निशीथ, बृहत्कल्प और व्यवहार सूत्रों के भाष्यों और चूर्णियों में इस स्तूप का वर्णन मिलता है। इन ग्रन्थों के रचनाकाल में यह जैनों का अत्यन्त प्रसिद्ध और प्रिय तीर्थ माना जाता था। चूर्णिकारों के समय में यह 'देवनिर्मित स्तूप' के नाम से प्रसिद्ध हो चुका था। व्यवहार-चूर्णि में इसकी उत्पत्ति-कथा भी लिखी मिलती है। इस स्तूप में से उक्त लेखों से भी सैकड़ों वर्षों के पुराने अन्य अनेक लेख, तीर्थंकरों की मूर्तियाँ, पूजापट्टक, प्राचीन पद्धति की अग्रावतार-वस्त्रवाली जैन श्रमणों की मूर्तियाँ और अन्य अनेक स्मारक मिले हैं, जो सभी श्वेताम्बर परम्परा के हैं और लखनऊ तथा मथुरा के सरकारी अजायबघरों में संरक्षित हैं। इन अति प्राचीन स्मारकों में दिगम्बरों से सम्बन्ध रखनेवाला कोई पदार्थ अथवा उनके चतुर्दश

पूर्वधर, दशपूर्वधर, एकादशांगधर; अंगधर या उनके बाद के भी किसी प्राचीन आचार्य का नाम या उनके गण, गच्छ या संघ का कहीं नामोल्लेख तक नहीं है। जैन श्वेताम्बरपरम्परा कितनी प्राचीन है और उसके वर्तमान आगम कैसे प्रामाणिक हैं इसके निर्णय के लिये हमारा उपर्युक्त थोड़ा सा विवेचन ही पर्याप्त होगा।

आधुनिक दिगम्बर जैन परम्परा की अर्वाचीनता—

हम ऊपर देख आये हैं कि दिगम्बर शिवभूति ने जो सम्प्रदाय चलाया था वह दक्षिण में जाकर 'यापनीय-संघ' के नाम से प्रसिद्ध हो गया था। यद्यपि कर्नाटक देश में इसका पर्याप्त मान और प्रचार था तथापि विक्रम की छठी शताब्दी के लगभग उसके साधुओं में कुछ चैत्यवास का असर हो गया था और वे राजा वगैरह की तरफ से भूमिदान वगैरह लेने लग गये थे। अर्वाचीन कुन्दकुन्द जैसे त्यागियों को यह शिथिलता अच्छी नहीं लगी। उन्होंने केवल स्थूल परिग्रह का ही नहीं बल्कि अब तक इस सम्प्रदाय में जो आपवादिक लिङ्ग के नाम से वस्त्रपात्र की छूट थी। उसका भी विरोध किया और तब तक प्रमाण माने जाने वाले श्वेताम्बर आगमग्रन्थों को भी इन उद्धारकों ने अप्रामाणिक ठहराया और उन्हीं आगमों के आधार पर अपनी तात्कालिक मान्यता के अनुसार नये धार्मिक ग्रन्थों का निर्माण करना शुरू किया। कुन्दकुन्द वगैरह जो प्राकृत के विद्वान थे उन्होंने प्राकृत में और देवनन्दी आदि संस्कृत के विद्वानों ने संस्कृत के ग्रन्थ निर्माण कर अपनी परम्परा को परापेक्षता से मुक्त करने का उद्योग किया[1]।

यद्यपि शुरू ही शुरू में उन्हें पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई। यापनीय संघ का अधिक भाग इनके क्रियोद्धार में शामिल ही नहीं हुआ और शामिल होने वालों में से भी बहुत सा भाग इनकी सैद्धान्तिक क्रान्ति के कारण विरुद्ध हो गया तथा धीरे धीरे दिगम्बर संघ द्राविड़ संघ

१ कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपनी गुरु-परंपरा का ही नहीं अपने गुरु का भी नामोल्लेख नहीं किया। इससे मालूम होता है कि कुन्दकुन्द के क्रियोद्धार में उनके गुरु भी शामिल नहीं हुए होंगे और इसी कारण से उन्होंने शिथिलाचारी समझकर अपने गुरु प्रगुरुओं का नाम निर्देश नहीं किया होगा।

आदि कई भागों में टूट गया था, तथापि इनका उद्योग निष्फल नहीं गया। इनके ग्रन्थ और विचार धीरे-धीरे विद्वानों के हृदय में घर करते जाते थे और विक्रम की नवीं सदी के अकलंकदेव, विद्यानन्दी आदि दिग्गज दिगम्बर विद्वानों के द्वारा तार्किक पद्धति से परिमार्जित होने के उपरान्त तो वे और भी आकर्षक हो गये। फलस्वरूप प्राचीन सिद्धान्तों का लोप और इन नये ग्रन्थों का सार्वत्रिक प्रसार हो गया[1]।

इस प्रकार आधुनिक दिगम्बर सम्प्रदाय और इसके श्वेताम्बर विरोधी सिद्धान्तों की नींव विक्रम की छठी शताब्दी में आचार्य कुन्दकुन्द ने डाली।

हमारे उक्त विचारों का विशेष समर्थन नीचे की बातों से होगा—

(१) परम्परागत श्वेताम्बर जैन आगम जो विक्रम की चौथी सदी में मथुरा और वलभी और छट्ठी सदी के प्रथम चरण में माथुर और वालभ्य संघ की सम्मिलित सभा में वलभी में व्यवस्थित किये और लिखे गये हैं। उनमें के स्थानाङ्ग तथा औपपातिक सूत्र में और आवश्यक निर्युक्ति में सात निह्नवों के नाम और उनके नगरों का उल्लेख किया गया है, जो मात्र साधारण विरुद्ध मान्यता के कारण श्रमणसंघ से बाहर किये गये थे। इनमें अन्तिम निह्नव गोष्ठामाहिल है

---

१ कर्मप्रकृति, प्राभृत और कषायप्राभृत जो कि दिगम्बर जैन सम्प्रदाय के मौलिक सिद्धान्त ग्रन्थ थे। आज कहीं भी उपलब्ध नहीं होते, इतना ही नहीं, बल्कि उनकी प्राचीन टीकाओं का भी आज कहीं अस्तित्व नहीं रहा। इसका कारण क्या होना चाहिये? कुन्दकुन्द के पहले के अन्य ग्रन्थ तो रह जायँ और मौलिक सिद्धान्त जिनको यह संप्रदाय 'परमागम' कहकर बहुमान करता है आज न रहें। इसका अवश्य ही कारण होना चाहिये और जहाँ तक हम समझते हैं, इसका कारण एकान्त नग्नवादिता आदि नये सिद्धान्त हैं। जब तक कुन्दकुन्द आदि के एकान्त नग्नतावाद का और स्त्रीमुक्ति तथा केवलिभुक्ति के निषेधवाद का सार्वत्रिक प्रचार नहीं हुआ था तब तक उन प्राचीन सिद्धान्तों का जिनमें इन ऐकान्तिक वादों का विधान न होगा—इन सम्प्रदायवालों ने अनुसरण और संरक्षण किया और जब से कुन्दकुन्द का एकान्तवाद सर्वमान्य हो गया तब से उन प्राचीन सिद्धान्तों की उपेक्षा की गयी और परिणाम स्वरूप वे कालान्तर में सदा के लिये नष्ट हो गये।

जो वीर संवत् ५८४ (विक्रम संवत् ११४) में संघ से वहिष्कृत हुआ था। यदि विक्रम की चतुर्थ शताब्दी तक भी दिगम्बर परंपरा में केवलिकवलाहार का और स्त्री तथा वस्त्रधारी की मुक्ति का निषेध प्रचलित हो गया होता तो उनको निह्नवों की श्रेणि में दर्ज न करने का कोई कारण नहीं था; परंतु ऐसा नहीं हुआ इससे जान पड़ता है कि विक्रम की पाँचवीं शताब्दी तक श्वेताम्बर-विरोधी-सिद्धान्त-प्रतिपादक वर्तमान दिगंबर परंपरा का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

(२) विक्रम की सातवीं सदी के पहले के किसी भी लेखपत्र में वर्तमान दिगंबर-परंपरा-संमत श्रुतकेवली, दशपूर्वधर, अङ्गपाठी आचार्यों, गणों, गच्छों और संघों का नामोल्लेख नहीं मिलता।

(३) दिगंबर-परंपरा के पास एक भी प्राचीन पट्टावली नहीं है। इस समय जो पट्टावलियाँ उसके पास विद्यमान हैं वे सभी ग्यारहवीं सदी के पीछे की हैं और उनमें दिया हुआ प्राचीन गुरुक्रम विलकुल अविश्वसनीय है। बल्कि यह कहना चाहिये कि महावीर-निर्वाण के बाद एक हजार वर्ष तक का इन पट्टावलियों में जो आचार्यक्रम दिया हुआ है वह केवल कल्पित है। पाँच चतुर्दशपूर्वधर, दस दशपूर्वधर, एकादशाङ्गधर, एकांगपाठी, अंगैकदेशपाठी आदि आचार्यों के जो नाम, समय और क्रम लिखा है उसका मूल्य दन्तकथा से अधिक नहीं है। इनके विषय में पट्टावलियाँ एक मत भी नहीं हैं। श्रुतकेवली, दशपूर्वधर, एकादशाङ्गधर, अंगपाठी और उनके बाद के बहुत समय तक के आचार्यों का नाम-क्रम और समय-क्रम विलकुल अव्यवस्थित है। कहीं कुछ नाम लिखे हैं और कहीं कुछ। समय भी कहीं कुछ लिखा है और कहीं कुछ। कहीं भी व्यवस्थित समय या नामावली तक नहीं मिलती।

इन बातों पर विचार करने से यह निश्चय हो जाता है कि दिगम्बर पट्टावली-लेखकों ने, विक्रम की पाँचवी छठी सदी से पहले के प्राचीन आचार्यों की जो पट्टावली दी है, वह केवल दन्तकथा मात्र है और अपनी परम्परा की जड़ को महावीर तक ले जाने की चिन्ता से अर्वाचीन आचार्यों ने इधर उधर के नामों को आगे पीछे करके अपनी परम्परा के साथ

जोड़ दिया है। प्रसिद्ध दिगम्बर जैन विद्वान् पं० नाथूरामजी प्रेमी भगवती आराधना की प्रस्तावना में लिखते हैं—"दिम्बर सम्प्रदाय में अंगधारियों के बाद की जितनी परम्पराएँ उपलब्ध हैं, वे सब अपूर्ण हैं और उस समय संग्रह की गई हैं जब मूलसंघ आदि भेद हो चुके थे और विच्छिन्न परम्पराओं को जानने का कोई साधन न रह गया था।" परन्तु वस्तुस्थिति तो यह कहती है कि दिगम्बर-सम्प्रदाय में महावीर के बाद एक हजार वर्ष पर्यन्त की जो परम्परा उपलब्ध है वह भी उस समय संग्रह की गई थी जब मूलसंघ आदि भेद हो चुके थे। क्योंकि पट्टावली-संग्रहकर्ताओं के पास जब अपने निकटवर्ती आचार्यों की परम्परा जानने का भी साधन नहीं था तो उनके भी पूर्ववर्ती अङ्गपाठी और पूर्वधरों की परम्परा का जानना तो इससे भी कठिन था, यह निश्चित है।

४—श्रुतकेवली भद्रबाहु के दक्षिण में जाने के सम्बन्ध में जो कथा दिगम्बर ग्रन्थों में उपलब्ध होती है वह विक्रमकी दसवीं सदी के पीछे की है। दक्षिण में जाने वाले भद्रबाहु विक्रम की कई शताब्दियों के बाद के आचार्य थे, यह बात श्रवण बेलगोला की पार्श्वनाथ-वस्ति के लगभग शक संवत् ५२२ के आसपास के लिखे हुए एक शिलालेख से और दिगम्बर सम्प्रदाय के दर्शनसार, भावसंग्रह आदि ग्रन्थों से सिद्ध हो चुकी है। अतएव श्रुतकेवली भद्रबाहु के नाते दिगम्बर सम्प्रदाय की प्राचीनता-विषयक विद्वानों के अभिप्राय निर्मूल हो जाते हैं और निश्चित होता है कि श्रुतकेवलो भद्रबाहु के वृत्तान्त से दिगम्बर सम्प्रदाय का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। दिगम्बर विद्वानों ने जो जो बातें उनके नाम पर चढ़ाई हैं वास्तव में उन सबका सम्बन्ध द्वितीय ज्योतिषी भद्रबाहु के साथ है।

५—बौद्धों के प्राचीन शास्त्रों में नग्न जैन साधुओं का कहीं उल्लेख नहीं है और विशाखावत्थु, धम्मपद अट्ठकथा, दिव्यावदान आदि में जहाँ नग्न निर्ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है वे ग्रन्थ उस समय के हैं जब कि यापनीयसंघ और आधुनिक सम्प्रदाय तक प्रकट हो चुके थे। 'डायोलोग्स ऑव् बुद्ध' नामक पुस्तक के ऊपर से बौद्ध ग्रन्थों में

वर्णित कुछ आचार 'भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध' नामक पुस्तक में (पृष्ठ ६१–६५) दिये गये हैं, जिनमें 'नग्न' रहने और हाथ में खाने का भी उल्लेख है। पुस्तक के लेखक बाबू कामताप्रसाद की दृष्टि में ये आचार प्राचीन जैन साधुओं के हैं; परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। मज्झिमनिकाय में साफ-साफ लिखा गया है कि ये आचार आजीविक संघ के नायक गोशालक तथा उनके मित्र नन्दवच्छ और किस्ससंकिच्च के हैं जिनका बुद्ध के समक्ष निर्ग्रंथश्रमण सच्चक ने वर्णन किया था।

६—दिगम्बरों के पास प्राचीन साहित्य नहीं है[1]। इनका प्राचीन से प्राचीन साहित्य आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ हैं जो कि विक्रम की छठी सदी की कृति हैं।

उपर्युक्त एक-एक बात ऐसी है जो वर्तमान दिगम्बर सम्प्रदाय को अर्वाचीनता की तरफ लाती हुई विक्रम की छठी सदी तक पहुँचा देती है।

इनके अतिरिक्त स्त्री तथा शूद्रों को मुक्ति[2] के लिये अयोग्य मानना, जैनों के सिवा दूसरों के घर जैन साधुओं के लिए अहार लेने का निषेध, आहवनीयादि अग्नियों की पूजा, सन्ध्या, तर्पण, आचमन और परिग्रहमात्र का त्याग करने का आग्रह करते हुए भी कमण्डलु प्रमुख शौचोपधि का स्वीकार करना आदि ऐसी बातें हैं जो दिगम्बर संप्रदाय के पौराणिक कालीन होने की साक्षी देती हैं।

श्वेताम्बर जैन आगमों में जबकि पुस्तकों को उपधि में नहीं गिना और उनके रखने में प्रायश्चित विधान किया गया है, तब नाम मात्र भी परिग्रह न रखने के हिमायती दिगम्बर-ग्रन्थकार साधु को पुस्तकोपधि रखने की आज्ञा देते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि

---

१ यतिवृषभ की 'तिलोय पन्नति', शिवार्य की 'भगवती आराधना' आदि कुछ ग्रंथ कुन्दकुन्द के पूर्व के होने संभवित हैं, परन्तु यह साहित्य इतना कम और एकदेशीय है कि इससे दिगम्बर संप्रदाय का निर्वाह होना कठिन है।

२ स्त्रीमुक्ति का स्पष्ट और कट्टरतापूर्ण विरोध पहले पहल कुन्दकुन्द के ही ग्रन्थों में दिखाई देता है।

साधुओं में पुस्तक रखने का प्रचार होने के बाद यह सम्प्रदाय व्यवस्थित हुआ है।

ऊपर कई बार यह उल्लेख किया गया है कि दिगम्बर-सम्प्रदाय भी पहले उन्हीं आगमों को प्रमाण मानता था जिन्हें आजतक श्वेताम्बर जैन मानते आये हैं; परन्तु छठी शताब्दी से जबकि बहुत सी बातों में अन्तर पड़ गया और खासकर स्त्रीमुक्ति, केवलिमुक्ति और सवस्त्रमुक्ति आदि बातों की एकान्त निषेध-प्ररूपणा के बाद उन्होंने इन आगमों को अप्रामाणिक कह कर छोड़ दिया है और नई रचनाओं से अपनी परम्परा को विभूषित किया।

श्वेताम्बर जैन आगम और दिगम्बर ग्रन्थ

वर्तमान आगमों की प्रामाणिकता और मौलिकता के विषय में हम यहां कुछ भी नहीं लिखेंगे, क्योंकि हमारे पहले ही जैन आगमों के प्रगाढ़ अभ्यासी डाक्टर हर्मन जेकोबी जैसे मध्यस्थ यूरोपीय स्कालरों ने ही इन आगमों को वास्तविक 'जैनश्रुत' मान लिया है और इन्हीं के आधार से जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने में वे सफल हुए हैं। इस बात को बाबू कामताप्रसाद जैन जैसे दिगम्बर विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। वे 'भगवान् महावीर' नामक अपनी पुस्तक की प्रस्तावना में लिखते है—"जर्मनी के डा० जेकोबी सदृश विद्वानों ने जैन शास्त्रों को प्राप्त किया और उनका अध्ययन करके उनको सभ्य संसार के समक्ष प्रकट भी किया। ये श्वेताम्बराम्नाय के अङ्ग ग्रन्थ हैं और डा० जेकोबी इन्होंको वास्तविक जैन श्रुतशास्त्र समझते हैं।"

हम यह दावा नहीं करते कि जैनसूत्र जिस रूप में महावीर के मुख से निकले थे उसी रूप में आज भी हैं और न हमारे पूर्वाचार्यों ने ही यह दावा किया है, बल्कि उन्होंने तो किस प्रकार भिन्न भिन्न समयों में अंगसूत्र व्यवस्थित किये और लिखे गये यह भी स्पष्ट लिख दिया है।

गुरु-शिष्य क्रम से आये हुए सूत्रों की भाषा और शैली में हजार आठ सौ वर्ष में कुछ भी परिवर्तन न हो यह संभव भी नही है। यद्यपि सूत्र में प्रयुक्त प्राकृत उस समय की सीधी सादी लोक भाषा थी; परन्तु

समय के प्रवाह के साथ ही उसकी सुगमता ओझल होती गई और उसे समझने के लिये व्याकरणों की आवश्यकता हुई। प्रारम्भ में व्याकरण तत्कालीन भाषानुगामी बने; परन्तु पिछले समय में ज्यों-ज्यों प्राकृत का स्वरूप अधिक मात्रा में बदलता गया त्यों-त्यों व्याकरणों ने भी उसका अनुगमन किया। फल यह हुआ कि हमारी सौत्र प्राकृत पर भी उसका असर पड़े बिना नहीं रहा। यही कारण है कि कुछ सूत्रों की भाषा नयी सी प्रतीत होती है।

प्राचीन सूत्रों में एक ही आलापक, सूत्र और वाक्य को वार वार लिख कर पुनरुक्ति करने का एक साधारण नियम सा था। यह उस समय की सर्वमान्य शैली थी। वैदिक, बौद्ध और जैन उस समय के सभी ग्रन्थ इसी शैली में लिखे हुए हैं, परन्तु जैन आगमों के पुस्तकारूढ होने के समय यह शैली कुछ अंशों में बदल कर सूत्र संक्षिप्त कर दिये गये और जिस विषय की चर्चा एक स्थल में व्यवस्थित रूप से हो चुकी थी उसे अन्य स्थल में संक्षिप्त कर दिया गया और जिज्ञासुओं के लिये उसी स्थल में सूचना कर दी गई कि यह विषय अमुक सूत्र अथवा स्थल में देख लेना। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी भी बातें जो उस समय तक शास्त्रीय मानी जाने लगी थीं, उचित स्थान में यादी के तौर पर लिख दी गई जो आजतक उसी रूप में दृष्टिगोचर होती हैं और अपने स्वरूप से ही वे नयी प्रतीत होती हैं।

जैन सूत्रों में जो कुछ परिवर्तन हुआ है उसकी रूपरेखा ऊपर मुजब है। इसके अतिरिक्त इन सूत्रों में कुछ भी रद्दोबदल नहीं हुआ। दिगम्बर-संघ उक्त कारणों से ही इन आगमों को अप्रामाणिक नहीं कह सकता था। इसलिये उसने आगम-विषयक कई सात नयी परिभाषाएँ बाँधी और उनके आधार पर वर्तमान आगमों को अप्रामाणिक करार दिया। उदाहरण के तौर पर हम एक परिभाषा का यहाँ विवेचन करेंगे।

प्राचीन पद्धति के अनुसार जैनसूत्रों की 'पद' संख्या निश्चित करके लिख दी गयी है। यह 'पद' संख्या श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में नीचे मुजब भिन्न भिन्न हैं:—

	श्वेताम्बर सम्मत पदसंख्या	दिगम्बर सम्मत पदसंख्या
१—आचाराङ्गसूत्र	१८०००	१८०००
२—सूत्रकृताङ्ग	३६०००	३६०००
३—स्थानाङ्ग	७२०००	४२०००
४—समवायाङ्ग	१४४०००	१६४०००
५—व्याख्याप्रज्ञप्ति	२८८०००	२२८०००
६—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग	५७६०००	५५६०००
७—उपासकदशाङ्ग	११५२०००	११७००००
८—अंतकृद्दशाङ्ग	२३०४०००	२३२८०००
९—अनुत्तरोपपात्तिकदशाङ्ग	४६०८०००	९२४४०००
१०—प्रश्नव्याकरणाङ्ग	९२१६०००	९३१६०००
११—विपाकसूत्राङ्ग	१८४३२०००	१८४०००००
	जोड़ = ३६८४६०००	जोड़ = ४१५०२०००

हमने उपर्युक्त श्वेताम्बरीय पदसंख्या नन्दीटीकानुसार दी है और दिगम्बर पदसंख्या गोम्मटसारानुसार। दोनों में ४६५४००० पदों का अन्तर है। दिगम्बरों ने इतने पद अधिक माने हैं, परन्तु दोनों सम्प्रदायों में खास विशेषता तो 'पद' की व्याख्या में हैं।

श्वेताम्बर टीकाकार 'पद' का अर्थ 'अर्थ बोधक शब्द' अथवा 'जिसके अन्त में विभक्ति हो वह पद' यह करते हैं, जो कि व्यावहारिक है; परन्तु दिगम्बराचार्यों ने प्रस्तुत पद की जो परिभाषा बाँधी है, वह एकदम अलौकिक है। वे कहते हैं—'सूत्रों का पद' वह कहलाता है, जिसमें सोलह सौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आँठ सौ अठासी (१६३४८३०७८८८) अक्षर हों।' गोम्मटसार की निम्नलिखित गाथा देखिये—

"सोलह सय चउतीसा, कोडी तियसीदिलक्खयं चैव।
सत्तसहस्सट्ठसया, अट्ठासीदीय पदवण्णा ॥ १ ॥"

इस हिसाब से दिगम्बरों के एक ही श्रुत पद के बत्तीस अक्षरात्मक

इक्यावन करोड़ आठ लाख चौरासी हजार छः सौ और साढ़े इकीस (५१०८८४६२१॥) श्लोक होते हैं। क्या कोई कहेगा कि इतने श्लोक वाला एक श्रुतपद भी पढ़ने को कोई मनुष्य समर्थ हो सकता होगा? कभी नहीं। सच बात तो यह है कि उक्त 'पद-परिभाषा' एक निरी कल्पना है और वह इसलिये गढ़ी गई है, कि श्रुतज्ञान को इतना बड़ा समुद्र बताकर उसके लिखने की अशक्यता सिद्ध की जाय और श्वेताम्बरों से कह दिया जाय कि 'तुमने जो आगम लिखे हैं, वे असली नहीं हैं। असल आगम इतने बड़े होते हैं कि उन्हें कोई लिख ही नहीं सकता।' परन्तु दिगम्बरों की इस लोकोत्तर कल्पना को मनुष्यों की दुनिया में रहनेवाला तो कोई भी विचारक मानने को तैयार नहीं होगा। एक यही नहीं, ऐसी अनेक नयी परिभाषाओं की सृष्टि करके परम्परागत जैन आगमों को अप्रामाणिक ठहराने और उनपर से लोगों की श्रद्धा हटाने की चेष्टाएँ की गई हैं।

अब हम यह देखेंगे कि कबतक तो दिगम्बर शाखा ने जैन आगमों को माना और कब इनको मानने से इनकार किया।

ऊपर कहा जा चुका है कि दिगम्बर-सम्प्रदाय का पूर्वनाम 'यापनीय संघ' था, जो श्वेताम्बरीय-परम्परा के आचार-विचार का अनुसरण करनेवाला और कतिपय जैन आगमों को भी माननेवाला था। परन्तु पिछले दिगम्बराचार्य यापनीय-संघ-विषयक अपना पूर्व सम्बन्ध भूल गये और नग्नता के समर्थक होते हुए भी श्वेताम्बरीय आगम और आचार विचारों के कारण उसे 'खचर' तक की उपमा देने में न सकुचाये। देखिये षट्प्राभृत की टीका में श्रुतसागर के निम्नोद्धृत वाक्य—

"यापनीयास्तु वेसरा इवोभयं मन्यन्ते, रत्नत्रयं पूजयन्ति, कल्पं च वाचयन्ति, स्त्रीणां तद्भवे मोक्षं, केवलिजिनानां कवलाहारं, परशासने सग्रन्थानां मोक्षं च कथयन्ति।"

ऊपर के उल्लेख में यापनीयों को खचर की उपमा देने में श्रुतसागरसूरि ने जो अनेक कारण बताये हैं उनमें 'कल्पवाचना' भी एक है। श्वेताम्बर-परम्परा में वार्षिक पर्व के अवसर पर 'कल्पवाचना' की रीति ठेठ से चली आती है। यही रीति यापनीयों में भी थी।

इससे सिद्ध होता है कि शिवभूति ने अपनी नग्नपरम्परा अवश्य चलाई थी, पर उन्होंने प्राचीन आगमों को नहीं ठुकराया था।

भगवती-आराधना नामक एक प्रसिद्ध दिगम्बरीय परम्परा के ग्रन्थ में श्वेताम्बरीय निर्युक्तियों तथा भाष्यों की पचासों गाथाएँ आज तक ज्यों की त्यों अथवा नाम मात्र के फेरफार के साथ उपलब्ध होती हैं। स्थल संकोच के कारण इन सब गाथाओं की यहाँ चर्चा करना अशक्य है। मात्र दृष्टान्त के तौर पर दो एक गाथाओं के विषय में यहाँ कुछ लिखेंगे।

श्वेताम्बर मान्य कल्पनिर्युक्ति की दशकल्पप्रतिपादिका निम्नलिखित गाथा भगवती आराधना के १८१ वें पृष्ठ पर दृष्टिगोचर होती है—

"[1]आचेलक्कु[2]देसिय, सेज्जा[3]यर-राय[4]पिंड, [5]परियम्मे [6]किदिकम्मे [7]वदजेट्ठ [8]पडिक्कमणे, [9]मासं [10]पज्जोसवणकप्पो ॥ ४२७ ॥

उक्त गाथा में १ आचेलक्य, २ औद्देशिकपिंड, ३ शय्यातरपिण्ड, ४ राजपिण्ड, ५ कृतिकर्म (वन्दन), ६ महाव्रत, ७ ज्यैष्ठ्य, ८ प्रतिक्रमण, ९ मास और १० पर्यूषण, इन दस कल्पों का उल्लेख है, जो श्वेताम्बर-सम्प्रदाय में अति प्रसिद्ध हैं और पूर्वकाल में दिगम्बर-शाखा में भी ये ही दस कल्प प्रचलित होंगे। इस गाथा के स्वीकार से ऐसा मालूम होता है। परन्तु पिछले नये दिगम्बर सम्प्रदाय में से उक्त कल्पों में से कुछ कल्प लुप्त होगये हैं। यों तो इनमें से बहुत से कल्पों की व्याख्या टीकाकारों ने यथार्थ नहीं की; परन्तु नवें और दसवें कल्प की तो उन्होंने काया ही पलट दी है।

विद्वान् पाठकों के अवलोकनार्थ हम अन्तिम दो कल्पों की वसुनन्दी श्रमणाचार्य कृत व्याख्या नीचे उद्धृत करते हैं। "मासो योगग्रहणात् प्राङ्मासमात्रमवस्थानं कृत्वा वर्षाकाले योगो ग्राह्यस्तथा योगं समाप्य मासमात्रमवस्थानं कर्तव्यं लोकस्थितिज्ञापनार्थमहिंसादिव्रतपरिपालनार्थं च योगात्प्राङ्मासमात्रावस्थानं पश्चाच्च मासमात्रावस्थानं श्रावकलोकादिसंक्लेशपरिहरणाय, अथवा ऋतौ ऋतौ मासमात्रं स्थातव्यं मासमात्रं च विहरणं कर्तव्यं इति मासः श्रमणकल्पोऽथवा वर्षाकाले योगग्रहणं चतुर्षु चतुर्षु मासेषु नन्दीश्वरकरणं च मासश्रमणकल्पः।

पज्जो—पर्या पर्युपासनं निपद्यकायाः पंचकल्याणस्थानानां च सेवनं 'पर्ये'त्युच्यते। श्रमणस्य श्रामण्यस्य वा कल्पो—विकल्पः श्रमण-कल्पः। (मूलाचार भा० २ पृ० १०४–१०५)

टीकाकार मासकल्प के तीन अर्थ लगाते हैं, और वे भी 'अथवा' कह कर पूर्व पूर्व को रद्द करके। पहले कहते हैं—'चातुर्मास्य के पहले एक मास जहाँ रहें वहीं वर्षाचातुर्मास्य करना और चातुर्मास्य के बाद फिर मास भर वहीं रहना उसका नाम मासकल्प है।' इस अर्थ पर निर्भर न रहते हुए वे 'अथवा' कहकर फिर कहते हैं—'एक-एक ऋतु में एक-एक मास ठहरना और एक-एक मास विहार करना यह मासकल्प है।' परन्तु इस अर्थ पर भी उनको पूरा विश्वास नहीं आता और तीसरा अर्थ लगाते हुए कहते हैं—'चार-चार मास में योगग्रहण और नन्दीश्वर करना मासकल्प है।'

कितनी अनिश्चित और असंगत व्याख्या है ? क्या कोई कह सकता है कि छः मास तक एक स्थान पर रहना 'मासकल्प' कहा जा सकता है ? अथवा चार मास में होने वाली कोई क्रिया 'मासकल्प' का नाम पा सकती है ?

अब 'पज्जो सवणकप्पो' शब्द की हालत सुनिये। टीकाकार 'पज्जो' शब्द को अलग करके उसका संस्कृत 'पर्या' बनाते हैं और उसकी व्याख्या करते हैं 'पर्युपासना'; परन्तु उन्हें यह तो सोचना था कि 'पज्जो' का संस्कृत 'पर्यः' बनेगा या 'पर्या'; फिर पर्या शब्द की सिद्धि में और उसका 'पर्युपासना' अर्थ करने में किसी कोष या व्याकरण का भी आधार है या नहीं ? परन्तु इसकी क्या कहें, 'कल्प' का भी अर्थ वे 'विकल्प' करते हैं, जिसका कि यहाँ कोई प्रसंग नहीं। इन बातों से क्या उन्होंने अपनी स्थिति स्पष्ट नहीं कर दी है कि इन परिभाषाओं को समझने के लिये उनके पास कोई परम्परागत आम्नाय नहीं है ?

हम देख आये हैं कि शिवभूति के समय में ही कितने ही गुरु-आम्नायोंसे यह शाखा वंचित हो चुकी थी और शेष जो आचार-विचार और आम्नाय प्रचलित थे उनमें से भी बहुत से यापनीय संघ से अलग

होते समय छूट गये। फलतः श्वेताम्बर-साहित्य से ली हुई कई गाथाओं का वे वास्तविक अर्थ नहीं पा सके और कल्पनाबल से नये नये अर्थ लगाते हुए प्राचीन स्थविर-परम्परा से बहुत दूर निकल गये।

अब हम एक अन्य गाथा का उल्लेख करेंगे जो भगवती आराधना में (पृष्ठ ३९२) दृष्टिगोचर होती है, पर वास्तव में श्वेताम्बरीय शाखा के बृहत्कल्पभाष्य की है—

"देसामासियसुत्तं, आचेलक्कं ति तं खु ठिदिकप्पे।
लुत्तोत्थ आदिसद्दो, जह तालपलंबसुत्तम्मि ॥ ११२३ ॥"

इस गाथा के चतुर्थ चरण में प्रयुक्त, तालप्रलंब सूत्र के नामोल्लेख से यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है कि यह गाथा श्वेताम्बरीय है, क्योंकि इसमें जिस तालप्रलंब सूत्र का उल्लेख किया गया है वह श्वेताम्बरीय 'बृहत्कल्प' का प्रथम सूत्र है और आजतक उपलब्ध होता है।

इसी भगवती आराधाना में एक 'जहणा' नामक अधिकार है जिसमें साधु के मृत शरीर को त्यागने की विधि है। यह सारा का सारा अधिकार श्वेताम्बरीय आवश्यकनिर्युक्त्यन्तर्गत 'पारिठावणियाविधि' की मूलगाथाओं और प्राकृतचूर्णि के आधार पर से कुछ फेरफार के साथ संकलित किया गया है, तथापि गुरु सम्प्रदाय न होने के कारण दिगम्बराचार्य कहीं कहीं निर्युक्तिगत गाथाओं का भाव नहीं समझ सके। पाठकों के मनोविनोदार्थ हम एक दो गाथाओं की यहाँ चर्चा करेंगे।

पारिठावणियाविधिकार विधान करते हैं, "जहाँ साधु का शव परठना (छोड़ना) हो वहाँ कुश का संथारा (पथारी) करना चाहिये। कुश के अभाव में 'चूर्ण' अथवा 'केसर' से उस स्थान में 'ककार' करना और उसके नीचे 'तकार' बाँधना।" इस विषय का प्रतिपादन करनेवाली गाथायें नीचे मुजब हैं—

"कुसमुट्ठीएगाए, अव्वोच्छिण्णाइ तत्थ धाराए।
संथारं संथरेज्जा, सव्वत्थ समो उ कायव्वो ॥ ४८ ॥
जत्थ य नत्थि तणाइं, चुण्णेहिं तत्थ केसरेहिं वा।
कायव्वोऽत्थ ककारो, हेट्ठ तकारं च बंधेज्जा ॥ ५१ ॥"

(आवश्य सूत्र पृ० ६३५)

ये ही गाथाएँ कुछ फेरफार के साथ भगवती-आराधना में नीचे मुजब उपलब्ध होती हैं—

"तेण कुसमुट्ठिधाराए, अव्वोच्छिण्णाए, समणिवादाए ।
संथारो कादव्वो, सव्वत्थ समो सगिं तत्थ ॥ १९८० ॥
(भ० आ० ६३५)
असदि तणे चुण्णेहिं व, केसरिच्छारिट्ठिकादिचुण्णेहिं ।
कादव्वो थ ककारो, उवरे हिट्ठा तकारो से ॥ १९८८ ॥
(भगवती-आराधना ६३७)

इनमें पारिठावणिया-विधिकार 'ककार' करना और उसके नीचे 'तकार' बाँधना कहते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि वहाँ पर वासचूर्ण अथवा केसर से 'पुतला' करना चाहिये। मौर्यकाल में 'क' और 'त' का संयोग '$\overset{\text{क}}{\text{त}}$' इस प्रकार पुत्तलक के रूप में होता था। पुतला बनाना ऐसी स्पष्टोक्ति न कर इस प्रकार अन्योक्ति में पुत्तलक-विधान किया। इसका कारण यह है कि पुत्तलक बनाना शिल्पी या होशियार मनुष्य का काम है। हर एक साधु इस काम में होशियार नहीं होता। परन्तु संयुक्त '$\overset{\text{क}}{\text{त}}$' लिखना सभी जानते थे इसलिये 'क' के नीचे 'त' बाँधने के कथन द्वारा 'पुत्तलक' निर्माण का भाव बताने में ग्रन्थकार ने बड़ी बुद्धिमानी की है। इस उक्ति का भाव भगवती-आराधनाकार की समझ में नहीं आया क्योंकि वे विक्रम की पाँचवीं छठी सदी के ग्रन्थकार थे और 'क' और 'त' का संयोग विक्रम की दूसरी सदी के पहले ही अपना 'पुत्तलक' आकार बदल चुका था। अतएव उन्होंने प्रकरण और शब्दों को बदलकर अर्थ में अस्पष्टता उत्पन्न कर दी है।

उक्त गाथा में 'तकार-ककार' के संयोग से पुत्तलक का विधान प्रतिपादन करने से पारिठावणियाविधिकार श्वेताम्बरस्थविर की प्राचीनता का भी पता चल जाता है कि वे विक्रम की दूसरी सदी के पहले के आचार्य थे।

भगवती-आराधनाकार की अर्वाचीनता उन्हीं के कथन से सिद्ध है। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन्होंने अनेक स्थलों में 'गच्छ' शब्द का प्रयोग किया है जो कि विक्रम की पाँचवीं सदी के बाद का 'गण' का स्थानापन्न

शब्द है। इसी भगवती-आराधना में साधु या आर्या का मृत शरीर उठाने के लिये पालकी (रथी) बनाने का विधान किया है जो कि वसतिवास होने के बहुत पीछे की रूढ़ि है। इसके अतिरिक्त अन्य कई शब्द और परिभाषाएँ इसमें मिलती हैं जो सब श्वेताम्बरों की हैं। दिगम्बरीय साहित्य में उनका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।

दिगम्बर सम्प्रदाय के विद्यमान प्राचीन ग्रन्थों में वट्टकेराचार्यकृत 'मूलाचार' भी एक है। यद्यपि इस ग्रन्थ का रचनाकाल निश्चित नहीं है तथापि संग्रह ग्रन्थ होने के कारण इसका समय निर्णीत करना कठिन नहीं है। इस मूलाचार के पंचाचाराधिकार में कुल २२२ गाथाएँ हैं जिनमें ६० गाथाएँ अक्षरशः भगवती-आराधना की हैं। कुछ श्वेताम्बर आगमों की और कुछ ग्रन्थकार की स्वनिर्मित हैं।

'समाचाराधिकार' में कुछ गाथाएँ भगवती-आराधना की, कुछ श्वेताम्बरीय आवश्यकनिर्युक्ति की और कुछ स्वनिर्मित हैं।

'पिण्डविशुद्ध्यधिकार' में मौलिक गाथाएँ श्वेताम्बरीय पिण्ड-निर्युक्ति की ही हैं। हाँ, कहीं-कहीं उनकी व्याख्या अपने सम्प्रदायानुसार अवश्य बदल दी गई है।

'पर्याप्त्यधिकार' में कहीं-कहीं आवश्यकनिर्युक्ति की गाथाएँ दृष्टि-गोचर होती हैं। दोनों 'प्रत्याख्यानसंस्तारस्तवाधिकारों' में श्वेताम्बरीय 'पइन्नों' की अनेक गाथाएँ ज्यों की त्यों संग्रह की गई हैं।

'समयसाराधिकार' में आवश्यकनिर्युक्ति और दशवैकालिकसूत्र की गाथाएँ उपलब्ध होती हैं।

मूलाचार का षडावश्यकाधिकार श्वेताम्बरीय आवश्यकनिर्युक्ति का ही संक्षिप्त संग्रह है। इसमें कुल १९३ गाथाएँ हैं जिनमें से ७७ गाथाएँ आवश्यकनिर्युक्ति की हैं और ८ आवश्यकभाष्य की। इनमें १५-२० गाथाएँ कुछ विकृत कर दी गई हैं और जहाँ साम्प्रदायिक मतभेद था वहाँ गाथा को अपनी मान्यता के अनुकूल बना दिया है। शेष गाथाएँ आवश्यकनिर्युक्ति और भाष्य का संक्षिप्त सार लेकर स्वतंत्र निर्माण की गई हैं। परन्तु सामान्यरूप से इन सब पर शौरसेनी का असर डालने के लिये 'त' के स्थान पर 'द' अवश्य बना दिया गया है। मूला-

चार की रचना हुई उसके बहुत पहले ही जैन आगम लिखे जा चुके थे इसलिए ग्रन्थकार को कतिपय श्वेताम्बर आगम तो मिल गये पर परम्परागत अर्थाम्नाय नहीं मिला। इस कारण कई प्रकरण और परिभाषाएँ कल्पनाबल से समझने की चेष्टा करनी पड़ी जिसमें कई जगह वे सफल नहीं हुए। उदाहरण के तौर पर 'सामाचारी' प्रकरण को ही लीजिये।

प्राचीन शब्द 'सामाचारी' का वास्तविक अर्थ न समझने के कारण उसके स्थान पर वट्टकेर ने 'सामाचार' शब्द गढ़ा और उसके प्रतिपादन के लिए कुछ फेरफार के साथ निम्नलिखित आवश्यकनिर्युक्ति की गाथायें लिख दीं—

"इच्छामिच्छाकारो, तधाकारो य आसिआ णिसिही।
आपुच्छा पडिपुच्छा, छंदण सनिमंतणा य उवसंपा ॥१२५॥
इट्ठे इच्छाकारो, मिच्छाकारो तहेव अवराहे।
पडिसुणणह्मि तहत्ति य, णिग्गमणे आसिआ भणिआ ॥१२६॥
पविसंते य णिसीही, आपुच्छणिया सकज्ज आरम्भे।
साधम्मिणा य गुरुणा, पुव्वणिसिट्ठंमि पडिपुच्छा ॥१२७॥
छंदण गहिदे दव्वे अगहिददव्वे णिमंतणा भणिया।
तुह्ममहं ति गुरुकुले, आदणिसग्गो दु उवसंपा ॥१२८॥

इसमें १२५ वीं गाथा आवश्यकनिर्युक्ति की ६६६ वीं गाथा और ६६७ वीं गाथा के प्रथमचरण का संक्षेप है और बाद की १२६-१२७-१२८ इन तीन विवरण गाथाओं में कुछ में तो आवश्यकनिर्युक्ति का अनुसरण है और कुछ में स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता आने का कारण कुछ तो सांप्रदायिकता और कुछ आम्नायानभिज्ञता हुई है।

सामाचारी के पहले भेद 'इच्छाकार' का पारिभाषिक अर्थ यह है कि साधु अपना कुछ भी कार्य अन्य साधु को कहे तो 'इच्छाकारेण (इच्छा से अर्थात् तुम्हारी इच्छा हो तो) अमुक कार्य करो' इस प्रकार शब्द प्रयोग करे; पर आदेश के रूप में किसीको हुक्म न करे। आचार्य वट्टकेर या तो इस भाव को समझ ही नहीं पाये और अगर

समझे हैं तो जान बूझकर उन्होंने इसका अर्थ बदल दिया है। क्योंकि नग्न, करपात्र और निष्प्रतिकर्म साधु के लिये ऐसा कोई कार्य ही नहीं होता जो अन्य साधु से करवाया जाय। इस विचार से उन्होंने 'इच्छाकार' का अर्थ किया 'इट्ठे इच्छाकारो' अर्थात् इष्ट का कार्य करने की इच्छा करना, परन्तु यह नहीं सोचा कि—'इच्छा करना' यह सामाचारी या सामाचार कैसे हो सकेगा ?

शुभ कार्य करने की इच्छा करना यह जीवमात्र का कर्तव्य है। ऐसे सर्वसाधारण मानसिक विचारमात्र को 'साधु सामाचार' कहना कुछ भी अर्थ नहीं रखता। इसी प्रकार 'आवसिया' शब्द को बिगाड़ कर 'आसिआ' बना दिया है जिसके अर्थ की कुछ भी संगति नहीं होती। 'छंदण' और 'निमन्तणा' का अर्थ मूलगाथा में बिलकुल अस्पष्ट है। 'छंदण गहिदे दव्वे अगहिददव्वे णिमंतणा' ये मूल गाथा के शब्द हैं। जिनका शब्दार्थ ग्रहण किये हुए द्रव्य में छंदना और अगृहीत द्रव्य में निमंत्रणा' होता है; परन्तु इन शब्दों से कुछ भी विशिष्ट अर्थ नहीं निकलता। हाँ, इस विषय का आगे जाकर कुछ स्पष्टीकरण अवश्य किया है पर वहाँ भी अर्थ संगति नहीं होती। सामान्य रीति से दोनों परिभाषाओं का अर्थ बिगाड़ दिया है, पर 'निमन्त्रणा' की तो और भी मिट्टी पलीद कर दी है। इस पद की निम्नोद्धृत विवरण गाथा देखिये—

"गुरु साहम्मियदव्वं, पुत्थयमण्णं च गेण्हिदुं इच्छे।
तेसिं विणयेण पुणो, णिमंतणा होई कायव्वा ॥१३८॥ (पृष्ठ १२२)

अर्थात् "गुरु और साधर्मिक-सम्बन्धी पुस्तक अथवा अन्य कोई पदार्थ ग्रहण करना चाहे तो उनको विनयपूर्वक निमन्त्रण करना चाहिये।" देखिये, कैसी अर्थसंगति बिगड़ गई है ? 'निमंत्रणा' कुछ भी पदार्थ देने के लिये पहले की जानेवाली प्रार्थना का नाम है न कि 'याचना' का। टीकाकार ने निमन्त्रणा का अर्थ 'याचना' करके अर्थ संगति करने की चेष्टा की है पर निमन्त्रणा शब्द का ऐसा अर्थ करना कुछ भी प्रामाणिकता नहीं रखता।

आहार-पानी आदि श्रमणोपयोगी पदार्थ लाकर 'इसमें से इच्छा हो सो लीजिये, इस प्रकार अन्य साधु की प्रार्थना करना उसको छंदना

कहते हैं और आहार-पानी आदि लेने जाते समय 'आपके लिये मैं लाऊँगा' इस प्रकार अन्य साधु को न्योता देना उसका नाम है 'निमन्त्रणा'। परन्तु दिगम्बराचार्य इन परिभाषाओं का भाव नहीं समझ सके और कल्पनाबल से जो कुछ अर्थ सूझा वही लिख दिया।

श्वेताम्बर आगमों में ओघसामाचारी, दशविधसामाचारी और पदविभागसामाचारी, ऐसे सामाचारी के तीन भेद कहे हैं। ओघनिर्युक्ति में जिस सामाचारी का निरूपण है वह ओघसामाचारी, इच्छा-मिच्छा आदि दशविधसामाचारी (इसको 'चक्रवाल सामाचारी भी कहते हैं) और कल्पव्यवहारादि छेद सूत्रोक्त आचार को पदविभाग-सामाचारी कहते हैं।

यद्यपि वट्टकेर के पास आवश्यकनिर्युक्ति विद्यमान थी और उसमें 'त्रिविध सामाचारी' का उल्लेख भी था, तथापि वहाँ दशविधसामाचारी के अतिरिक्त अन्य सामाचारियों का कुछ भी वर्णन नहीं था। इस कारण दशविध सामाचारी के नाम निर्देश के बाद आये हुए निर्युक्तिकार के "एएसिं तु पयाणं पत्तेयपरूवणं वोच्छं" (इन प्रत्येक पदों का निरूपण करूँगा) इस 'प्रत्येक पद' शब्द प्रयोग से उन्होंने इन्हीं दस पदों के विवरण को 'पदविभाग सामाचारी' मानलिया; परन्तु फिर भी सामाचारी के तीन भेद पूरे नहीं हुए तब त्रिविध सामाचारी के स्थान पर दो ही प्रकार का सामाचार मानकर रह गये।

इस प्रकार प्रकरणों की अपूर्णता, परिभाषाओं की अनभिज्ञता और अर्थ की असंगतियों का विचार करने से यह बात लगभग निश्चित हो जाती है कि दिगम्बर आचार्य ने दशविधसामाचारी की मौलिक बातें श्वेताम्बर-शाखा की आवश्यकनिर्युक्ति में से ली हैं और उसकी व्याख्या करते समय अर्थ बदलने की चेष्टा की है जिसमें वे सफल नहीं हुए।

ऊपर के संक्षिप्त विवरण से ज्ञात हो जायगा कि मूलाचार की रचना दशवैकालिक, महापच्चक्खाणादि पइन्नय, आवश्यकनिर्युक्ति और आवश्यकभाष्यादि अनेक श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के आगम और भगवती आराधनादि कतिपय दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों के आधार पर विक्रम की सातवीं सदी के आसपास में हुई है।

ऊपर हमने दिगम्बर सम्प्रदाय के जिन दो प्राचीन ग्रन्थों की जो मीमांसा की है उससे तीन बातें स्पष्ट होती हैं—

(१) विक्रम की पाँचवीं सदी तक दिगम्बर सम्प्रदाय भी बहुधा श्वेताम्बर आगमों को ही मानता था।

(२) प्रारम्भ में दिगम्बर-ग्रन्थकार अपनी रचना में मुख्य आधार श्वेताम्बर जैनागमों का ही लेते थे।

(३) परम्परागत कतिपय आगमिक परिभाषाओं का पता न लगने के कारण कहीं-कहीं दिगम्बर ग्रन्थकार अपनी कल्पना से काम लेते थे। जिसके फलस्वरूप वे कई बातों में श्वेताम्बर सम्प्रदाय से अलग हो गये।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'दिगम्बराचार्य श्वेताम्बर परम्परागत आगमों का आश्रय लेते थे' यह कहने के बदले यही क्यों न कहा जाय कि दिगम्बर ग्रन्थों में जो श्वेताम्बर ग्रन्थोक्त गाथाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे वास्तव में ऐसे आगमों की होंगी जो श्वेताम्बर और दिगम्बरों के पृथक होने के पहले के होंगे और दोनों सम्प्रदायों में परम्परा से चले आये होंगे।

ठीक है, यह कथन दशवैकालिक और आवश्यकनिर्युक्ति के सम्बन्ध में किसी तरह मान लिया जा सकता है; पर छेद, भाष्यों और आवश्यकभाष्य की गाथाओं के विषय में क्या समाधान किया जायगा? क्योंकि भाष्य साम्प्रदायिक पृथक्त्व के बहुत पीछे के हैं। जिनका शिवार्य और वट्टकेर ने उपयोग किया है। वस्तुतः उक्त ग्रन्थों के निर्माण-समय में दिगम्बरसंप्रदाय के पास परम्परागत दशवैकालिक और निर्युक्ति आदि ग्रन्थों का भी अस्तित्व रहना सम्भव नहीं है। क्योंकि दिगम्बरीय सम्प्रदाय में इन ग्रन्थकारों के बहुत पहले ही अंग और प्रकीर्णकों का विच्छेद हो चुका था।

शिवार्य पूर्वाचार्यों की रचनाओं का उपजीवन करके भगवती-आराधना की रचना करने की बात कहते हैं और वट्टकेर भी सामायिक-निर्युक्ति को आचार्य-परम्परागत बताते हैं। फिर भी इससे यह मान लेना

कुछ भी प्रमाण नहीं रखता कि ये ग्रन्थ दिगम्बरीय होंगे। क्योंकि दिगम्बरों में न तो शिवार्य के पहले का कोई आराधना ग्रन्थ ही है और न वट्टकेर के पहले की षडावश्यकनिर्युक्ति ही। इसके विपरीत श्वेताम्बर-परम्परा में 'महापचक्खाण' आदि अनेक अति प्राचीन आराधना-विषयक 'पइन्नय' ग्रन्थ और दशवैकालिक आवश्यकनिर्युक्ति आदि प्राचीन आगम आज भी मौजूद हैं। इससे यह मानना ही युक्तिसंगत है कि दिगम्बर ग्रन्थकार जिनका उपयोग करना स्वीकार करते हैं वे ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा के थे।

जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में मथुरा और वलभी में आगम पुस्तकारूढ होने सम्बन्धी वृत्तान्त उपलब्ध होता है। उसी प्रकार दिगम्बरों में भी पुण्ड्रवर्धन नगर में पुस्तक लिखने सम्बन्धी एक कथा है जो श्रुतावतार कथा के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि यह कथा अधिक प्राचीन नहीं है तथापि इसमें आंशिक सत्यता अवश्य होनी चाहिये। चीनी परिव्राजक हुएनत्सांग जब पुण्ड्रवर्धन में गया था तो उसने वहाँ पर नग्न साधु सबसे अधिक देखे थे। इससे भी अनुमान होता है कि उस समय अथवा तो उसके कुछ पहले वहाँ दिगम्बर-संघ का सम्मेलन हुआ होगा। यद्यपि कोई-कोई दिगम्बर विद्वान् उक्त सम्मेलन को कुन्दकुन्दाचार्य के पहले हुआ बताते हैं; परन्तु दिगम्बरीय पट्टावलियों की गणनानुसार यह प्रसंग कुन्दकुन्द के बहुत पीछे बना था। पट्टावलियों में कुन्दकुन्द से लोहाचार्य पर्यन्त के सात आचार्यों का पट्टकाल निम्नलिखित क्रम से मिलता है—

दिगम्बर ग्रन्थों के लिखने की कथा—

१—कुन्दकुन्दाचार्य	५१५–५१९
२—अहिबल्याचार्य	५२०–५६५
३—माघनन्द्याचार्य	५६६–५९३
४—धरसेनाचार्य	५९४–६१४
५—पुष्पदन्ताचार्य	६१५–६३३
६—भूतबल्याचार्य	६३४–६६३
७—लोहाचार्य	६६४–६८७

पट्टावलीकार उक्त वर्षों को वीरनिर्वाण सम्बन्धी समझते हैं; परन्तु वास्तव में ये वर्ष विक्रमीय होने चाहिये, क्योंकि दिगम्बरपरम्परा में विक्रम की बारहवीं सदी तक बहुधा शक और विक्रम संवत् लिखने का ही प्रचार था। प्राचीन दिगम्बराचार्यों ने कहीं भी प्राचीन घटनाओं का उल्लेख वीर संवत् के साथ किया हो यह हमारे देखने में नहीं आया तो फिर यह कैसे मान लिया जाय कि उक्त आचार्यों का समय लिखने में उन्होंने वीर संवत् का उपयोग किया होगा? जान पड़ता है, कि सामान्यरूप में लिखे हुए विक्रम वर्षों को पिछले पट्टावली लेखकों ने निर्वाणाब्द मान कर धोखा खाया है और इस भ्रमपूर्ण मान्यता को यथार्थ मान कर पिछले इतिहास-विचारक भी वास्तविक इतिहास को बिगाड़ बैठे हैं।

यदि हम पट्टावलियों में लिखे हुए पट्टक्रम को ठीक न मान कर श्रुतावतार में दिये हुए श्रुतधर-क्रम को ठीक मान लें तो भी कुन्दकुन्द बहुत पीछे के आचार्य सिद्ध होंगे। क्योंकि श्रुतावतार के लेखानुसार आरातीय मुनियों के बाद अर्हद्बलि आचार्य हुए थे। आरातीय मुनि वीर निर्वाण से ६८३ (विक्रम संवत् २१३) तक विद्यमान थे। इसके बाद क्रमशः अर्हद्बलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि नामक आचार्य हुए। पुष्पदन्त और भूतबलि ने षट्खण्डागम सूत्र की रचना की। उधर गुणधर मुनि ने नागहस्ती और आर्यमंक्षु को कषायप्राभृत का संक्षेप पढ़ाया। उनसे यतिवृषभ ने और यतिवृषभ से उच्चारणाचार्य ने कषायप्राभृत सीखा और गुरु-परंपरा से दोनों प्रकार का सिद्धान्त पद्मनन्दि (कुन्दकुन्द) तक पहुँचा। श्रुतावतार के उपर्युक्त कथन से भी यही सिद्ध होता है कि अंग ज्ञान की प्रवृत्ति जो वीर सं० ६८३ (विक्रम सं० २१३) तक चली थी उसके बाद अनेक आचार्यों के पीछे कुन्दकुन्द हुए थे।

हमारे इस विवेचन से विचारकगण समझ सकेंगे कि कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम की छठी सदी के प्रथम चरण में स्वर्गवासी हुए थे और उनके बाद विक्रम की सातवीं सदी के मध्य भाग में दिगम्बर ग्रन्थ पुस्तकों पर लिख कर व्यवस्थित किये गये थे।

इन सब बातों के विचार के उपरान्त यह कहने में हमें कुछ भी संकोच नहीं होता कि दिगम्बर सम्प्रदाय के जो-जो आचार-विचार विषयक मौलिक[1] ग्रन्थ हैं वे श्वेताम्बर आगमों के आधार पर बने हैं और दिगम्बरों के दार्शनिक सहित्य की जड़ भी श्वेताम्बराचार्य वाचक उमास्वाति कृत सभाष्य तत्वार्थसूत्र ही है यह कहने की शायद ही आवश्यकता होगी।

---

१. दिगम्बर-संप्रदाय की श्रुतावतार कथाओं में कर्मप्रकृतिप्राभृत और कषाय-प्राभृत ग्रन्थों के निर्माण का जो वृत्तान्त दिया है। उससे भी हमें तो यही प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों के क्रमशः ज्ञाता धरसेन और गुणधरमुनि प्राचीन स्थविर (श्वेताम्बर) परम्परा के स्थविर होने चाहिये, क्योंकि धरसेन का निवास गिरनार के पास बताया है जहाँ कि उस समय श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य ही विचरते थे। गुणधरमुनि से नागहस्ती और आर्यमंक्षु के कषायप्राभृत सीखने सम्बन्धी वृत्तान्त भी विचारणीय हैं, क्योंकि श्वेताम्बर-परम्परा में ही नागहस्ती और आर्य-मंगु नामक दोनों आचार्यों का पता मिलता है, दिगम्बर परम्परा में नहीं। और खास ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि दिगम्बर-संप्रदाय जिन धरसेन और गुणधर मुनि से अपने आगमों की उत्पत्ति हुई बताता है, उनके विषय में वह कुछ भी जानकारी नहीं रखता। श्रुतावतार में इन्द्रनन्दी कहते हैं—'धरसेन और गुणधर गुरु के वंश का पूर्वापर क्रम हम नहीं जानते, क्योंकि उनका क्रम कहनेवाला कोई आगम या मुनि नहीं है।' क्या आश्चर्य है कि ये दोनों श्रुतधर श्वेताम्बर परम्परा के हों और इसी कारण से दिगम्बर-परम्परा को इनके विषय में अधिक जानकारी न मिली हो।

एक बात और है। दिगम्बरों की मान्यतानुसार उनके धार्मिक ग्रंथों का आधार धरसेनाचार्य का 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' और गुणधरमुनि का 'कषायप्राभृत' है। इन्हीं दो ग्रन्थों की टीका चूर्णियों से उनका धार्मिक साहित्य पनपा है। परन्तु देखना यह है कि 'कर्मप्रकृतिप्राभृत' एक छोटा सा कर्मविषयक निबंध था। जिसे पुष्पदन्त और भूतबलि ने कुछ दिनों में ही धरसेन से पढ़ लिया था और कषाय-प्राभृत भी एक सौ तिरासी गाथात्मक मूल और तिरेपन गाथा प्रमाण उस पर विवरण था, तो इन दो छोटे से प्राचीन निबन्धों से दिगम्बरों का धार्मिक साहित्य इतना विस्तृत कैसे हुआ! और सिर्फ 'कर्म' और 'कषाय' के प्रतिपादक इन दो ग्रन्थों के आधार पर धर्म विषयक धार्मिक साहित्य कैसे रचा गया! हम समझते

श्वेताम्बर और दिगम्बर जैन परम्पराओं के विषय में जितना चाहे लिखा जा सकता है। क्योंकि ये दोनों ही परम्पराएँ अब तक दृढ़मूल हैं और अपनी कृतियों से संसार को प्रभावित कर रही हैं। तथापि ग्रन्थ के एक परिच्छेद में इससे अधिक लिखना उचित नहीं जँचता।

उपसंहार

यों तो इस विषय में अनेक प्राचीन और आधुनिक विद्वान् लिख चुके हैं तथापि आज तक उन लेखों से इन परम्पराओं की वास्तविकता प्रकट नहीं हुई थी। हमने यहाँ जो इतना विस्तार किया है खास इसी त्रुटि को दूर करने के लिये।

दिगम्बर विद्वान् कहा करते हैं कि 'स्थविरकल्प' नामक 'कल्प' पिछले समय में श्वेताम्बरों द्वारा गढ़ा गया है; परन्तु इस लेख से वे जान सकेंगे कि 'स्थविरकल्प' की मान्यता प्राचीन दिगम्बराचार्यों में भी थी। जिनकल्पधारक साधु प्रथम संहननवाला और विशिष्ट श्रुत-धर होना चाहिए, ऐसी केवल श्वेताम्बरों की ही मान्यता न थी, बल्कि दिगम्बराचार्य भी यही मानते थे कि जिनकल्पिक प्रथम संहननधारी और एकादशाङ्ग श्रुतधारी होना चाहिये। इन मान्यताओं के ऊपर से यह निश्चित हो जाता है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद थोड़े ही समय में प्रथम संहनन के साथ 'जिनकल्प' का विच्छेद हो गया था, जैसा कि श्वेताम्बर परम्परावाले मानते हैं। उस समय के बाद जितने भी दिगम्बर-श्वेताम्बर साधु हुए सब स्थविरकल्पिक थे।

जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिकों के आचारमार्ग का जैसा पृथक्करण श्वेताम्बराचार्यों ने किया है वैसा दिगम्बराचार्यों ने नहीं किया और एकान्त नग्नता एकान्त निष्प्रतिकर्मतादि कितने ही जिन-कल्पिकों के उग्र आचारों को वे स्थविरकल्पिकों के लिये भी ऐकान्तिक

हैं कि हमारे समानधर्मियों ने अपने धार्मिक ग्रंथों के निर्माण में श्वेताम्बर-परम्परा के संग्रहीत और लिखित साहित्य का खुल कर उपयोग किया है और इसी परम्परा के धार्मिक सूत्र प्रकरणों के आधार पर टीका, चूर्णियाँ और विविध विषय के ग्रन्थ बनाकर अपना साहित्य भण्डार भरा है।

मान बैठे। परिणामस्वरूप दोनों परम्पराओं के मिलने का रास्ता ही बंद हो गया और दोनों परम्परावालों में एक दूसरे को निह्नव और मिथ्यादृष्टि कहने तक की नौबत पहुँच गयी।

श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का खंडन करनेवाले यदि यह जान लेते कि उनके पूर्वाचार्य भी स्त्रीमुक्ति, केवलिमुक्ति और साधुओं के लिये अपवाद मार्ग से वस्त्रपात्र का स्वीकार करते थे तो हम समझते हैं कि वे श्वेताम्बरों के साथ इतना विरोध कभी नहीं करते।

भद्रबाहु के दक्षिण में जाने के बाद श्वेताम्बरमत की उत्पत्ति होने सम्बन्धी दिगम्बरीय मान्यता कितनी निर्मूल है, यह बात इस लेख से स्पष्ट हो गई है। सच तो यह है कि भद्रबाहु के दक्षिण में जाने संबन्धी घटना विक्रम की पाँचवीं सदी के अन्त में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय में घटी थी। उस समय में उत्तर भारतवर्ष में दुर्भिक्ष भी पड़ा था और उसके बाद सुभिक्ष होने पर वलभी में श्वेताम्बर संघ का एक बड़ा भारी सम्मेलन भी हुआ था। जिसमें माथुरी और वालभी वाचनाओं का एकीकरण और पुस्तक-लेखन-संबन्धी चिरस्मरणीय कार्य सम्पन्न हुए थे। इसी अर्वाचीन घटना को श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ जोड़कर दिगम्बर लेखकों ने अपने सम्प्रदाय को प्राचीन ठहराने की चेष्टा की है; परन्तु यदि वे यह जान लेते कि दिगम्बरों के ही लेखों से यह घटना द्वितीय भद्रबाहु संबन्धी सिद्ध होती है तो हम समझते हैं कि श्वेताम्बरों की अर्वाचीनता सिद्ध करने के लिये वे कभी चेष्टा नहीं करते।

वर्तमान जैन आगमों को कल्पित और अर्वाचीन कहनेवाले दिगम्बर जैन विद्वान् यदि यह जान लेते कि उनके धार्मिक ग्रन्थ भी, जिन्हें वे प्रामाणिक और आप्तप्रणीत समझते हैं, उन्हीं आगमों के आधार पर बने हैं जिन्हें वे नूतन और श्वेताम्बराचार्य प्रणीत कहते हैं, तो शायद जैन आगमों का वे इतना निरादर कभी नहीं करते। इसी प्रकार श्वेताम्बर लेखक भी यदि यह समझ लेते कि उनकी परम्परा के पूर्वकालीन मुनि भी नग्नता और अर्धनग्नता का आदर करते थे और अमुक देश-

काल में वे स्वयं नग्न और अर्धनग्न रहते थे तो हम समझते हैं कि नग्नता के नाते दिगम्बर जैनों को कोसने का समय नहीं आता।

हमें आशा है कि दोनों सम्प्रदायों के विवेचक विद्वान् और सत्यान्वेषी पाठक इस लेख को जिज्ञासाबुद्धि से पढ़ेंगे और वस्तु-स्थिति को समझने का यत्न करेंगे।

बिहारस्थल-नाम-कोष

विहारस्थल-नाम-कोष

अंग—अंग देश मगध के पूर्व में था। आजकल के भागलपुर और मुंगेर के समीप का प्रदेश पूर्वकाल में अंग जनपद कहलाता था। इसकी राजधानी चम्पा नगरी थी। आजकल भागलपुर से पश्चिम में चार मील पर चम्पानाला स्थान है; वही पूर्वकालीन चम्पा है।

चम्पा के ईशान दिशाभाग में पूर्णभद्र चैत्य था, जहाँ पर भगवान् महावीर का समवसरण हुआ करता था और शताधिक राजकुमारों, राजवंशी महिलाओं तथा सेठ-साहूकारों की प्रव्रज्यायें हुई थीं।

अंग मंदिर चैत्य—चम्पा के निकटवर्ती एक उद्यान का नाम।

अच्छ—जैन सूत्रोक्त मगध के आसपास के सोलह देशों में से एक का नाम 'अच्छा' था। आचार्य श्रीहेमचन्द्र के अभिप्रायानुसार 'अच्छा' वरुणा देश की राजधानी थी। आधुनिक पुरातत्त्ववेत्ता गंगा यमुना के बीच में कौशाम्बी के वायव्य और कानपुर के नैर्ऋत में 'अत्स्य' देश बताते हैं, जो 'अच्छ' का संस्कृतरूप है। किसीके मत से बुलंदशहर के आस-पास का प्रदेश पूर्वकाल में 'अच्छ' कहलाता था।

अनार्यदेश—भगवान् महावीर के अनार्य देश में विहार करने और नौ बार वर्षा-चातुर्मास्य अनार्यभूमि में अनियतरूप से व्यतीत करने का वर्णन आता है। वह अनार्यभूमि पश्चिम-बंगाल की राढभूमि और वीरभोम आदि संथाल प्रदेश समझना चाहिये।

अपापा—पावा का पहले 'अपापा' नाम था, परन्तु महावीर का वहाँ देहान्त हुआ, इस कारण वह 'पापा' कहलाई। विशेष के लिये 'पावा' शब्द देखिये।

अबाध (अवाहा)—भगवतीसूत्रोक्त सोलह देशों में से एक का नाम अबाध था। यह देश भारत के मध्यदेशों में था।

अंबसाल चैत्य (आम्रसाल चैत्य)—आमलकल्पा के निकटवर्ती उद्यान का नाम। इस उद्यान में भगवान् महावीर का समवरण हुआ था।

अमोघदर्शन—पुरिमताल नगर के समीपवर्ती एक उद्यान का नाम।

अयोध्या—फैजाबाद से छः मील पूर्वोत्तर में प्राचीन अयोध्या थी। महावीर के समय में अयोध्या का स्थानापन्न साकेत नगर था।

अवन्ति—वत्स देश के दक्षिण में अवन्ति का राज्य था। इसकी राजधानी उज्जयिनी थी। महावीर के समय में उज्जयिनी में चण्डप्रद्योत का राज्य था। चण्डप्रद्योत की पट्टरानी शिवादेवी और अंगारवती प्रमुख अन्य रानियाँ श्रमण भगवान् महावीर के धर्मशासन को माननेवाली थीं। चण्डप्रद्योत भी महावीर का प्रशंसक था।

अस्थिकग्राम (अट्ठियग्राम)—यहाँ पर शूलपाणि यक्ष के चैत्य में भगवान् ने वर्षाचातुर्मास्य किया और उपसर्गकारी यक्ष को शान्त किया था।

अस्थिकग्राम विदेह जनपद में अवस्थित था। इसके समीप वेगवती नदी बहती थी। भगवान् मोराक संनिवेश से यहाँ आये थे, और यहाँ से फिर मोराक होकर आप वाचाला की तरफ पधारे थे।

अहिच्छत्रा—अहिच्छत्रा बरेली जिला में बरेली से बीस मील पश्चिम की ओर है। आजकल के रामनगर के समीप पूर्वकाल में अहिच्छत्रा थी। एक समय यह नगरी उत्तरपाञ्चाल की राजधानी थी। जैनसूत्रों के लेखानुसार अहिच्छत्रा कुरु-जांगल की राजधानी थी।

आमलकल्पा (आमलकप्पा)—बौद्धग्रन्थोक्त बुलिय राज्य की राजधानी 'अलकप्प' ही आमलकल्पा समझनी चाहिये। यह स्थान पश्चिमविदेह में श्वेताम्बी के समीप था। आमलकल्पा के बाहर अंबसाल चैत्य में महावीर का समवसरण हुआ था, जहाँ महावीर ने सूर्याभदेव के पूर्वभव का निरूपण किया था।

आर्य-भूमि—जैनसूत्रों में भारतवर्ष में अंग, वंग, कलिंग, मगध, काशी, कोशल, विदेह, वत्स, मत्स्य आदि साढ़े पचीस देश आर्य माने गये हैं और शेष अनार्य। आवश्यकचूर्णि में आर्य-अनार्य भूमि के विषय में लिखा है कि जो-जो युगलिक मनुष्य कुलकरों की आज्ञा में रहे, वे आर्य कहलाये और जिन्होंने उनकी मर्यादा का उल्लंघन

किया वे अनार्य। जैनसूत्रों में पूर्व में ताम्रलिप्ती, उत्तर में श्रावस्ती, दक्षिण में कौशाम्बी और पश्चिम में सिन्धु तक आर्य-भूमि मानी गई है। परन्तु भगवान् महावीर के समय में उक्त मर्यादा ठीक थी या नहीं, यह कहना कठिन है। महावीर उक्त आर्य-देशों में तो विचरे ही थे परन्तु हमारे मत से आप का विहार दक्षिण की तरफ विन्ध्याचल की घाटियों तक भी हुआ था।

आलभिका (आलभिया)—इस नगरी के बाहर शंखवन उद्यान था। आलभिया के तात्कालीन राजा का नाम जितशत्रु था। महावीर के प्रसिद्ध दस श्रमणोपासकों में से पाँचवाँ उपासक गाथापति चुल्लशतक इसी नगरी का रहने वाला था। भगवान् के ऋषिभद्र प्रमुख दूसरे भी अनेक प्रसिद्ध उपासक यहाँ रहते थे, जिनकी भगवान् महावीर ने प्रशंसा की थी। यहीं पर भगवान् महावीर ने पोग्गल परिव्राजक को निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश देकर अपना श्रमणशिष्य बनाया था।

कतिपय विद्वान् आधुनिक 'एरवा' को, जो इटावा से बीस मील उत्तर-पूर्व की तरफ अवस्थित एक प्राचीन नगर है, 'आलभिया' कहते हैं; परन्तु जैनसूत्रों के लेखानुसार हमें यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि आलभिया आजकल का एरवा नहीं किन्तु काशी-राष्ट्रान्तर्गत एक प्रसिद्ध नगरी थी। यह राजगृह से बनारस जाते हुए मार्ग पर अवस्थित थी। महावीर जब-जब राजगृह से बनारस और बनारस से राजगृह को विहार करते, बीच में आलभिया में अवश्य ठहरा करते थे।

आलंभिका (आलंभिया)—आलंभिया और आलभिया संभवतः एक ही स्थान के दो नाम हैं। आवश्यक में महावीर के विहारवर्णन में आलंभिका का उल्लेख है। भगवान् ने छद्मस्थावस्था का सातवाँ वर्षाचातुर्मास्य यहाँ किया था और संगमक के उपसर्ग समाप्त होने के बाद यहाँ पर हरिविद्युत्कुमारेन्द्र ने भगवान् को सुखशाता पूछी थी।

आवत्ताग्राम (आवर्तग्राम)—यहाँ पर भगवान् महावीर ने तपस्वी-अवस्था में बलदेव के मंदिर में कायोत्सर्ग किया था और ग्राम के लोगों के सताने पर बलदेव की मूर्ति ने आपकी सहायता की थी।

यह ग्राम कहाँ था, यह बताना कठिन है। भगवान् श्रावस्ती से हलिद्दुग, नंगला होकर यहाँ आये थे और यहाँ से चोराक, कलंबुका होते हुए राढ देश में गये थे; इससे अनुमान होता है कि शायद यह कोशल जनपद का ही कोई ग्राम होगा, जो पूर्व तरफ जाते मार्ग में पड़ता था।

उज्जयिनी—मालव अर्थात् अवन्तिजनपद की राजधानी उज्जयिनी एक प्राचीन नगरी है। महावीर के समय में यहाँ प्रद्योतवंशी महासेन चण्डप्रद्योत का राज्य था। प्रद्योत वंशपरम्परा से जैनधर्म का अनुयायी था। चण्डप्रद्योत भी जैनधर्म का सहायक था।

उत्तरकोसल—फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, बाराबंकी के जिले तथा आसपास के कुछ भाग, अवध, बस्ती, गोरखपुर, आजमगढ़ और जौनपुर जिलों के कुछ भाग उत्तरकोसल अथवा कोसल जनपद कहलाता था। महावीर के समय में इसकी राजधानी श्रावस्ती थी।

उत्तरक्षत्रियकुण्डपुर—वैशाली के समीप क्षत्रियकुण्डपुर नगर था। भगवान् महावीर का जहाँ जन्म हुआ था, उसको उत्तरक्षत्रियकुण्डपुर कहते थे। उत्तर बिहार के मुजफ्फरपुर जिला में गंडकी नदी के निकटवर्ती बेसाड़पट्टी ही प्राचीन वैशाली है और इसके पास का वसुकुण्ड प्राचीन क्षत्रियकुण्डपुर।

उत्तरवाचाला (उत्तर वाचाला)—कनकखल आश्रमपद में चण्डकौशिक को प्रतिबोध देने के उपरान्त पंद्रह दिन तक तप और ध्यान करके महावीर उत्तरवाचाला गये थे, जहाँ नागसेन ने आपको क्षीर का भोजन कराया था। यहाँ जाते समय भगवान् का वस्त्र सुवर्णबालुका नदी के पुलिन में कांटों में लगकर गिरा था। यह नगर श्वेतांबीके निकटवर्ती था।

उत्तरविदेह—नेपाल का दक्षिण प्रदेश पहले उत्तरविदेह कहलाता था।

उद्दंडपुर—यह नगर पटना जिला (बिहार) में था। पालवंशी राजाओं की यहाँ राजधानी थी। गोशालक ने उद्दंडपुर के चन्द्रावतरण

चैत्य में ऐणेयक का शरीर छोड़कर मल्लराम के शरीर में प्रवेश करने का महावीर के सामने दावा किया था।

उन्नाग (उन्नाक)—पुरिमताल से महावीर उन्नाग होकर गोभूमि की तरफ गये थे जहाँ गोशालक पीटा गया था। आजकल का 'उन्नावा' प्राचीन 'उन्नाग' हो सकता है।

उपनन्द पाटक—ब्राह्मणगाँव का एक हिस्सा जहाँ का जमींदार उपनंद था और जहाँ गोशालक भिक्षा के लिये गया था।

उल्लुकातीर—यह नगर उल्लुका नदी के तट पर था। इसके आसपास का प्रदेश नदीखेड देश कहलाता था। उल्लुकातीर के बाहर एकजंबूचैत्य नामक उद्यान था, जहाँ महावीर ठहरते और उपदेश करते थे। आजकल यह स्थान कहाँ होगा, यह बताना कठिन है। सूत्रों में जहाँ इसका उल्लेख है उसके पहले और पीछे राजगृह के समवसरण की चर्चा है। इससे अनुमान होता है कि उक्त नगर मगध के ही किसी प्रदेश में रहा होगा।

ऋजुपालिका (रिजुवालिया)—ऋजुपालिका नदी के उत्तर तट पर भगवान् महावीर को केवलज्ञान हुआ था। हजारीबाग जिला में गिरिडीह के पास बहनेवाली बाराकड़ नदी को ऋजुपालिका अथवा रिजुवालुका कहते हैं। पं० श्रीसौभाग्य विजयजी ने इसके संबन्ध में अपनी तीर्थमाला में लिखा है कि वहाँ दामोदर नदी बहती है। पर इन उल्लेखों से भगवान् के केवलकल्याणक की भूमि का निश्चित पता लगना कठिन है। आजकल जहाँ सम्मेतशिखर के समीप केवलभूमि बताई जाती है उसके पास न तो ऋजुवालिका या इससे मिलते-जुलते नामवाली कोई नदी है और न जंभियग्राम अथवा इसके अपभ्रष्ट नाम का ग्राम। सम्मेतशिखर से पूर्वदक्षिण दिशा में दामोदर नदी आज भी है पर ऋजुवालिका अथवा उजुवालिया नदी का कहीं पता नहीं है। हाँ, उक्त दिशा में आजी नाम की एक बड़ी नदी अवश्य बहती है। यदि इस आजी को ही उजुवालिका मान लिया जाय तो बात दूसरी है। परंतु एक बात अवश्य विचारणीय है। आजी एक बड़ी और इसी नाम से प्रसिद्ध प्राचीन नदी है। स्थानांगसूत्र में गंगा

की पाँच सहायक बड़ी नदियों में इसकी 'आजी' इसी नाम से परिगणना की है। अतः 'आजी' को 'उजुवालिया' का अपभ्रंश मानना ठीक नहीं है। एक बात यह भी है कि आजी अथवा दामोदर नदी से पावा-मध्यमा, जहाँ भगवान् का दूसरा समवसरण हुआ था, लगभग १४० मील दूर पड़ती है जब कि शास्त्र में भगवान् के केवलज्ञान के स्थान से मध्यमा बारह योजन दूर बताई है। आवश्यकचूर्णि के लेखानुसार भगवान् केवली होने के पूर्व चम्पा से जंभिय, मिंढिय, छम्माणी होते हुए मध्यमा गये थे और मध्यमा से फिर जंभियगाँव गये थे जहाँ आपको केवलज्ञान हुआ। इस विहारवर्णन से ज्ञात होता है कि 'जंभियग्राम' और 'ऋजुपालिका नदी' मध्यमा के रास्ते में चम्पा के निकट ही कहीं होनी चाहिये कि जहाँ से चलकर भगवान् रात भर में मध्यमा पहुँचे थे। बारह योजन का हिसाब भी इससे ठीक बैठ जाता है।

ऋषभपुर (उसभपुर)—इस नगर के बाहर थूभकरण्डक उद्यान था जहाँ धन्य यक्ष का चैत्य था। महावीर के समय में यहाँ का राजा धनावह और रानी सरस्वती थी। इनके पुत्र का नाम भद्रनन्दी था। महावीर एक बार यहाँ पधारे, तब भद्रनन्दी ने श्राद्धधर्म का स्वीकार किया था और दूसरे समवसरण में श्रमणधर्म के महाव्रत।

उत्तराध्ययनटीका में दूसरे निह्नव तिश्यगुप्त का नगर ऋषभपुर में होना लिखा है परन्तु उन्होंने साथ में ऋषभपुर को राजगृह का पर्याय भी बताया है। इस विषय में आवश्यकचूर्णिकार लिखते हैं—अतिपूर्वकाल में क्षितिप्रतिष्ठित नगर था, उसका वास्तु उच्छिन्न हो जाने पर चनक नगर बसा। चनक नगर के जीर्ण होने पर ऋषभपुर। उसके बाद कुशाग्रपुर और कुशाग्रपुर के बाद उसका स्थानापन्न राजगृह बसा। इस प्रकार ऋषभपुर राजगृह नहीं पर पूर्वकालीन मगध का स्वतंत्र पाट नगर था, ऐसा सिद्ध होता है। उसके उद्यान, यक्ष आदि के नाम भी भिन्न हैं। अतः ऋषभपुर मगधदेश का कोई अति प्राचीन नगर रहा होगा। परन्तु महावीर के जहाँ समवसरण हुए वह ऋषभपुर पाञ्चाल की तरफ उत्तर भारत में कहीं रहा होगा ऐसा हमारा अनुमान है।

एकजंबूचैत्य—उल्लुकातीर नगर के उद्यान का नाम जहाँ महावीर का समवसरण हुआ था और इन्द्र ने महावीर से देवागमन संबन्धी प्रश्न किया था।

कनकखल (आश्रमपद)—यहाँ पर भगवान् को चण्डकौशिक सर्प ने डसा था। आपने उस क्रूर दृष्टिविष सर्प को बोध देकर यहाँ पंद्रह दिन तक ध्यान किया था। यह आश्रमपद श्वेताम्बिका नगरी के समीप था।

कनकपुर (कणगपुर)—इस नगर के श्वेताशोक उद्यान में वीरभद्र यक्ष का स्थान था। यहाँ के तात्कालीन राजा का नाम प्रियचंद्र और रानी का सुभद्रादेवी था। राजा के पुत्र युवराज का नाम वैश्रमणकुमार और युवराजपुत्र का नाम धनपति था। भगवान् पहली बार यहाँ पधारे तब धनपति के पूर्वभवों का वर्णन करके उसे श्रमणोपासक बनाया और दूसरे समवसरण में धनपति को श्रमणधर्म की प्रव्रज्या दी थी।

कयलिसमागम (कदलीसमागम)—भद्दिल नगरी का वर्षाचातुर्मास्य समाप्त होने पर बाहर पारणा करके भगवान् कदलीसमागम पधारे थे।

कयलिसमागम मगध के दक्षिण प्रदेश मलयभूमि में कहीं होगा, क्योंकि भगवान् मलय की राजधानी भद्दिल नगरी से यहाँ होते हुए वैशाली गये थे।

कयंगला (कचंगला)—पृष्ठचम्पा का वर्षाचातुर्मास्य समाप्त करके भगवान् कयंगला गये और दरिद्दथेर पापंडस्थों के देवल में ठहरे थे। यह स्थान यदि अंगदेश में ही चम्पा से पूर्व की तरफ हो तब तो आजकल का कंकजोल हो सकता है। बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर कई विद्वान् कंकजोल को ही कचंगला मानते हैं, जो संथाल परगना में है। परन्तु जैनसूत्रों के अनुसार कचंगला नगरी श्रावस्ती के समीप थी। कात्यायन स्कन्दक श्रावस्ती के निकटवर्ती इसी कचंगला के छत्रपलास चैत्य में महावीर के शिष्य बने थे।

कर्णसुवर्ण—मुर्शिदाबाद जिला में भागीरथी के दक्षिण तट पर

जहाँ आजकल रांगामाती नगर है, पौराणिक काल में यहाँ पर पश्चिम बंगाल की राजधानी कर्णसुवर्ण नगर था। आजकल इसका अपभ्रंश नाम 'कानसोना' है। भगवान् महावीर के समय में कर्णसुवर्ण कोटिवर्ष के नाम से प्रसिद्ध था।

कर्मारग्राम (कम्मारगाम)—प्रव्रज्या लेकर महावीर प्रथम रात्रि यहाँ ठहरे थे और यहीं आपको सर्वप्रथम गोपद्वारा उपसर्ग हुआ था।

कर्मारग्राम का अर्थ कर्मकारग्राम अर्थात् मजदूरों का गाँव होता है। कहीं-कहीं कर्मार का अर्थ लोहकार भी लिखा है। इससे जहाँ भगवान् दीक्षा लेकर प्रथम रात्रिवास ठहरे थे, वह या तो मजदूरों की बसती थी अथवा लोहारों का गाँव। यह गाँव क्षत्रियकुण्ड के निकट था, यह निश्चित है। कर्मारग्राम से दूसरे दिन विहार करके भगवान् ने कोल्लाकसंन्निवेश में पारणा किया था। यह कोल्लाक वाणिज्यग्राम और उसके उद्यान दूतिपलाश के बीच में पड़ता था, ऐसा उपासकदशासूत्र के प्रथमाध्ययन के वर्णन से सिद्ध होता है। वाणिज्यग्राम और वैशाली एक दूसरे के समीप थे, यह कल्पसूत्र आदि के उल्लेखों से सिद्ध है। इन बातों से सिद्ध होता है कि भगवान् का जन्मस्थान कुण्डपुर, उपसर्गस्थान कर्मारग्राम और प्रथमपारणास्थान कोल्लाकसंनिवेश, ये सब एक दूसरे के पास-पास थे।

कलंबुका (कलंबुआ)—यहाँ पर महावीर और गोशालक कालहस्ती के हाथ से पकड़े गये और उसके भाई मेघ के पास ले जाने के बाद छोड़ दिए गये थे। कलंबुका अंगदेश के पूर्व प्रदेश में कहीं रहा होगा, क्योंकि यहाँ से भगवान् सीधे राढदेश में गये थे।

कलिंग—उड़ीसा से दक्षिण में और द्राविड़ से उत्तर में महानदी और गोदावरी के बीच का समुद्र तट का देश जिसको आज-कल उत्तर सरकार के नाम से पहिचानते हैं, प्राचीन 'कलिंग' देश है। महावीर के समय में कलिंग की राजधानी काञ्चनपुर नगर था, जो सामान्य रूप से कलिंग नगर भी कहलाता था। सातवीं शताब्दी में कलिंग नगर भुवनेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो आज तक इसी नाम से प्रख्यात है।

काकन्दी—यह उत्तर भारतवर्ष की प्राचीन और प्रसिद्ध नगरी थी। महावीर के समय में काकन्दी में जितशत्रु राजा का राज्य था। इसके बाहर सहस्राम्रवन उद्यान था। महावीर यहां अनेक बार पधारे थे। भद्रा सार्थवाही के पुत्र धन्य और सुनक्षत्र ने यहीं पर महावीर के पास श्रमणधर्म की प्रव्रज्या ली थी। महावीर के श्रमणशिष्य क्षेमक और धृतिधर गृहस्थाश्रम में यहीं के रहने वाले थे।

आजकल लछुआड से पूर्व में काकन्दी तीर्थ माना जाता है, परन्तु हमारे मत से काकन्दी का मूल स्थान यहाँ पर नहीं था। महावीर के विहारवर्णन से जाना जा सकता है कि काकन्दी उत्तर भारतवर्ष में कहीं थी। नूनखार स्टेशन से दो मील और गोरखपुर से दक्षिणपूर्व तीस मील पर दिगम्बर-जैन जिस स्थान को किष्किंधा अथवा खुखुंदोजी नामक तीर्थ मानते हैं, हमारे विचार से यही प्राचीन काकन्दी है।

काञ्चनपुर—यह नगर कलिंग देश का प्राचीन पाट नगर था। आजकल का भुवनेश्वर ही प्राचीन काञ्चनपुर है।

काम महावन—वैशाली के पास यह उद्यान था। महावीर ने ग्यारहवाँ वर्षावास इसी काम महावन के चैत्य में किया और जीर्ण सेठ ने भगवान् को आहार पानी के लिये प्रार्थना की थी।

काम महावन (२)—यह उद्यान वाराणसी के समीप था, ऐसा गोशालक के संवाद से पाया जाता है। गोशालक ने महावीर के सामने कहा था—उसने काम महावन में माल्यमंडित का शरीर छोड़कर रोह के शरीर में प्रवेश किया है।

काम्पिल्य (कंपिल्ल)—इस नगर के बाहर सहस्राम्र नामक उद्यान था। यहाँ के तात्कालिक राजा का नाम जितशत्रु था। यहाँ का गाथापति कुंडकोलिक महावीर का परम भक्त श्राद्ध था, जिसकी भगवान् महावीर ने अपने मुख से प्रशंसा की थी।

आजकल काम्पिल्य, जो कंपिला के नामसे पहचाना जाता है, फर्रुखाबाद से पचीस और कायमगंज से छः मील उत्तरपश्चिम की ओर बूढ़ी गंगा के किनारे अवस्थित है। एक समय काम्पिल्य दक्षिण पाञ्चाल की राजधानी थी।

कालाक संनिवेश (कालाय संनिवेस)—चम्पा के बाहर पारणा करके महावीर ने कालाक में जाकर रात को शून्य घर में ध्यान किया था, जहाँ गोशालक को ग्रामकूट सिंह के हाथ से मार पड़ी थी।

यह संनिवेश चम्पा के निकट कहीं होना चाहिये।

काशी—बनारस के आसपास का प्रदेश, प्रायः बनारस कमिश्नरी और आजमगढ़ जिला पहले काशी देश कहलाता था। महावीर के समय में यह राष्ट्र कोशल देश में मिला हुआ था। इसकी राजधानी बनारस थी।

किरातदेश—आसाम और सिलहट का प्रदेश पहले पहल किरात देश कहलाता था। यहाँ बहुधा किरात लोगों की बस्ती थी। इस देश की राजधानी त्रिपुरा थी जो आजकल 'तिपरा' नामसे प्रसिद्ध है। भगवान् महावीर इस देश में विचरे थे कि नहीं यह कहना कठिन है।

कुण्डग्राम—इस नाम के दो ग्राम थे। एक ब्राह्मणकुण्डग्राम और दूसरा क्षत्रियकुण्डग्राम। दोनों में क्रमशः ब्राह्मणों और क्षत्रियों का स्वामित्व और निवास होने से ये नाम पड़े थे। दोनों वैशाली के शाखापुर थे। महावीर एक बार ब्राह्मणकुण्डग्राम के उद्यान में पधारे। तब दोनों कुण्डग्रामों से भाविक जन दर्शन, वन्दन और धर्म-श्रवणार्थ वहाँ गये थे; इससे इन दोनों कुण्डग्रामों का सामीप्य सिद्ध होता है। भगवान् महावीर के विहारक्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये स्थान वैशाली के समीप थे न कि आज कल जहाँ माने जाते हैं, वहाँ। इस विषय में हमने प्रस्तावना में विशेष खुलासा लिख दिया है।

कुण्डाक संनिवेश—आलंभिया के बाहर पारणा करके महावीर कुण्डाक गये थे और वहाँ पर वासुदेव के मंदिर में ध्यान किया था, जहाँ गोशालक पीटा गया था। यह संनिवेश काशी राष्ट्र के पूर्व प्रदेश में आलंभिया के पास होना चाहिये।

कुत्स (कोच्छा)—जैन सूत्रोक्त पूर्व भारत के सोलह देशोंमें से एक का नाम कुत्स अथवा कोस था। पूरनिया जिला जो कौशिकी नदी के

पूर्व की ओर है, पहले कौशिक कच्छ कहलाता था; वही यह कुत्स अथवा 'कोच्छ' देश होना चाहिये।

कुनाल (कुणाला)—श्रावस्ती के आसपास के देश, उत्तर कोशल, का नाम जैन सूत्रों में 'कुणाला' लिखा है। कुनाल साढ़े पचीस आर्य देशों में से एक था। इसकी राजधानी का नाम श्रावस्ती अथवा सावत्थी था।

कुमाराक संनिवेश (कुमाराय संनिवेस)—इसके बाहर चम्पर-मणीयोद्यान में भगवान् महावीर ने ध्यान किया था, जिस समय गोशालक को पार्श्वापत्य साधु मिले थे और उनके साथ कटाक्षपूर्ण वार्तालाप हुआ था।

यह संनिवेश संभवतः अंगदेश के पृष्ठचम्पा के निकट था।

कुरु—यह देश पाञ्चाल के पश्चिम में और मत्स्य के उत्तर में था। अति प्राचीनकाल में इसकी राजधानी हस्तिनापुर में थी, जहाँ शान्तिनाथ आदि अनेक तीर्थंकरों का जन्म हुआ था। पाण्डवों ने इन्द्रप्रस्थ को इस देश की राजधानी कायम किया था।

कुरुजांगल—जिसका दूसरा नाम श्रीकण्ठ देश है। यह देश हस्तिनापुर से उत्तर-पश्चिम में था। सहारनपुर से तेंतीस मील उत्तर-पश्चिम की ओर विलासपुर इसकी राजधानी थी। जैन सूत्रों में जंगल देश की राजधानी का नाम अहिच्छत्रा लिखा है। इससे मालूम होता है कि उत्तर पाञ्चाल और कुरु देश का संयुक्तराष्ट्र कुरुजांगल कहलाता होगा और उसकी राजधानी विलासपुर होगी।

कुशार्त (कुसट्टा)—जैनसूत्रोक्त साढ़े पचीस अर्य देशों में कुशार्त का नाम भी सम्मिलित है। कुशार्त की राजधानी का नाम शोरीपुर अथवा सौर्यपुर था। इसे यादव शौरि ने बसाया था। भगवान् नेमिनाथ का इसी सौर्यपुर में जन्म हुआ था। जरासंध के विरोध के कारण यादवों ने इस प्रदेश को छोड़ कर द्वारिका को अपनी राजधानी बनाया था। मथुरा के चारों ओर का प्रदेश सूरसेन और सूरसेन से उत्तर का देश कुशार्त नाम से प्रसिद्ध था। आगरा से देहली के रास्ते तेईस मील पर शकुराबाद स्टेशन और वहाँ से सड़क के रास्ते बटेश्वर आता है। कहते

हैं, यही बटेश्वर प्राचीन सौर्यपुर है। शहर से दो मील पर यमुना के तट पर तीर्थंकर नेमिनाथ की प्राचीन चरणस्थापना अब भी विराजमान है।

कूपिक संनिवेश (कूपिय संनिवेस)—यहाँ महावीर छद्मावस्था में विचरे थे और चारिकबुद्धिसे पकड़े गये थे। बाद में विजया प्रगल्भा परिव्राजिकाओं के द्वारा परिचय देने पर आप छोड़े गये थे। यहाँ से भगवान् वैशाली गये थे और गोशालक जुदा हुआ था। यह संनिवेश वैशाली से पूर्व में विदेहभूमि में कहीं था।

कूर्मग्राम (कुम्मगाम)—सिद्धार्थपुर से महावीर कूर्मग्राम आये थे, जहाँ मार्ग में गोशालक ने तिल का पौधा उखाड़ा और उसके फिर जम जाने पर उसने नियतिवाद का समर्थन किया था। इसी कूर्मग्राम के बाहर गोशालक ने वैश्यायन तापस की मसखरी की और तापस द्वारा उसपर तेजोलेश्या छोड़ी गई थी। गोशालक के पूछने पर भगवान् ने तेजोलेश्या प्राप्तिका उपाय भी यहीं कहा था।

यह ग्राम पूर्वीय विहार में कहीं होना चाहिये, क्योंकि वीरभोम से सिद्धार्थपुर होते हुए महावीर यहाँ आये थे।

केकय—व्यास और सतलज नदी के बीच का देश पूर्वकाल में केकय नाम से प्रसिद्ध था। रामचन्द्र की विमाता कैकयी यहीं के राजा की पुत्री थी।

केकय (२)—जैनसूत्रोक्त साढ़े पचीस देशों में से भी एक का नाम केकय था। यह प्रदेश नेपाल की तलहटी में श्रावस्ती से उत्तरपूर्व में था। इसकी राजधानी श्वेतांबिका नगरी थी। यहां का राजा प्रदेशी जैन श्रमणोपासक था। इस देश का पहाड़ी प्रदेश अनार्य जातियों से भरा होगा, ऐसा मालूम होता। यही कारण है कि केकय आधा ही आर्य देश में गिना है। भगवान् महावीर यहाँ अनेक बार विचरे थे।

कोटिवर्ष (कोडिवरिस)—यह नगर राढदेश की राजधानी थी। यहां के राजा किरातराज ने साकेत नगर में भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली थी।

महावीर के समय में कोटिवर्ष में किरात जाति का राज्य था और जब महावीर इधर विचरे थे तब यह प्रदेश अनार्य कहलाता था, परन्तु जैन सूत्रों में राढ देश की गणना आर्य देशों में की है इससे ज्ञात होता है कि यहां के राजा के महावीर का शिष्य होने के बाद जैन उपदेशकों के विहार से धर्म का प्रचार हो जाने से इसको आर्य देश मान लिया होगा। अथवा आर्य होने पर भी अनार्य लोगों की आबादी अधिक होने से महावीर के छद्मस्थ विहार के समय यह अनार्य कहलाता होगा। आज भी इस देश के वीरभोम आदि परगनों में संथाल आदि अनार्य जातियों की ही अधिक आबादी है।

पौराणिक ग्रन्थों में कोटिवर्ष का नाम कर्णसुवर्ण लिखा है। यह देश आजकल के पश्चिम बंगाल में मुर्शिदाबाद के आसपास था, ऐसा पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत है।

कोण्डिनायन चैत्य—वैशाली के निकटवर्ती एक उद्यान का नाम।

कोमिला—बंगाल प्रान्त के चटगाँव विभाग में गोमती नदी के किनारे टिपरा जिला का सदर स्थान कोमिला एक प्राचीन नगर है। पौराणिक काल के लेखों में इसका नाम 'कोमला' मिलता है।

महावीर के निर्वाण के बाद बहुत समय तक कोमिला की जैनधर्म के केन्द्रों में गणना रही है। कल्पसूत्र की थेरावली में जैनश्रमणों की प्राचीन शाखाओं के जो नाम निर्देश किये हैं, उनमें एक शाखा का नाम 'खेमिलिज्जिया' भी है। यह नाम वास्तव में 'खोमलिज्जिया' है जो 'कोमलीया' का प्राकृत रूप है और इसकी उत्पत्ति 'कोमला' से है।

कोल्लाकसंनिवेश (कोल्लागसंनिवेस)—यह संनिवेश वाणिज्य-ग्राम के समीप था। भगवान् महावीर ने दीक्षा के दूसरे दिन यहीं पारणा किया था।

कोल्लाक संनिवेश (२)—यह संनिवेश राजगृह के निकट था जहाँ भगवान् ने नालंदा के चातुर्मास्य की समाप्ति पर मासिक उपवास का पारणा किया था और गोशालक का शिष्य के रूप में स्वीकार किया था। महावीर के चौथे और पाँचवें गणधर का जन्मस्थान भी यही कोल्लागसंनिवेश होगा, ऐसा संभव है।

कोशल—'उत्तर कोशल' शब्द देखिये।

कोष्ठक चैत्य—यह उद्यान श्रावस्ती के निकट था। भगवान् महावीर का समवसरण यहीं होता था। नन्दिनीपिता और सालिहीपिता गाथापतियों ने यहीं महावीर के पास जैनधर्म का स्वीकार किया था। महावीर पर गोशालक द्वारा तेजोलेश्या छोड़ने का उत्पात इसी कोष्ठक चैत्य में हुआ था।

कोष्ठक चैत्य (२)—बनारस के समीप भी एक कोष्ठक चैत्य था जहाँ पर महावीर ने चुलनीपिता और सुरादेव जैसे करोड़पति गृहस्थों को जैन श्रमणोपासक बनाया था।

कोसला—अयोध्या का नामान्तर कोसला था। महावीर के नववें गणधर का जन्मस्थान यही कोसला थी।

कौशाम्बी—इलाहाबाद जिले की मानजहानपुर तहसील में यमुना नदी के बायें किनारे पर जहानपुर से दक्षिण में बारह मील और इलाहाबाद से दक्षिण-पश्चिम में इकतीस मील पर कोसमइनाम और कोसमइखिराज नामक दो गाँव हैं ये ही प्राचीन कौशाम्बी के अवशेष हैं। वहाँ से करीब चार मील पश्चिम में पभोसा का गाँव और पहाड़ हैं जहाँ पर जैन मंदिर है।

कौशाम्बी वत्सदेश की राजधानी थी। यहाँ का राजा उदयन और राजमाता मृगावती महावीर के परम उपासक थे। महावीर यहाँ अनेक बार पधारे थे।

कौशिकी—गंगा की सहायक बड़ी नदी जिसे आजकल कुशी कहते हैं। कुशी मोंगीर और राजमहाल के बीच में होती हुई गंगा में मिल जाती है। जैन सूत्रों में कौशिकी का 'कोसी' नाम से उल्लेख है और इसकी गणना गंगा की पाँच बड़ी सहायक नदियों में है।

क्षत्रियकुण्डपुर (खत्तियकुंडपुर)—मुजफ्फरपुर जिला में बेसाड़पट्टी के पास जो बसुकुण्ड गाँव है वहीं महावीर की जन्मभूमि प्राचीन क्षत्रियकुण्डपुर है। 'कुण्डग्राम' शब्द देखिये।

क्षितिप्रतिष्ठित—चरित्रों में महावीर के क्षितिप्रतिष्ठित नगर में

विहार करने का उल्लेख है। यह क्षितिप्रतिष्ठित कहाँ होना चाहिये यह बताना कठिन है। गंगा के बायें किनारे पर जहाँ आज झूसी है पहले प्रतिष्ठानपुर नगर था। संभव है, चरित्रकार का क्षितिप्रतिष्ठित यही प्रतिष्ठानपुर होगा।

गंगा—भारतवर्ष की सबसे बड़ी नदियाँ दो मानी गई हैं—एक गंगा और दूसरी सिंधु। जैनसूत्रों में गंगा की उत्पत्ति क्षुद्रहिमवत् पर्वत के पद्मद्रह से मानी गई है। आधुनिक अन्वेषणानुसार गंगा हिमालय के उत्तर प्रदेश स्थित मानसरोवर से निकल कर उत्तर भारतवर्ष में होती हुई पूर्व की ओर जाकर समुद्र में गिरती है। महावीर के विहार-प्रसंग में गंगा का उल्लेख अनेक बार आया है। आपके नाव द्वारा गंगा उतरने का उल्लेख भी दो बार आया है।

गजपुर (गयपुर)—हस्तिनापुर का ही नामान्तर गजपुर है। जैन सूत्रों में कुरुजनपद की राजधानी का नाम गजपुर लिखा है।

गंडकी—यह नदी हिमालय के सप्तगंडकी और धवलगिरिश्रेणि से निकलती है। यह गंडक, नारायणी आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध है। महावीर के विहारवर्णन में इसका 'गंडकिका' (गंडइआ) नाम से उल्लेख है।

वैशाली और वाणिज्यग्राम इसके किनारे पर अवस्थित थे और महावीर की जन्मभूमि क्षत्रियकुंडपुर भी इसके समीप ही था।

गुणशील (गुणसिलअ)—यह राजगृह नगर का प्रसिद्ध उद्यान था। भगवान् महावीर जब राजगृह पधारते तब प्रायः इसी उद्यान के चैत्य में ठहरते थे। भगवान् के हाथ से सैकड़ों श्रमण-श्रमणियाँ और हजारों श्रमणोपासक-श्रमणोपासिकायें यहाँ बनी थीं। महावीर के ग्यारह गणधर शिष्यों ने इसी गुणशिलक चैत्य में अनशनपूर्वक निर्वाण प्राप्त किया था। आजकल का गुणावा, जो नवादा स्टेशन से लगभग तीन मीलपर है, प्राचीन समय का गुणशील माना जाता है।

गोकुल—इसका दूसरा नाम व्रजग्राम था। यहाँ पर महावीर भिक्षा के लिये गये, तब संगमक ने सर्वत्र आहार में अनेषणा कर दी थी। यहीं

पर अपनी हार मानकर संगमक ने महावीर से क्षमा प्रार्थना की थी। यह गोकुल उड़ीसा में अथवा दक्षिण कोशल में होने का संभव है।

गोभूमि—यह गोभूमि संभवतः गोकुल के पास का वनप्रदेश होगा। आवश्यकचूर्णिकार लिखते हैं—"गावीओ चरंति तेण गोभूमि" अर्थात् गावों के चरने से गोभूमि कहलाती थी। यहाँ पर गोशालक ने गोपों को वज्रलाढा कहकर मार खाई थी।

गोब्बरगाम—यह गाँव महावीर के गणधर इंद्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति गौतम का जन्मस्थान था। गोवर राजगृह से पृष्ठचम्पा जाते मार्ग में पड़ता था। गौतमरासा में इसे मगधदेश में बताया है; परन्तु कुछ उल्लेखों से यह पृष्ठचम्पा के निकट होने से अंगभूमि में होगा, ऐसा सिद्ध होता है।

ग्रामक संनिवेश (गामाय संनिवेस)—इसके बाहर विभेलक उद्यान में महावीर ने ध्यान किया था और विभेलक यक्ष ने आपकी पूजा की थी। यह संनिवेश वैशाली और शालिशीर्ष नगर के बीच में पड़ता था।

चन्दन पादप उद्यान—यह उद्यान मृगग्राम के निकट था। इसमें सुधर्म यक्ष का मंदिर था। भगवान् महावीर ने इसी उद्यान में मृगापुत्र के पूर्वभव का वर्णन किया था।

चन्द्रावतरण चैत्य—यह चैत्य कौशाम्बी के समीप था। भगवान् महावीर अनेक बार यहाँ पधारे थे और जयन्ती, मृगावती, अंगारवती प्रमुख राजवंशी स्त्रियों को श्रमणधर्म की प्रव्रज्या दी थी।

चन्द्रावतरण चैत्य (२)—उद्दण्डपुर के निकट भी एक चन्द्रावतरण चैत्य था।

चम्परमणीयोद्यान—कुमारासंनिवेश के पास के उद्यान का नाम चम्परमणीय था। यहाँ पर महावीर ने कायोत्सर्ग ध्यान किया था।

चम्पा—चम्पा और पृष्ठचम्पा की निश्रा में महावीर ने तीन वर्षा-चातुर्मास्य व्यतीत किये थे। चम्पा के पास पूर्णभद्र चैत्य नामक प्रसिद्ध उद्यान था, जहाँ महावीर ठहरते थे। चम्पा के राजा का नाम, महावीर

के समय में, जितशत्रु और दत्त लिखा मिलता है। पर आप के पिछले जीवन में चम्पा का राजा कुणिक (अजातशत्रु) था।

जैन सूत्रों में चम्पा को अंगदेश की राजधानी माना है। कोणिक ने जब से अपनी राजधानी बनाई तब से चम्पा अंग (मगध) की राजधानी कहलाई। पटना से पूर्व में (कुछ दक्षिण में) लगभग सौ कोस पर चम्पा थी। आजकल इसे चम्पानाला कहते हैं। यह स्थान भागलपुर से तीन मील दूर पश्चिम में है।

चम्पानगरी—चम्पा का जैन सूत्रों में बहुधा चम्पानगरी के नाम से ही उल्लेख मिलता है। पिछले ग्रन्थों में इसे चम्पापुरी भी लिखा है। विशेष के लिये 'चम्पा' शब्द देखिये।

चेदी—जैनसूत्रों में इसका नाम 'चेती' लिखा है और इसकी गणना सोलह जनपदों में की है। साढ़े पचीस आर्य देशों में भी इसकी गणना है और वहाँ इसका नाम चेदी तथा इसकी राजधानी का नाम 'शुक्तिमती' बताया है। यह राज्य कौशाम्बी के समीप था। ललितपुर से अठारह मील पश्चिम में मध्यभारत के ग्वालियर राज्य में जिले का मुख्य स्थान चन्देरी ही प्राचीन चेदी का आधुनिक प्रतीक है।

चोराक संनिवेश (चोराय संनिवेस)—इस संनिवेश के समीप जासूस समझ कर महावीर नगररक्षकों द्वारा पकड़े गये थे और बाद में सोमा और जयन्ती परिव्राजिकाओं के परिचय देने पर छोड़े गये थे। एक बार इसी चोराक में गोष्ठिक-मण्डली द्वारा गोशालक पीटा गया था। यह स्थान संभवतः प्राचीन अंगजनपद और आधुनिक पूर्वविहार में कहीं रहा होगा।

छत्रपलाशचैत्य—कयंगला (कचंगला) नगरी का वह उद्यान जहाँ पर कात्यायन स्कन्दक परिव्राजक ने महावीर के पास निर्ग्रन्थश्रमण-धर्म का स्वीकार किया था।

छम्माणि (छम्मानी)—इस गाँव के बाहर महावीर ध्यान कर रहे थे, तब एक गोप ने आप के कानों में काष्ठशलाकायें ठोंक दी थीं। यह गाँव मध्यमापावा के निकट चम्पानगरी के रास्ते पर कहीं था।

जंबुसंड (जंबूषण्ड)—इसके बाहर महावीर ने कायोत्सर्ग ध्यान किया था और गोशालक ने गोष्ठिक-भोजन में दहि-भात का भोजन पाया था। भद्दिल नगरी से कदलिसमागम होकर महावीर यहाँ आये थे, आगे वैशाली की तरफ प्रयाण किया था; इससे ज्ञात होता है कि यह गाँव मलय देश में अथवा दक्षिण मगध में कहीं रहा होगा।

जंभियगाम (जंभिकग्राम)—यह वही जंभियगाम है जहाँ पर इन्द्रने महावीर का गुण गान किया था और आपको केवलज्ञान होने का समय बताया था। इसी जंभियगाम के बाहर व्यावृत्त चैत्य के निकट ऋजुवालिया नदी के उत्तर तट पर श्यामाक गृहस्थ के खेत में सालवृक्ष के नीचे ध्यान करते हुए भगवान् महावीर को केवलज्ञान प्रकट हुआ था।

जंभियगाम की वर्तमान अवस्थिति पर विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है। कवि-परम्परा के अनुसार संमेदशिखर से दक्षिण में बारह कोस पर दामोदर नदी के पास जो जंभी गाँव है, वही प्राचीन जंभियगाम है। कोई संमेदशिखर से दक्षिणपूर्व में लगभग पचास मील पर आजी नदी के पासवाले जमगाम को प्राचीन जंभियगाम बताते हैं। हमारी मान्यतानुसार जंभियगाम की अवस्थिति इन दोनों स्थानों से भिन्न स्थान में होनी चाहिये; क्यों कि महावीर के विहारवर्णन से जंभियगाम चंपाके निकट ही कहीं होना चाहिये। विशेष के लिये "ऋजुपालिका" शब्द देखिये।

ज्ञातखण्ड उद्यान—यह वन क्षत्रियकुण्डपुर के समीप था। भगवान् महावीर ने इसी उद्यान में प्रव्रज्या धारण की थी।

तंबाय संनिवेस (ताम्राक संनिवेश)—इस संनिवेश के बाहर महावीर ने ध्यान किया था। गोशालक ने इसी स्थान पर पार्श्वसंतानीय नन्दिषेण स्थविर के साधुओं के साथ तकरार की थी। यह संनिवेश संभवतः मगध में कहीं था।

ताम्रलिप्ति (तामलित्ति)—ताम्रलिप्ति के बंगदेश की राजधानी होने का जैन सूत्रों में उल्लेख है। ताम्रलिप्ति के समीपवर्ती प्रदेश को कहीं-कहीं

'समतट' भी कहा है। क्योंकि यह प्रदेश समुद्रतट के निकट था और ताम्रलिप्ति बंगदेश का प्रसिद्ध बंदरगाह था। आजकल मिदनापुर जिला में जहाँ तामलुक नगर है यहीं पहले ताम्रलिप्ति नगरी थी। चीन के प्रसिद्ध यात्री हुएनत्संग की भारत-यात्रा के समय (इसवी सन् ६३० के बाद) तक ताम्रलिप्ति सामुद्रिक बंदर पर अवस्थित थी पर अब तामलुक से लगभग साठ मील दूर तक समुद्र हट गया है। महावीर के ताम्रलिप्ति में विहार करने का प्राकृतचरित्रों में उल्लेख मिलता है।

तिन्दुकोद्यान—श्रावस्ती का वह उद्यान जहाँ पार्श्वसंतानीय केशीकुमार श्रमण ठहरे थे और इन्द्रभूति गौतम ने उनके साथ धर्मचर्चा की थी।

तुंगिक संनिवेश—संनिवेश महावीर के दसवें गणधर का जन्म स्थान था। यह संनिवेश वत्सदेश के अन्तर्गत था, अतः मांगीतुंगी गाँव ही प्राचीन तुंगिक संनिवेश होना चाहिए।

तुंगिया नगरी—यह नगरी राजगृह के निकटवर्ती थी। जब महावीर राजगृह के उद्यान में विराजते थे और गौतम राजगृह में भिक्षाटन में निकले थे तब कालियपुत्र प्रमुख पाँच सौ पार्श्वसंतानीय स्थविर तुंगिया के पुष्पवृतिक चैत्य में आये थे और राजगृह-निवासी धार्मिक जनों ने उनके पास जाकर धर्म-श्रवण और धर्म-चर्चा की थी और उसका पता इंद्रभूति को जनसंवाद से मिला था। तुंगीया के जैनगृहस्थ धनी, मानी और दृढधर्मी थे, ऐसा भगवतीसूत्र के वर्णन से पाया जाता है। तीर्थमालाओं के कवि लोग विहार नगर को ही तुंगिया बताते हैं, इससे ज्ञात होता है कि विहार से दो कोस पर जो तुंगीगाम है वह प्राचीन तुंगीया का ही अवशेष होगा।

तोसलिगाम—इस तोसली के बाहर संगमक ने महावीर पर चोर का संदेह उत्पन्न कराकर उन्हें सताया और भूतिल इंद्रजालिक ने आपको छुड़ाया था। दूसरी बार भगवान् को तोसलि के स्वामी तोसलि क्षत्रिय के पास चोर के संदेह में खड़ा किया गया था और क्षत्रिय ने आपको फाँसी का हुक्म दिया था; पर सात बार फाँसी का फंदा टूट जाने पर आपको निर्दोष समझ कर छोड़ा था।

तोसलिगाँव हमारे अभिप्राय से गोंडवाना प्रदेश में था। मौर्य-काल में गंगुआ और दया नदी के संगम के मध्य में तोसली एक बड़ा नगर रहा है। यह तोसली ही प्राचीन तोसलिगाम हो तो भी आश्चर्य नहीं है।

थूणागसंनिवेस (स्थूणाकसंनिवेश)—यह संनिवेश गंगा के दक्षिण तट पर था। राजगृह जाते समय गंगा उतरने के बाद महावीर ने यहाँ पर ध्यान किया था।

दक्षिणकोशल—विन्ध्याचल के दक्षिण तरफ का गोंडवाना प्रदेश पहले दक्षिणकोशल कहलाता था। किसी के मत से विदर्भ देश, जो आजकल बराड़ नाम से प्रसिद्ध है, इसका भी पहले दक्षिणकोशल में समावेश होता था।

दक्षिणब्राह्मणकुण्डपुर—ब्राह्मणगाँव का दक्षिणी भाग जहाँ ऋषभदत्त ब्राह्मण जमीनदार रहता था। विशेष के लिये 'ब्राह्मणकुण्डपुर' शब्द देखिये।

दक्षिणवाचाला—इस वाचाला से महावीर कनकखल आश्रम होकर उत्तरवाचाला गये थे। विशेष के लिये 'उत्तरवाचाला' शब्द देखिये।

दशार्ण—भोपाल राज्य सहित पूर्व मालव प्रदेश पहले दशार्ण देश कहलाता था। मौर्यकाल में इसकी राजधानी चैत्यगिरि में और उसके पिछले समय में विदिशा में अर्थात् भिलसा में थी। जैन सूत्रों में इस देश की गणना आर्य देशों में की है और इसकी राजधानी का नाम मृत्तिकावती लिखा है। मृत्तिकावती वत्सभूमि के दक्षिण में प्रयाग के दक्षिण के पहाड़ों में अवस्थित थी। भगवान् महावीर ने दशार्ण देश के राजा दशार्णभद्र को श्रमणधर्म की प्रव्रज्या दी थी। बाद के समय में भी दशार्ण देश जैन-धर्म के प्रचार का केन्द्र रहा है।

दशार्णपुर—दशार्ण देश की राजधानी मृत्तिकावती और पिछले समय की राजधानी विदिशा का कहीं-कहीं दशार्णपुर के नाम से उल्लेख हुआ है।

दूतिपलाश चैत्य—वाणिज्यग्राम के पास इस नाम का उद्यान

था, जहाँ भगवान् महावीर का समवसरण हुआ करता था। आनंद-गाथापति, सुदर्शन श्रेष्ठि आदि को महावीर ने इसी उद्यान में प्रतिबोध दिया था।

दृढ़भूमि—जहाँ म्लेच्छों की बसती अधिक थी। इंद्र की प्रशंसा से संगमक देव ने जहाँ एक रात में महावीर को वीस उपसर्ग किये थे, वह पेढालगाँव इसी भूमि में था। यह भूमि आधुनिक गोंडवाना प्रदेश होना चाहिये।

देवरमण उद्यान—साहंजनी नगरी के निकट का एक उद्यान जहाँ पर महावीर ने शकटदारक के पूर्वभवों का वर्णन किया था।

द्वारवती—जरासंध के साथ विरोध होने के बाद मथुरा और सौरीपुर को छोड़ कर यादवों ने पश्चिम समुद्र के तट पर सौराष्ट्र में अपना नवीन राज्य स्थापित किया था और द्वारवती नगरी को अपनी राजधानी बनाया था। यही द्वारवती, द्वारावती, द्वारामती तथा द्वारिका के नाम से भी प्रसिद्ध है। भगवान् नेमिनाथजी ने इसी द्वारवती के बाहर ईशान दिशा में रैवतकोद्यान में दीक्षा ली थी। जैन सूत्रों में द्वारवती को सौराष्ट्र देश की राजधानी लिखा है।

नंगला गाँव—यहाँ पर महावीर ने वासुदेव के मंदिर में ध्यान किया था। नंगला श्रावस्ती से राढ की तरफ जाते बीच में पड़ता था। महावीर श्रावस्ती से हरिद्रुक और वहाँ से नंगला गये थे। संभव है यह गाँव कोशलभूमि के पूर्व प्रदेश में ही रहा होगा।

नन्द चैत्य—यह चैत्य मोका नगरी के बाहर था। यहाँ महावीर का समवसरण हुआ था।

नन्दपाटक—ब्राह्मणग्राम जो सुवर्णखल से चम्पा जाते रास्ते में पड़ता था, उसके एक भाग का नाम जहाँ भगवान् महावीर ने पारणा किया था।

नन्दिग्राम—वैशाली और कौशाम्बी के बीच में यह गाँव था। महावीर वैशाली से सुसुमार भोगपुर होकर नन्दिगाँव पधारे थे, जहाँ आपकी आपके पितृमित्र ने महिमा की थी और यहाँ से मिंढियगाम

होकर कौशाम्बी पधारे थे। अयोध्या में फैजाबाद से दक्षिण की तरफ आठ-नौ मील पर अवस्थित भरतकुंड के समीप जो नंदगाँव है, यही प्राचीन नन्दिग्राम होना संभव है।

नन्दिपुर—जैन सूत्रों में नन्दिपुर को शाण्डिल्य देश की राजधानी कहा है और सांडिल्य (संडिल्ला) की आर्य देशों में परिगणना की है। विशेष के लिये 'शाण्डिल्य' शब्द देखिये।

नलंदा—राजगृह का एक उपनगर, जहाँ पर अनेक धनाढ्यों का निवास था और अनेक कारखाने चलते थे। महावीर ने यहाँ पर अनेक वर्षाचातुर्मास्य किये थे और अनेक भाविकों को धर्ममार्ग में जोड़ा था। आजकल के राजगिर से उत्तर में सात मील पर अवस्थित बड़गाँव नामक स्थान ही प्राचीन नालंदा है। यहाँ पर प्राचीन बौद्ध विश्वविद्यालय के खंडहर निकले हैं, जो नालंदा विश्वविद्यालय के नाम से प्रख्यात था और विक्रम की सातवीं आठवीं शताब्दी में पूर्ण उन्नतदशा में था।

पत्तकालक (पत्रककालक)—यहाँ महावीर ने रात को शून्य घर में कायोत्सर्ग ध्यान किया था, जहाँ गोशालक स्कन्दक नामक युवक द्वारा पीटा गया था। पत्रकालक चम्पा के पास कहीं था।

पञ्चाल—आजकल के रुहेलखण्ड को प्राचीन पञ्चालभूमि समझना चाहिये। पिछले समय में पञ्चाल के दक्षिणपञ्चाल और उत्तरपञ्चाल ऐसे दो विभाग माने जाते थे। गङ्गा से दक्षिण की तरफ के विभाग को दक्षिणपंचाल और उत्तर विभाग को उत्तरपञ्चाल कहते थे। दोनों की राजधानियाँ क्रमशः काम्पिल्य और अहिच्छत्रा थीं।

पाटलिषंडग्राम (पाडलिसंड)—इसके बाहर वनखंड नामक उद्यान था, जहाँ उंबरदत्त यक्ष का मंदिर था। यहाँ के तात्कालीन राजा का नाम सिद्धार्थ था। यहाँ के सागरदत्त सार्थवाह के पुत्र उंबरदत्त के पूर्वभवों का महावीर ने वर्णन किया था।

पाठ (पाढा)—जैन सूत्रोक्त सोलह जनपदों में से एक का नाम पाठ अथवा पाढ था। यह देश मध्यम जनपदों में था। मध्यम जनपदों में उस समय कोशी से कुरुभूमि और विन्ध्या से हिमालय तक के

देश माने जाते थे। पाठ की स्थिति इस भूमिमंडल के किस भाग में थी, यह निर्णीत नहीं हुआ।

पावा (पापा)—पावा नाम की तीन नगरियाँ थीं। जैन सूत्रों के लेखानुसार एक पावा भंगिदेश की राजधानी थी। यह देश पारसनाथ पहाड़ के आस-पास के भूमि-भाग में फैला हुआ था, जिसमें हजारीबाग और मानभूम जिलों के भाग शामिल हैं। बौद्ध-साहित्य के पर्यालोचक कुछ विद्वान् पावा को मलय देश की राजधानी बताते हैं। हमारे मत से मलय देश की नहीं पर यह भंगिदेश की राजधानी थी। जैनसूत्रों में भंगिजनपद की गणना साढ़े पचीस आर्य देशों में की गई है। मल्ल और मलय को एक मान लेने के परिणामस्वरूप पावा को मलय की राजधानी मानने की भूल हुई मालूम होती है।

पावा (२)—यह पावा कोशल से उत्तर-पूर्व में कुशीनारा की तरफ मल्ल राज्य की राजधानी थी। मल्ल जाति के राज्य की दो राजधानियाँ थीं, एक कुशीनारा और दूसरी पावा। आधुनिक पडरौना को जो कासिया से बारह मील और गोरखपुर से लगभग पचास मील है, पावा कहते हैं। तब कोई-कोई गोरखपुर जिला में पडरौना के पास जो पपउर गाँव है, उसको प्राचीन पावापुर मानते हैं।

पावा (३)—तीसरी पावा मगध जनपद में थी। यह उक्त दोनों पावाओं के मध्य में थी। पहली पावा इसके आग्नेय दिशा भाग में और दूसरी इसके वायव्य कोण में लगभग सम अन्तर पर थी। इसी लिये यह प्रायः पावा-मध्यमा के नाम से ही प्रसिद्ध थी। भगवान् महावीर के अन्तिम चातुर्मास्य का क्षेत्र और निर्वाणभूमि इसी पावा को समझना चाहिये। आज भी यह पावा, जो विहार नगर से तीन कोस पर दक्षिण में है, जैनों का तीर्थधाम बना हुआ है। विशेष के लिये प्रस्तावनागत खुलासा पढ़िये।

पालकग्राम—इस गाँव में वाइल वणिक् महावीर का दर्शन अपशकुन मान कर उन्हें मारने दौड़ा था। यह गाँव चम्पा के निकट कौशाम्बीकी दिशा में था। महावीर कौशाम्बी से पालक होकर चम्पा गये थे।

पुढवीवडेंसग—रोहीडग नगर के समीपवर्ती उद्यान का नाम।

पुण्ड्रवर्धन—मालदह जिले में मालदह से छः मील उत्तर की ओर उत्तर बंगाल की राजधानी पुण्ड्रवर्धन नगर था। आजकल का पाण्डुआ अथवा पडुआ पुण्ड्र का ही अपभ्रंश है। पुण्ड्रदेश में, जिसकी राजधानी पुण्ड्रवर्धन थी, राजशाही, दीनाजपुर, रंगपुर, नदिया, वीरभूम, जंगल महल, पचेत और चुनार जिले शामिल थे।

जैन श्रमणों की प्राचीन शाखाओं में एक का नाम पौण्ड्रवर्धनिका था, वह इसी पुण्ड्रवर्धन से निकली थी। पुण्ड्रवर्धन जैन-धर्म के मुख्य केन्द्रों में से एक था।

पुरिमताल—प्रयाग का ही प्राचीन नाम पुरिमताल था, ऐसा अनेक विद्वानों का मत है। जैन सूत्रों के लेखानुसार पुरिमताल अयोध्या का शाखा नगर था। कुछ भी हो, पुरिमताल एक प्राचीन नगर था, यह तो निर्विवाद है। इस नगर के शकटमुख उद्यान में वग्गुर श्रावक ने भगवान् महावीर की पूजा की थी। पुरिमताल के अमोघदर्शी उद्यान में महावीर का समवसरण हुआ था और विजय चौर-सेनापति के पुत्र अभग्नसेन के पूर्वभवों का वर्णन किया था। उस समय पुरिमताल में महाबल राजा का राज्य था।

पुष्पवृत्तिक चैत्य—तुंगीया नगरी के एक उद्यान का नाम।

पूर्णकलश—राढ भूमि की सीमा पर अवस्थित एक अनार्य ग्राम, जहाँ पर चोरों ने महावीर पर हमला किया था। यहाँ से भगवान् भद्दिल नगरी गये थे।

पूर्णभद्रचैत्य—चम्पा का वह प्रसिद्ध चैत्य जहाँ महावीर ने सैकड़ों भव्यात्माओं को श्रमण-धर्म और गृहस्थ-धर्म में दीक्षित किया था। राजा कोणिक इसी चैत्य में बड़े ठाट-बाट से भगवान् को वंदन करने गया था।

पृष्ठचम्पा—चम्पा का शाखापुर, जहाँ पर भगवान् महावीर ने चतुर्थ वर्षाचातुर्मास्य किया था। यहीं के राजा और युवराज शाल, महाशाल तथा पिठर गागलि आदि को इन्द्रभूति गौतम ने प्रव्रज्या दी थी।

पृष्ठचम्पा चम्पा से पश्चिम में थी। राजगृह से चम्पा जाते पृष्ठचंपा लगभग बीच में पड़ती थी।

पेढाल उद्यान—बहुम्लेच्छा दृढभूमि के बाहर पेढाल उद्यान था, जहाँ से पेढालगाम निकट था। इस उद्यान के पोलास चैत्य में महावीर ने निर्निमेष दृष्टि से ध्यान किया था और आप के इस एकाग्रतापूर्ण ध्यान की इन्द्र ने प्रशंसा की थी। यह पेढाल उद्यान और पोलास चैत्य दृढ़भूमि के पास थे।

पेढालग्राम—यह ग्राम पेढाल उद्यान के पास था। इन्द्र की बात को असत्य ठहराने के भाव से संगमक देव ने इसी गाँव के बाहर उप-युक्त उद्यान में महावीर को ध्यान से चलित करने के लिये नानाविध उपाय किये थे। यह पेढालगाँव गोंडवाना में कहीं होना चाहिये।

पोतनपुर—असक देश की राजधानी। यहाँ के राजा प्रसन्नचंद्र ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली थी। चरित्रकारों के मतसे महा-वीर ने पोतनपुर तक विहार किया था। बौद्ध ग्रन्थों में इसका नाम पोतली लिखा है। यह स्थान गोदावरी के उत्तर तट पर अवस्थित था। सातवाहन की राजधानी प्रतिष्ठान और आजकल का पैठन, ये पोतनपुर के उत्तरकालीन नाम हैं।

पोलास चैत्य—पेढाल उद्यान का वह चैत्य जहाँ पर संगमक देव ने महावीर को उपसर्ग किये थे।

पोलासपुर—इसके बाहर सहस्राम्रवन उद्यान था। तत्कालीन राजा का नाम जितशत्रु था। आजीविकोपासक से श्रमणोपासक बननेवाला सद्दालपुत्र यहीं का रहनेवाला था।

पोलासपुर (२)—इस पोलासपुर के बाहर श्रीवन उद्यान था। यहाँ के राजा का नाम विजय था। राजा विजय और श्रीदेवी के पुत्र अतिमुक्तक राजकुमार ने बाल्यावस्था में श्रीमहावीर के हाथ श्रमणधर्म की दीक्षा ली थी।

उक्त पोलासपुर वास्तव में दो थे या एक, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। उद्यान और राजा के नाम भिन्न होने से हमने दो

ही प्राचीन भद्दिया अथवा भद्रिका नगरी होनी चाहिये। कतिपय विद्वान् मुंगेर को भद्दिया का स्थानापन्न मानते हैं।

भद्दिलनगरी—यह मलयदेश की तत्कालीन राजधानी थी। जैन सूत्रों में इसके उल्लेख अधिक मिलते हैं। आवश्यकसूत्र के लेखानुसार भगवान् महावीर ने छद्मस्थावस्था में एक वर्षाचातुर्मास्य यहाँ किया था।

पटना से दक्षिण में लगभग एक सौ मील और गया से नैर्ऋत-दक्षिण में अट्ठाइस मील की दूरी पर गया जिला में अवस्थित हटवरिया और दन्तारा गाँवों के पास प्राचीन भद्दिलनगरी थी, जो पिछले समय में भद्दिलपुर नाम से जैनों का एक पवित्र तीर्थ रहा है। अब भी प्राचीन जैनमंदिरों के अवशेष और पुराने किले के चिह्न वहाँ विद्यमान हैं।

भोगपुर—यहाँ पर माहेन्द्र क्षत्रिय ने भगवान् महावीर पर आक्रमण किया था। भोगपुर का नाम सूसमार और नन्दीगाम के बीच में आता है। संभवतः यह स्थान कोशल भूमि में था।

मगध—यह देश महावीर के समय का एक प्रसिद्ध देश था। मगध की राजधानी राजगृह महावीर के प्रचार-क्षेत्रों में प्रथम और वर्षावास का मुख्य केन्द्र था। पटना और गया जिले पूरे और हजारीबाग का कुछ भाग प्राचीन मगध के अन्तर्गत थे। इस प्रदेश को आज कल दक्षिण-पश्चिमी बिहार कह सकते हैं। इस देश के लाखों मनुष्य महावीर के उपदेश को शिरोधार्य करते थे। मागधी भाषा की उत्पत्ति इसी मगध से समझनी चाहिये।

मण्डितकुक्षि चैत्य—राजगृह के निकटस्थ एक उद्यान का नाम।

मत्स्यदेश—यह देश जैनसूत्रोक्त साढ़े पच्चीस आर्य्य देशों में परिगणित था। इसकी राजधानी विराट नगरी थी, जो वर्तमान जयपुर से उत्तरपूर्व में बयालीस मील पर थी। मत्स्य-जनपद कुरुराज्य के दक्षिण में और यमुना के पश्चिम में था। इसमें अलवर राज्य और जयपुर तथा भरतपुर राज्य के कुछ भाग शामिल थे।

मथुरा—सूरसेन देश की राजधानी मथुरा महावीर के समय और उसके पहले भी जैन-धर्म का केन्द्र रहा है। महावीर-निर्वाण के

बाद तो यह स्थान जैन-धर्म का एक अड्डा ही बन गया था। जैन सूत्रों के प्राचीन भाष्यों और टीकाओं में लिखा है कि मथुरा और इसके आसपास के छयानवे गाँवों में सभी मकानों के द्वार पर तीर्थंकर की मूर्ति बनवाने का आम रिवाज था। मथुरा का देवनिर्मित स्तूप जो कुछ वर्षों पहले कंकाली टीले में प्रकट हुआ है, वहाँ के शिलालेखों और जैनसूत्रों के लेखों के अनुसार दो हजार वर्ष पहले का एक महान् पवित्र तीर्थ है। आज मथुरा वैष्णव संप्रदाय का पवित्र धाम बना हुआ है।

मर्दना संनिवेश—यहाँ पर भगवान् ने बलदेव के घर में ध्यान किया था और गोशालक पीटा गया था। यह संनिवेश कहाँ था, यह बताना कठिन है। आलंभिका, कुंडाग होकर भगवान् यहाँ आये थे और यहाँ से बहुसालकगाम होकर लोहग्गला राजधानी गये थे।

मध्यमा—पावामध्यमा का कहीं-कहीं केवल 'मध्यमा' इस नाम से भी उल्लेख है। विशेष के लिये 'पावामध्यमा' शब्द देखिये।

मलयग्राम—यहाँ पर भगवान् को संगमक ने उपसर्ग किया था। यह ग्राम उड़ीसा के उत्तर-पश्चिमी भाग में अथवा गोंडवाना में होने की संभावना है।

मलयदेश—इस नाम के कम-से-कम दो देश थे। जहाँ भगवान् महावीर विचरे थे, वह मलय पटना से दक्षिण में और गया से नैर्ऋत में था। इसकी राजधानी भद्दिल नगरी जहाँ भगवान् महावीर ने वर्षा-चातुर्मास्य किया था, पटना से सौ और गया से अट्ठाईस मील दूर थी।

मल्लदेश—इस नाम के भी दो देश थे, एक पश्चिम मल्ल और दूसरा पूर्व मल्ल। मुल्तान के आस-पास का प्रदेश पश्चिम मल्ल कहलाता था और पावा कुशीनारा के पास की भूमि पूर्व मल्ल। महावीर ने पश्चिम मल्ल तक विहार किया था या नहीं, यह अनिश्चित है पर पूर्वमल्ल जनपद में आपके विहार करने में कोई संशय नहीं है।

मल्ल राज्य वैशाली के पश्चिम और कोशल के पूर्वप्रदेश में था। गोरखपुर, सारन जिलों के अधिकांश भाग मल्लराज्य में थे। मगध से कोशल में जाते समय मल्लदेश बीच में आता था।

लिखे हैं। एक नगर के अनेक उद्यान होते थे यह तो निर्विवाद बात है, परन्तु राजा भी कालविभाग से भिन्न हो सकते हैं, इस दृष्टि से दोनों पोलासपुर एक भी हो सकते हैं। पोलासपुर उत्तर हिन्दुस्तान का एक समृद्ध नगर था।

प्रतिष्ठानपुर—गंगा के बाएँ किनारे पर जहाँ आज झूंसी नगर है, पूर्व समय में यहाँ पर चंद्रवंशी राजाओं की राजधानी प्रतिष्ठानपुर नगर था।

प्रतिष्ठानपुर (२)—यह नगर सातवाहन राजा की राजधानी थी। इसकी अवस्थिति औरंगाबाद जिले में औरंगाबाद से दक्षिण में अट्ठाईस मील पर गोदावरी नदी के उत्तर तट पर है। एक समय यह नगर अस्मक देश की राजधानी पोतनपुर के नाम से प्रसिद्ध था। आजकल यह पैठन नाम से पहिचाना जाता है। जैनाचार्य कालक ने इसी प्रतिष्ठानपुर में सांवत्सरिक पर्व पंचमी से चतुर्थी में कायम किया था।

बनारस—वाराणसी का अपभ्रंश बनारस है। पहले यहाँ वरणा तथा असि नदी के संगम पर बसी हुई वाराणसी नाम की एक प्रसिद्ध नगरी थी जो काशि-राष्ट्र की राजधानी थी। इसके बाहर कोष्ठक नामक चैत्य था, जहाँ पर भगवान् महावीर ठहरा करते थे। यहाँ के तत्कालीन राजा का नाम जितशत्रु लिखा मिलता है। चुलनीपिता और सुरादेव नामक यहाँ के धनाढ्य गृहस्थ महावीर के दस श्रमणोपासकों में से थे। यहाँ के राजा लक्ष को काममहावन चैत्य में महावीर ने अपना श्रमणशिष्य बनाया था। भगवान् महावीर के मुख्य विहार क्षेत्रों में से बनारस भी एक था। यहीं के नौ गणराज महावीर के निर्वाण समय में पावा में उपस्थित थे और उस दिन उन सबके उपवास था।

बहुसालग्राम—इसके बाहर सालवन उद्यान था, जहाँ सालार्या व्यन्तरी ने महावीर की पूजा की थी। यह गाँव महना गाँव और लोहार्गला राजधानी के बीच में पड़ता था।

बहुसाल चैत्य—यह चैत्य ब्राह्मणकुण्डपुर के पास था। यहाँ से क्षत्रियकुंडपुर भी दूर नहीं था। ऋषभदत्त ब्राह्मण, देवानन्दा

ब्राह्मणी और जमालि आदि पाँच सौ क्षत्रियपुत्रों ने इसी चैत्य में महावीर के हाथ प्रव्रज्या धारण की थी।

बिभेलक उद्यान—ग्रासाकसंनिवेश के निकटवर्ती एक उद्यान का नाम, जहाँ बिभेलक यक्ष ने भगवान् महावीर की पूजा की थी।

ब्राह्मणकुण्डपुर—यह नगर विदेहकी राजधानी वैशाली का शाखापुर था। इसके दक्षिण दिग्विभाग में क्षत्रियकुण्ड नगर था, क्षत्रियकुंड का उत्तर भाग और ब्राह्मणकुंड का दक्षिण भाग ये दोनों एक दूसरे के निकट पड़ते थे। इन दोनों के बीच में बहुसाल चैत्य था जहाँ महावीर का समवसरण हुआ था और दोनों कुंडपुरों के नागरिक वहाँ एकत्र हुए थे। मुजफ्फरपुर जिले में बसाड़पट्टी से जो कि वैशाली का अवशेष है दक्षिण पश्चिम में लगभग छः मील पर अवस्थित वर्तमान समय का ब्राह्मणगाँव ही प्राचीन ब्राह्मणकुंड का स्थानापन्न होगा, ऐसा संभव है।

ब्राह्मणग्राम—इस गाँव के दो पाटक थे, एक नन्द पाटक दूसरा उपनन्द पाटक। महावीर ने नन्द पाटक में नन्द जमीनदार के यहाँ पारणा किया था। ब्राह्मणग्राम सुवर्णखल और चम्पा के बीच में पड़ता था।

भंगि—यह देश जैनसूत्रोक्त साढ़े पचीस देशों में से एक था। इसकी राजधानी पावा नगरी थी। संमेतशिखर (पारसनाथ पहाड़) के आसपास का प्रदेश जिसमें हजारीबाग और मानभूम जिलों के भाग शामिल हैं, पहले भंगिजनपद कहलाता था।

भण्डीर उद्यान—मथुरा का एक उद्यान, जहाँ पर महावीर ने श्रीदाम राजा के पुत्र नन्दिवर्धन युवराज के पूर्वभव कहे थे।

भद्दिया—यह अंगदेश की एक प्रसिद्ध तत्कालीन नगरी थी। बौद्धग्रन्थों में इसका अधिक उल्लेख आता है। जैन सूत्रों में भी भद्दिया का उल्लेख मिलता है। कल्प सूत्र के अनुसार दो और आवश्यक के लेखानुसार एक वर्षाचातुर्मास्य भगवान महावीर ने यहीं बिताया था।

भागलपुर से दक्षिण में आठ मील पर अवस्थित भदरिया स्थान

महापुर—इसके बाहर रक्ताशोक उद्यान था जहाँ रक्तपाद यक्ष का चैत्य था। तत्कालीन राजा का नाम बल और रानी का सुभद्रादेवी था। राजकुमार महाबल को जो बल का पुत्र था महावीर ने पहली बार श्राद्धधर्म में और दूसरी बार श्रमणधर्म में दीक्षित किया था। संभवतः यह नगर उत्तर भारतवर्ष में था।

महासेन उद्यान—पावामध्यमा का वह उद्यान जहाँ भगवान् महावीर ज्ञानप्राप्ति के दूसरे दिन पधारे थे और इंद्रभूति गौतम आदि हजारों मनुष्यो को प्रव्रज्या देकर चतुर्विध संघ की स्थापना कर अपना धर्मशासन प्रचलित किया था।

माकन्दी—यह नगर दक्षिण पञ्चाल के मुख्य नगरों में से एक था दुर्योधन से पांडवों के लिये कृष्ण द्वारा जिन पाँच नगरों की मांग की गई थी, उनमें माकन्दी भी शामिल था।

माणिभद्रचैत्य—मिथिला का वह चैत्य जहां पर भगवान् महावीर ने ज्योतिषविद्या की प्ररूपणा की थी। महावीर की धार्मिकदेशना बहुधा इसी उद्यान में होती थी।

मालव—पूर्व काल में मालव नाम से दो देश प्रसिद्ध थे। पहला मुलतान के आस पास का देश जो पहले मालव कहलाता था। जैनसूत्रों में जिस मालव की गणना अनार्य देशों में की है, वह यही मालव है। दूसरा मालव आज का मालवा है। मालवगण की स्थिति होने से प्राचीन अवन्तिजन पद ही बाद में मालव नाम से प्रसिद्ध हुआ।

माषपुरी—यह नगरी जैनसूत्रोक्त साढ़े पचीस देशों में अन्यतम "वट्टा" नामक देश की राजधानी थी। इस नगरी से जैन श्रमणों की एक शाखा प्रचलित हुई थी जो माषपुरीया कहलाती थी। आज इसकी अवस्थिति किस प्रदेश में है और किस नाम से प्रसिद्ध है, इसकी खोज होनी चाहिये।

मिथिला—मिथिला शब्द से इस नाम की नगरी और इसके आसपास का प्रदेश दोनों अर्थ प्रकट होते हैं। वस्तुतः मिथिला विदेह देश की राजधानी थी। यद्यपि महावीर के समय में विदेह की राज-

धानी वैशाली थी, तथापि मिथिला भी एक समृद्ध नगरी थी। तत्कालीन मिथिला के राजा का नाम जैन ग्रंथों में जनक लिखा है, अतः अनुमान होता है कि जनकवंशीय किसी क्षत्रिय का मिथिला पर तब तक स्वामित्व बना रहा होगा।

भगवान् महावीर के चातुर्मास्य के केन्द्रों में मिथिला की गणना थी। यहाँ आपने छः चातुर्मास्य विताये थे।

सीतामढ़ी के पास मुहिला नामक स्थान ही प्राचीन मिथिला का अपभ्रंश है। वैशाली से मिथिला उत्तरपूर्व में अड़तालीस मील पर अवस्थित थी। कई विद्वान् सीतामढ़ी को ही मिथिला कहते हैं और कई जनकपुर को प्राचीन मिथिला मानते हैं।

मिथिला के नाम से प्राचीन जैन-श्रमणों की एक शाखा भी प्रसिद्ध हुई थी, जो "मैथिलिया" कहलाती थी।

मिंढिया—यह गाँव अंग जनपद में चम्पा से मध्यमा पावा जाते हुए मार्ग में पड़ता था। भगवान् महावीर को चमरेन्द्र नामक असुरेन्द्र ने यहाँ पर वन्दन किया था।

मृगग्राम (मियगाम)—इसके बाहर चन्दनपादप नाम का उद्यान था जहाँ सुधर्म यक्ष का मंदिर था। मृगग्राम का तत्कालीन राजा विजयक्षत्रिय और रानी मृगादेवी थी। यहाँ पर भगवान् ने मृगापुत्र के पूर्व के पापों का वर्णन किया था।

मियगाम उत्तर भारतवर्ष में कहीं था। निश्चित स्थान बताना अशक्य है।

मृगवन—यह उद्यान वीतभयपट्टन के समीप था। यहाँ पर महावीर ने वहाँ के राजा उदायन को प्रव्रज्या दी थी।

मृत्तिकावती—दशार्ण देश की प्राचीन राजधानी मृत्तिकावती बहुत ही प्राचीन स्थान है। इसके बाहर पहाड़ी टेकरी पर 'गजाग्रपद' नामक प्राचीन जैन तीर्थ था, जिसका उल्लेख प्राचीन जैन साहित्य में मिलता है। भगवान् महावीर अनेक बार यहाँ पधारे थे और यहाँ के राजा दशार्णभद्र को अपना श्रमणशिष्य बनाया था।

दशार्णदेश आजकल की भोपाल रियासत की जगह था। इससे मृत्तिकावती के अवशेष भी वहीं भिलसा के आस पास कहीं होने चाहिये।

मेंढिय गाँव—यह गाँव श्रावस्ती के निकट कौशाम्बी के मार्ग में था। इसके बाहर सालकोष्ठक चैत्य था, जिसमें महावीर गोशालक को तेजोलेश्या के प्रयोग के बाद पधारे थे और छः महीने के उपरान्त यहीं औषध सेवन किया था, जिसे कि सिंह अनगार मेंढिय में जाकर रेवती के घर से लाया था। छद्मस्थावस्था में आप पर गोपालक ने भी यहाँ पर एक निष्फल आक्रमण किया था।

मोकानगरी—इस नगरी के बाहर नन्दन चैत्य नामक उद्यान था, जहाँ भगवान् महावीर ठहरे थे और धर्म-उपदेश किया था।

यह नगरी उत्तर भारत के पश्चिमी विभाग में कहीं थी। संभव है, पंजाब प्रदेशस्थित आधुनिक मोगामंडी ही प्राचीन मोकानगरी हो।

मोराकसंनिवेश—यह गाँव वैशाली के आसपास था। कोल्लाक संनिवेश से महावीर मोराक गये थे और दूइज्जंत नामधारी दार्शनिकों के आश्रम में एक रात ठहरे थे, पर डेढ़ दिन के बाद आप यहाँ से चले गये थे और अस्थिकग्राम में शेष वर्षाकाल व्यतीत किया था।

मोसलि—यह गाँव भी महावीर के उपसर्गक्षेत्रों में से एक था। यहाँ पर आपको चोर की भ्रान्ति से सात बार फाँसी दी गई थी पर प्रत्येक बार फाँसी के टूट जाने से आप को निर्दोष समझकर छोड़ दिया था।

मोसलि उत्तरपश्चिमी उड़ीसा में अथवा गोंडवाना में होना संभव है।

मौर्यसंनिवेश—यह संनिवेश महावीर के छठवें तथा सातवें गणधर मंडिक और मौर्यपुत्र का जन्मस्थान था।

यह गाँव उत्तर भारत के पूर्वीय भाग में कहीं था। अधिक संभव काशी देश की भूमि में होने का है।

राजगृह—यह नगर महावीर के उपदेश और वर्षावास के केन्द्रों में सब[illegible] प्रमुख केन्द्र था। इसके बाहर अनेक उद्यान थे पर

महावीर के समवसरण का स्थान गुणशिलक उद्यान था, जो राजगृह से ईशान दिशा में था। राजगृह राजा श्रेणिक के राज्य काल में मगध की राजधानी थी। यहाँ के सैकड़ों राजवंशी और अन्य नागरिक स्त्री-पुरुषों को महावीर ने अपने श्रमणसंघ में दाखिल किया था। हजारों मनुष्यों ने जैनधर्म को स्वीकार किया था। जैनसूत्रों में राजगृह में महावीर का दो सौ से अधिक बार समवसरण होने के उल्लेख हैं।

आजकल राजगृह 'राजगिर' नाम से पहचाना जाता है, जिसके पास मोहागिरि पर्वतमाला के पाँच पर्वत हैं, जो जैनसूत्रों में वैभारगिरि विपुलाचल आदि नामों से उल्लिखित हैं। राजगिर बिहार प्रान्त में पटना से पूर्व-दक्षिण और गया से पूर्वोत्तर में अवस्थित हैं।

राढ (लाढा)—मुर्शिदाबाद के आसपास का पश्चिमी बंगाल पहले राढ कहलाता था जिसकी राजधानी कोटिवर्ष नगर था। जैनसूत्रों में राढ की गणना साढ़े पचीस आर्य देशों में की है। जयन्ती-कोश में राढ का नामान्तर सुह्म लिखा है, परन्तु जैनसूत्रों में राढ और सुह्म को भिन्न भिन्न माना है।

रूप्यवालुका—दक्षिणवाचाला और उत्तरवाचाला नामक दो संनिवेशों के बीच में बहनेवाली एक नदी का नाम।

रोहीडक नगर—इसके बाहर पृथिवीवतंसक नामक उद्यान था जहाँ धरण यक्ष का मंदिर था। इसका तत्कालीन राजा वैश्रमणदत्त और रानी श्रीदेवी थी। महावीर का यहाँ समवरण हुआ था।

रोहीडक उत्तर भारत में कहीं था। निश्चित स्थान और आधुनिक नाम का पता लगाना शेष है।

लोहार्गला राजधानी—यहाँ पर महावीर गुप्तचर के शक से पकड़े गये थे, पर बाद में छोड़ दिये गये। लोहार्गला के तत्कालीन राजा का नाम जितशत्रु लिखा है, परंतु इससे यह जानना कठिन है कि लोहार्गला किस देश में कहाँ थी। इससे मिलते जुलते नामवाले तीन स्थल हमारे जानने में हैं—(१) हिमालय में लोहार्गल नामक एक स्थल था, ऐसा वराह पुराण से ज्ञात होता है। (२) पुष्कर—धामोद के पास

भगवान् महावीर ने राजकुमार सुवासव को यहाँ पर श्रावक और कालान्तर में साधु बनाया था।

विजयपुर—उत्तर बंगाल में गंगा के किनारे पर अवस्थित आज कल का विजयनगर ही होना चाहिये जो एक बहुत प्राचीन नगर है। इसके आसपास का प्रदेश पहले पुण्ड्र देश के नाम से प्रसिद्ध था।

विदेह—गंडक नदी का निकटवर्ती प्रदेश, विशेष कर पूर्वी भाग जो तिरहुत नाम से प्रसिद्ध है, पहले विदेह देश कहलाता था। इसकी प्राचीन राजधानी मिथिला और महावीर के समय की वैशाली थी। भगवान् महावीर इसी देश में अवतीर्ण हुए थे।

विपुलपर्वत—राजगृह के पाँच पहाड़ों में से एक का नाम विपुल था। भगवान् महावीर के सैकड़ों श्रमणशिष्यों ने इस पर अनशनपूर्वक देह छोड़ कर स्वर्ग और निर्वाण प्राप्त किया था।

विराट—यह नगर मत्स्य देश की राजधानी थी। यहाँ पर पांडवों ने वर्षभर गुप्तवास किया था। जैनसूत्रों में इसका विराड नाम से उल्लेख है। जयपुर स्टेट में जयपुर से उत्तर-पूर्व बयालीस मील पर यह प्राचीन स्थान अब भी इसी नाम से प्रसिद्ध है।

विसाखा—इस नगरी की अवस्थिति के बारे में विद्वानों में अनेक मतभेद हैं। किसी के मत से महावीर के समय में अयोध्या ही विशाखा कहलाती थी। कोई आज कल के लखनऊ को प्राचीन विशाखा बताते हैं। चीनी यात्री हुएनसंग कौशाम्बी से पाँच सौ मील की दूरी पर विशाखा बताता है। हमारे मत से विशाखा नगरी कोशल देश में अयोध्या के पास ही कहीं थी।

भगवान् महावीर का विशाखा में समवसरण हुआ था।

वीतभय—यह नगर महावीर के समय में सिन्धु-सौवीर देश की राजधानी थी। इसके बाहर मृगवन उद्यान था। महावीर चम्पा से विहार कर यहाँ आये थे और यहाँ के राजा उदायन को प्रव्रज्या देकर वाणिज्यग्राम जाकर वर्षाकाल बिताया था। पंजाब के भेरा गाँव को प्राचीन वीतभय बताते हैं।

वीरपुर—इसके बाहर मनोरम नामक उद्यान था। राजा का नाम वीरकृष्णमित्र और रानी का श्रीदेवी था। भगवान् महावीर ने एक वार यहाँ आकर राजकुमार सुजात को श्रावकधर्म अंगीकार कराया था और दूसरी वार पधार कर उसको प्रव्रज्या देकर शिष्य बनाया था।

तहसील मुहमदाबाद में गाजीपुर से बाईस मील पर बारा के सामने एक बहुत ही प्राचीन स्थान है। पुराने सिक्के आदि प्राचीन चीजें मिलती हैं। संभव है यही प्राचीन वीरपुर होगा जिसका अवशेष बारा अब तक विद्यमान है।

वीरभूमि—प्राचीन राढ देश का एक भाग वीरभूमि कहलाता है जिसका जैनसूत्रों में वज्रभूमि अथवा वज्रभूमि के नाम से उल्लेख हुआ है। छद्मस्थावस्था में और बाद में भी भगवान् महावीर यहाँ विचरे थे।

वीरभूमि के उत्तर-पश्चिम में संथाल परगना, पूर्व में मुर्शिदाबाद और वर्द्धवान तथा दक्षिण में वर्द्धवान हैं।

वेगवती—यह नदी अस्थिकग्राम के समीप बहती थी।

वैताढ्य—यह पर्वत-माला प्राचीन भारतवर्ष के मध्य भाग में पूर्व से पश्चिम सीमा तक लंबी फैली हुई थी। इसका आधुनिक नाम और स्थान बताना कठिन है। कोई शैवालिक पहाड़ियाँ और कोई हिमालय की दक्षिणी पर्वत श्रेणी ही वैताढ्य पर्वतमाला होने की संभावना करते हैं।

वैभारगिरि—यह पर्वत राजगृह के पाँच पर्वतों में एक है। महावीर के समय में इसके पास पाँच सौ धनुष लंबा एक गरम पानी का ह्रद था, जिसका जैनसूत्रों में 'महातपोपतीर' नाम से उल्लेख हुआ है और उसे 'प्रस्रवण' अर्थात् 'स्रोत' कहा है। आज भी उसके पास गर्म जल के कतिपय कुण्ड हैं जो भीतर के उष्ण जलस्रोतों से हर समय भरे रहते हैं।

वैराट—विराट शब्द देखिये।

वैशाली—मुजफ्फर जिला में जहाँ आज बैसाढपट्टी गाँव है वहीं पहले महावीर के समय की विदेह देश की राजधानी वैशाली नगरी

एक लोहार्गल नामक वैष्णवों का प्राचीन तीर्थ है। (३) शाहाबाद जिले की दक्षिणी हद में 'लोहरडगा' नामक प्राचीन शहर है। इनमें से महावीर जहाँ विचरे थे वह लोहार्गला कोई एक हो सकता है या नहीं, यह कहना कठिन है। महावीर आलंभिया से कुंडाक, मद्दंना, बहुसाल हो कर लोहार्गला गये थे और वहाँ से पुरिमताल। इस क्रम को देखते 'लोहरडगा' और पुष्कर के समीपवर्ती लोहार्गल तो नहीं हो सकते क्योंकि पुरिमताल से दोनों अति दूर हैं। रहा हिमालय वाला लोहार्गल सो वह यदि हिमालय की दक्षिण तलहट्टी में कहीं हो तो महावीर का वहाँ जाना असंभव नहीं। यदि अयोध्या प्रान्त में लोहार्गला नामक कोई स्थान रहा हो तो भी असंभव नहीं है।

वंग—पूर्व समय में वंग शब्द से दक्षिणी बंगाल का ही बोध होता था, जिस की राजधानी ताम्रलिप्ति थी, जो आज कल तामलुक नाम से प्रसिद्ध है। बाद में धीरे-धीरे बंगाल की सीमा बढ़ी और वह पाँच भागों में भिन्न-भिन्न नामों से पहिचाना जाने लगा। वंग (पूर्वी बंगाल), समतट (दक्षिणी बंगाल), राठ अथवा कर्ण सुवर्ण (पश्चिमी बंगाल), पुण्ड्र (उत्तरी बंगाल), कामरूप (आसाम)।

चरित्रकार के लेखानुसार भगवान् महावीर ताम्रलिप्ती तक पधारे थे, तब सूत्रों के अनुसार आपका वर्धमान (बर्दवान) तक विचरना सिद्ध होता है।

वज्रभूमि—बंगाल का वीरभोम प्रदेश जो महावीर के समय में अनार्य कहलाता था। आज भी वहाँ संथाल आदि आदि-निवासी जातियों का ही आधिक्य है।

वट्ट—इस देश की गणना जैन सूत्रोक्त साढ़े पचीस आर्य देशों में की गई है। इसकी राजधानी का नाम माषपुरी था। यह देश उत्तर भारत में था ,पर इसकी अवस्थिति किस भूमि प्रदेश में थी, इसका निश्चय नहीं हुआ।

वत्स—कोशल के दक्षिण और आधुनिक इलाहाबाद के पश्चिम तरफ का प्रदेश पूर्वकाल में वत्स देश कहलाता था। इसकी राजधानी

कौशाम्बी जमुना नदी के उत्तर तट पर अवस्थित थी। यहाँ का राजा शतानीक और उसका पुत्र उदयन महावीर का भक्त था।

वरणा—यह नगरी अच्छ देश की राजधानी थी। पिछले समय में इसका उच्च नगर अथवा उच्छ नगर नाम प्रसिद्ध हुआ था। जहाँ आज बुलंदशहर है वहीं पहले उच्छ नगर था ऐसा शोधक विद्वानों ने निर्णय किया है। आचार्य हेमचन्द्र सूरि के मत से 'वरुणा' यह देश का नाम था और 'अच्छा' उसकी राजधानी का।

वनखण्ड उद्यान—यह उद्यान पाटलखंड संनिवेश के पास था।

वर्धमानपुर—इसके बाहर विजयवर्धन उद्यान था जहां माणिभद्र यक्ष का मंदिर था। तत्कालीन राजा विजयमित्र था। महावीर ने यहाँ पर राज्ञी अंजू के पूर्वभवों का वर्णन किया था।

सूबे बंगाल का आधुनिक बर्दवान नगर, जो कलकत्ते से सड़सठ मील पश्चिम-दक्षिण में अवस्थित है, वर्धमानपुर हो तो आश्चर्य नहीं।

व्रजग्राम—गोकुल शब्द देखिये।

वाचाला—उत्तर वाचाला शब्द देखिये।

वाणिज्यग्राम (वाणियगाम)—यह नगर वैशाली के पास गंडकी नदी के दक्षिण तट पर अवस्थित एक समृद्ध व्यापारिक मंडी थी। महावीर के भक्त आनन्द गाथापति प्रमुख कोट्याधीश गृहस्थ यहीं के रहनेवाले थे। आधुनिक बसाढ़पट्टी के पास वाला बनिया गाम ही प्राचीन वाणिज्यग्राम हो सकता है।

वाराणसी—बनारस देखिये।

वालुकाग्राम—यहाँ पर संगमक देव ने महावीर को अनेक प्रकार के उपद्रव किये थे।

यह ग्राम प्राचीन कलिंग और आधुनिक उड़ीसा के उत्तरपश्चिम भाग में कहीं था।

विजयवर्धमान—यह उद्यान वर्धमानपुर के समीप था।

विजयपुर—इसके पास नन्दनवन नामक उद्यान था। जहाँ अशोक यक्ष का मंदिर था। तत्कालीन राजा वासवदत्त और राज्ञी कृष्णा थी।

थी। वैशाली और वाणिज्यग्राम की निश्रा में भगवान् महावीर ने कुल बारह वर्षा-चातुर्मास्य व्यतीत किये थे। वैशाली जैनधर्म के केन्द्रों में से एक थी। यहाँ का राजकुटुम्ब तथा नागरिकगण भी अधिकांश जैन थे। यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थकारों ने इस नगरी को पाखंडियों का अड्डा कहा है। नक्शे के हिसाब से वैशाली चम्पा से वायव्य दिशा में साढ़े बारह मील और राजगृह से लगभग उत्तर में सत्तर मील की दूरी पर थी।

शकटमुख उद्यान—यह उद्यान पुरिमताल नगर के समीप था। यहाँ पर वग्गुर श्रावक ने महावीर की छद्मस्थावस्था में पूजा-महिमा की थी।

शंखवन उद्यान—यह उद्यान आलंभिका के समीप था। भगवान् महावीर आलँभिया जाते समय इसी उद्यान में ठहरते थे।

शरवणग्राम—यह ग्राम मंखलि गोशाल का जन्म स्थान था और संभवतः मगधभूमि के ही किसी भाग में था।

शाण्डिल्य (संडिल्ला)—जैनसूत्रोक्त साढ़े पचीस आर्य देशों में से एक का नाम शाण्डिल्य था। इसकी राजधानी नन्दिपुर में थी। शाण्डिल्य देश कहाँ था, यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। हरदोई जिले में संडीला नाम का एक नगर है, जो रेल्वे स्टेशन और तहसील तथा परगने का मुख्य स्थान है। यह स्थान लखनऊ से एकतीस मील पश्चिमोत्तर में स्थित है। संभव है इसके आसपास का प्रदेश पहले शाण्डिल्य देश कहलाता हो और बाद में उसकी राजधानी मात्र उस नाम का वाच्य बन गई हो जैसा कि कोसला आदि में बना है।

शालिशीर्ष (सालिसीस)—इस गाँव के उद्यान में कटपूतना व्यन्तरी ने महावीर पर जल छिड़क कर शीत का उपसर्ग किया था और भगवान् को उसको सहते हुए लोकावधि ज्ञान उत्पन्न हुआ था।

यह स्थान वैशाली और भद्रिका के बीच में कहीं था। संभवतः अंग भूमि की वायव्य सीमा पर यह रहा होगा क्योंकि यहाँ से महावीर भद्रिका की तरफ गये थे।

शुद्धभूमि—प्राचीन राढ देश की वह भूमि जहाँ आर्य लोगों की आबादी अधिक प्रमाण में थी। संभवतः यह मुर्शिदाबाद के निकट का भूमिभाग होगा।

शूलपाणि चैत्य—अस्थिकग्राम के पासवाला एक यक्ष का मंदिर जहाँ महावीर ने प्रथम वर्षा-चातुर्मास्य व्यतीत किया था और पहली ही रात को यक्ष ने उनको अनेक प्रकार से सताया था।

श्रावस्ती (सावत्थी)—जैनसूत्रोक्त साढ़े पचीस आर्य देशों में से कुणाल नामक देश की राजधानी का नाम श्रावस्ती लिखा है। महावीर के समय में श्रावस्ती उत्तर कोशल की राजधानी थी। इसके तत्कालीन राजा का नाम जितशत्रु था। यहाँ पर महावीर ने छद्मस्थावस्था का दसवाँ वर्षा-चातुर्मास्य व्यतीत किया था। केवलिदशा में महावीर कई बार यहाँ आये थे और अनेक भव्य मनुष्यों को प्रव्रज्यायें दी थीं तथा अनेक धनाढ्य और विद्वान् शिष्यों को अपना श्रमणोपासक बनाया था। इसी श्रावस्ती के कोष्ठकोद्यान में गोशालक ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति मुनियों को तेजोलेश्या द्वारा मारा था तथा भगवान् महावीर पर तेजोलेश्या छोड़ी थी। गोशालक के अनन्य उपासक अयंपुल और हालाहला कुँभारिन यहीं के रहनेवाले थे। गोंडा जिले में अकौना से पूर्व पाँच मील और बलरामपुर से पश्चिम बारह मील रापती नदी के दक्षिण तट पर सहेठमहेठनाम से प्रख्यात जो स्थान है, वही प्राचीन श्रावस्ती का अवशेष है, ऐसा शोधक विद्वानों ने निर्णय किया है।

श्वेताशोक उद्यान—यह उद्यान कनकपुर के निकट था।

श्वेताम्बिका (सेयंविया)—यह नगरी जैनसूत्रोक्त साढ़े पचीस आर्य देशों में से केकय देश की राजधानी थी। यहाँ का राजा प्रदेशी पहले नास्तिक था परन्तु पार्श्वनाथ सन्तानीय केशीकुमार श्रमण ने उसे आस्तिक और जैनधर्म का उपासक बनाया था। महावीर जब श्वेताम्बिका की तरफ विचरे तब प्रदेशी ने उनकी पूजा और महिमा गाई थी।

बौद्ध ग्रन्थों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती से कपिलवस्तु आते समय श्वेताम्बिका बीच में आती थी। जैनसूत्रों के लेखों से भी

श्वेताम्बी श्रावस्ती से पूर्वोत्तर में अवस्थित थी। आधुनिक उत्तर-पश्चिम बिहार के मोतीहारी शहर से पूर्व लगभग पैंतीस मील पर अवस्थित सीतामढ़ी यह श्वेताम्बिका का ही अपभ्रंश नाम है, ऐसा हमारा अनुमान है। जैन और बौद्ध लेखों के अनुसार दिशा भी मिलती है और उत्तर में पहाड़ी प्रदेश भी निकट ही पड़ता है जो केकय देश का अनार्य प्रदेश था।

समतट—बंगाल का एक भाग पहले समतट कहलाता था। जब कि कतिपय विद्वान् पूर्व बंगाल को समतट कहते हैं तब कोई-कोई दक्षिण बंगाल को प्राचीन समतट बताते हैं। हमारा मत दक्षिण बंगाल को समतट माननेवालों के पक्ष में है।

सहस्राम्रवन—यह उद्यान काम्पिल्य नगर के पास था। यहाँ पर महावीर का अनेक बार समवसरण हुआ था।

सहस्राम्रवन (२)—हस्तिनापुर के पास के उद्यान का नाम भी सहस्राम्रवन था। भगवान् महावीर के यहाँ भी अनेक समवसरण हुए और पुट्टिल, शिवराजर्षि आदि की प्रव्रज्याएँ हुईं।

साकेत—यह कोशल देश का प्रसिद्ध नगर किसी समय इस देश की राजधानी रह चुका है और इसी कारण से कहीं-कहीं इसे अयोध्या का पर्याय बताया है। इसके समीप उत्तरकुरु नामक उद्यान था; जहाँ पाशामृग यक्ष का मन्दिर था। तत्कालीन राजा का नाम मित्रनन्दी और रानी का श्रीकान्ता था। महावीर यहाँ अनेक बार पधारे थे और अनेक भद्र मनुष्यों को निर्ग्रन्थ श्रमण बनाया था।

फैजाबाद जिला में फैजाबाद से पूर्वोत्तर छः मील पर सरयू नदी के दक्षिण तट पर अवस्थित वर्तमान अयोध्या के समीप ही प्राचीन साकेत नगर था ऐसा निर्णय हुआ है।

सानुलट्ठिय गाम—इस गाँव के बाहर भगवान् महावीर ने भद्र, महाभद्र और सर्वतोभद्र का प्रतिमापूर्वक ध्यान किया था जिसकी स्वर्ग के इंद्र तक ने प्रशंसा की थी।

सानुलट्ठिय अर्थात् सानुयष्टिक गाँव कहाँ था यह कहना कठिन है,

पर अनुमान किया जा सकता है कि इस स्थान का दृढ़ भूमि में होना संभव है जो प्राचीन कलिङ्ग के पश्चिमीय अंचल में थी।

सालकोष्ठक चैत्य—यह उद्यान मेंढियगाँव के पास था जहाँ पर महावीर का समवसरण हुआ था और वर्चोव्याधि को मिटाने के लिये रेवती के यहाँ से औषधि मँगाकर सेवन की थी।

साहंजनी—यह नगरी उत्तर भारत में कहीं थी। इसके बाहर देवरमण नामक उद्यान था जहाँ अमोघ यक्ष का मंदिर था। तत्कालीन राजा का नाम महचन्द्र था। भगवान् महावीर ने यहाँ पर यहाँ के सुभद्र सार्थवाह के पुत्र शकटदारक के पूर्वभवों का निरूपण किया था।

सिन्धुदेश—जैन सूत्रोक्त साढ़े पचीस आर्य देशों में सिन्धु-सौवीर का नाम भी संमिलित है। वैदिक धर्म के सैद्धान्तिक ग्रन्थ बोधायन में सिन्धु-सौवीर अस्पृश्य देश कहा गया है और वहाँ जानेवाले ब्राह्मण को फिर संस्कार के योग्य बताया है। बौद्ध ग्रन्थों में गान्धार और कांबोज राज्यों के उल्लेख किये गये हैं पर सिन्धु-सौवीर की वैसी चर्चा नहीं की। इससे पाया जाता है कि उस समय सिन्धु में सर्वप्रथम धर्मप्रचार महावीर ने ही किया था। भगवान् महावीर ने वहाँ पधार कर राजा उदायन को जैन प्रव्रज्या दी थी यह तो प्रसिद्ध ही है पर उसके बाद भी जैन श्रमणों के इस देश में विहार होते ही रहे हैं, ऐसा छेदसूत्रों के प्राचीन भाष्यों तथा टीकाओं से सिद्ध होता है।

महावीर के समय में सिन्धु और सौवीर का एक संयुक्त राज्य था। बाद में सौवीर जुदा पड़ा और आधुनिक पंजाब का दक्षिणी भाग सिन्धु में संमिलित हुआ। आज कल सिन्धु 'सिन्ध' नाम से प्रसिद्ध है और कच्छ (जो पूर्व काल में सौवीर कहलाता था) तथा पंजाब के बीच में फैला हुआ है।

सिद्धार्थपुर—राढ देश से चलते हुए भगवान् महावीर यहाँ आये थे। यहाँ पर उनको संगमक ने उपसर्ग किया था। सिद्धार्थपुर संभवतः उड़ीसा में कहीं रहा होगा।

सिनपल्ली (सिणपल्ली)—यह गाँव पूर्व दिशा से सिन्धु देश की ओर जाते समय बीच में पड़ता था। इसके आस पास का प्रदेश विकट मरुस्थल भूमि थी। जैनसूत्रों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि सिनपल्ली के मार्ग निर्जल और छायारहित थे। एक सूत्रोल्लेख है कि सिनपल्ली के दीर्घ मार्ग में केवल एक ही वृक्ष आता है। देवप्रभसूरि के पाण्डवचरित्र महाकाव्य में उल्लेख है कि जरासन्ध के साथ यादवों ने सिनपल्ली के पास सरस्वती नदी के तट पर युद्ध किया था और युद्ध में अपनी जीत होने पर वे आनन्दवश होकर नाचे थे, जिससे सिनपल्ली ही बाद में आनन्दपुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कुछ भी हो पर इससे यह तो निश्चित है कि सिनपल्ली मरुभूमि में एक प्रसिद्ध नगर था जो बाद में आनन्दपुर के रूप में परिवर्तित हो गया था। जैन सूत्रों के अनेक उल्लेखों से उक्त बात का समर्थन होता है। हमारे विचारानुसार बीकानेर राज्य के उत्तर प्रदेश में अवस्थित 'आदनपुर' नामक गाँव ही प्राचीन आनन्दपुर का प्रतीक हो तो आश्चर्य नहीं है।

सुक्छेत्ता (सुक्षेत्र)—यहाँ पर महावीर को उपसर्ग सहन करना पड़ा था। यह स्थान संभवतः अंग देश की भूमि में था।

सुघोष नगर—इसके समीप देवरमण नामक उद्यान था और उसमें वीरसेन यक्ष का मंदिर था। तत्कालीन राजा का नाम अर्जुन और रानी का तत्त्ववती था। राजकुमार भद्रनन्दी को महावीर के उपदेश से वास्तविक बुद्धि हुई थी। पहले वह जैन श्रावक और पुनः भगवान् के पास आकर जैन श्रमण बना था। सुघोष नगर किस देश के प्रदेश में था इसका निर्णय होना बाकी है।

सुभोम—यहाँ भी महावीर को भिक्षावृत्ति करते समय सताया गया था। यह गाँव भी कलिंग भूमि में था।

सुमंगला ग्राम—यहाँ पर महावीर को कुशल पूछने के लिये सनत्कुमारेन्द्र आया था।

यह गाँव कहाँ था यह बताना कठिन है। संभव है यह स्थान अंग भूमि में कहीं रहा होगा।

सुरभिपुर—श्वेताम्बी से चलते हुए महावीर क्रमशः सुरभिपुर आये थे और यहाँ से नाव द्वारा गंगा पार करके थूणाक संनिवेश गये थे। यहाँ गङ्गा उतरते समय एक बड़ा भारी ववंडर आया था और नाव उलटते उलटते वच गई थी।

सुरभिपुर विदेह से मगध जाते बीचमें आता था और गङ्गा के उत्तर तट पर स्थित था। संभव है यह विदेह भूमि की दक्षिणी सीमा का अन्तिम स्थान हो।

सुवर्णखल—राजगृह निकटवर्ती कोल्लाकसंनिवेश से चम्पा की तरफ जाते सुवर्णखल बीच में आता था जहाँ जाते समय बीच में गोपालों द्वारा पकाई जाती खीर देख कर गोशालक वहाँ ठहर गया था और महावीर के कथनानुसार हाँडो के फूट जाने पर गोशालक ने नियतिवाद का सिद्धान्त पकड़ा था। यहाँ से ब्राह्मणगाँव होकर दोनों चम्पानगरी पहुँचे थे। इससे यह सुवर्णखल राजगृह से पूर्व दिशा में था और वाचाला के निकटवर्ती कनकखल आश्रमपद से भिन्न स्थान था।

सुवर्णवालुका—यह नदी दोनों वाचाला नगरियों के बीच में पड़ती थी। इसी नदी के पुलिन में भगवान् महावीर का अर्धवस्त्र गिर कर रह गया था।

सुंसुमार—यहाँ पर महावीर को शरण कर चमरेन्द्र ने इन्द्र पर चढ़ाई की थी और इन्द्र के वज्र प्रहार से भयभीत होकर वह महावीर के चरणों में गिरा था।

सुंसुमार मिर्जापुर जिला में वर्तमान चुनार के निकट एक पहाड़ी नगर था। कई विद्वान् सुंसुमार को भर्ग देश की राजधानी बताते हैं।

सुह्म—कई विद्वान् हुगली और मिदनापुर के बीच के प्रदेश को 'सुह्म' समझते हैं, जो उड़ीसा की सीमा पर फैला हुआ दक्षिण वंग का प्रदेश है। इनके मत में दक्षिण वंग ही, जिसकी राजधानी ताम्रलिप्ति थी, सुह्म देश था। कई विद्वानों के विचार में हजारीबाग, संथाल परगना जिलों के कुछ भाग प्राचीन सुह्म होना ठीक जँचता है। तब वैजयन्तीकार ने सुह्म को राढ का ही नामान्तर मान लिया है। इन सब

मत विकल्पों का तात्पर्य हमको यही मिलता है कि हजारीबाग से पूर्व में जहाँ पहले भंगी देश था उसका पूर्व प्रदेश, राढ़ का दक्षिण पश्चिमी कुछ भाग और दक्षिणी वंग का थोड़ा पश्चिमी भाग पहले सुह्म के नाम से प्रसिद्ध था।

सूरसेन—मथुरा के आसपास का भूमि-भाग पूर्वकाल में सूरसेन देश के नाम से प्रसिद्ध था। जैनसूत्रोक्त साढ़े पचीस आर्य देशों में सूरसेन का उल्लेख है। इस देश की राजधानी मथुरा थी।

सुसुमारनगर—'सुंसुमार' शब्द देखिये।

सेयविया—श्वेताम्बिका शब्द देखिये।

सेयंविया—श्वेताम्बिका शब्द देखिये।

सौगंधिका नगरी (सोगंधिया नगरी)—इसके समीप नीलाशोक उद्यान था जिसमें सुकाल यक्ष का स्थान था। तत्कालीन राजा का नाम अप्रतिहत और रानी का सुकृष्णा देवी था। भगवान् महावीर ने यहाँ पर कुमार जिनदास को उसके पूर्वभव के कथनपूर्वक गृहस्थधर्म और साधुधर्म की दीक्षा दी थी।

सौगन्धिका नगरी कहाँ थी इसका पता नहीं चला।

सौराष्ट्र—जैनसूत्रोक्त साढ़े पचीस आर्य देशों में सौराष्ट्र भी संमिलित है। इसकी राजधानी द्वारिका थी। महावीर ने सौराष्ट्र तक विहार किया था यह कहना साहस-मात्र होगा। सूत्रों, चरित्रों में वैसा उल्लेख नहीं है। हाँ, शत्रुञ्जय-माहात्म्य जैसे माहात्म्य-ग्रन्थों से यह कह सकते हैं कि उन्होंने सौराष्ट्र में विहार किया होगा।

आधुनिक जुनागढ़ के आसपास का प्रदेश सोरठ के नाम से प्रसिद्ध है, जो सौराष्ट्र का अपभ्रंश माना जा सकता है।

सौर्यपुर—प्राचीन कुशार्त देश की राजधानी सौर्यपुर द्वारिका से पहले की यादवों की राजधानी है। आगरा से उत्तरपश्चिम में यमुना नदी के समीप जहाँ वटेश्वर गाँव है वहीं प्राचीन सौर्यपुर था। महावीर के समय में सौर्यपुर के राजा का नाम सौर्यद्त्त था। यहाँ के सौर्या-

वतंसक उद्यान में महावीर ने यहाँ के सौर्यदत्त नामक मच्छीमार के पूर्वभवों का वर्णन किया था।

सौर्यावतंसक—सौर्यपुर के उद्यान का नाम जहाँ भगवान् महावीर ठहरा करते थे।

सौवीर—आजकल का कच्छ देश जो सिन्धु जनपद से दक्षिण में है, पहले सोवोर कहलाता था। महावीर के समय में इस देश का राज्य सिन्धु से अविभक्त था।

हलिद्रुकग्राम (हलिद्दुग गाम)—यह गाँव श्रावस्ती के पूर्व परिसर में था। एक बार महावीर और गोशालक ने इसके बाहर हरिद्रुक वृक्ष के नीचे रात्रि वास किया था, जहाँ महावीर के दोनों पैर पथिकों द्वारा जलाई हुई आग से झुलस गए थे।

हस्तिनापुर—इस नगर के लिये हस्तिनी, हास्तिनपुर, गजपुर आदि अनेक नाम कवियों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। किसी समय यह नगर कुरु देश का एक नगर था।

आजकल हस्तिनापुर की अवस्थिति मेरठ से बाइस मील पूर्वोत्तर और बिजनौर से नैर्ऋत्य में बूढी गङ्गा के दाहिने किनारे पर मानी गई है। विशेष के लिये गजपुर शब्द देखिये।

हस्तियाम उद्यान—नालंदा बाहिरिका के समीप यह उपवन था। कभी-कभी भगवान् महावीर यहाँ भी ठहरते थे।

हस्तिशीर्ष—इस गाँव के श्मशान में महावीर ने ध्यान किया था। संगमकदेव ने यहाँ भी महावीर को सताया था।

यह गाँव संभवतः उड़ीसा के पश्चिमोत्तर प्रदेश में कहीं था।

हस्तिशीर्ष नगर—इसके बाहर पुष्पकरण्डक उद्यान था, जहाँ कृतवनमालप्रिय यक्ष का मंदिर था। तत्कालीन राजा का नाम अदीन-शत्रु और रानी का धारिणी देवी था। भगवान् महावीर ने इनके पुत्र सुबाहुकुमार को पहले श्राद्धधर्म और दूसरी बार श्रमणधर्म की दीक्षा दी थी।

जैन कथानकों के वर्णनों से ज्ञात होता है कि हस्तिशीर्ष नगर उस देश की राजधानी थी, जिसकी सीमा कुरुदेश की सीमा से मिलती थी। इससे स्पष्ट है कि यह स्थान कुरु देश से अधिक दूर नहीं होगा।

[नोट—'विहारस्थल-नाम-कोष' में लिखे हुए सभी नाम 'श्रमण भगवान् महावीर' में नहीं आये, फिर भी हमने इनका इसमें संग्रह किया। इसका कारण यही है कि जैनसूत्रों, चरित्रों और अन्यान्य ग्रन्थों में महावीर के विहारप्रसङ्गों में इनके उल्लेख दृष्टिगोचर हुआ करते हैं। हमारी इच्छा थी कि जहां-जहां भी महावीर विचरे हैं, उन सभी स्थानों का यथोपलब्ध परिचय दिया जाय जिससे अब नहीं तो भविष्य में भी इनका उपयोग हो सके। लेखक]

शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
कमरिग्राम	—कर्मारग्राम	५	२
किसी अन्य दिगंबर	—दिगंबर	१२	२४
स्वभाव से	—स्वभावसे	१३	१
शुक्ला दशमी	—कृष्णा दशमी	१४	१३
चरित्र	—चारित्र	१५	४
कमरिग्राम	कर्मारग्राम	१६	७
"	"	१७	८
टीका	टोका	१७	२८
सन्निनेश	संनिवेश	२२	४
चाजे-गाजों	वाजों गाजों	२९	२२
कैसा भा	कैसा भी	३८	१७
नालुका	वालुका	"	२३
सुभोग	सुभोम	"	"
भगवान् का	भगवान् को	४१	१६
सुच्छेवा	सुच्छेत्ता	४४	३
सोमिलाचार्य	सोमिलार्य	४८	८
पन्य	पन्थ	४९	५
कोसलनिवासी	—कोसलानिवासी	५०	१५
संज्ञासीत्यरे	—संज्ञास्तोत्यरे	५१	२७
०स्येशानो	—०स्येशानो	५४	२८
यह	—यह	"	"
विज्ञानघन	—विज्ञानघन	५९	४
भावान्तर	—भवान्तर	६३	२३,२५
होवा है	होते हैं	६६	१३
करके के	करके	६७	१५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
ठीका	टीका	६८	२३
अकम्मिक	अकम्पिक	७१	४
मगवान्	भगवान्	७१	७
पदाथ	पदार्थ	७२	२१
शुक्ला दशमी	शुक्ला एकादशी	७४	७
तिर्यञ्ज	तिर्यञ्च	७५	९
के कुछ	ये दो	७५	२२
होते	देते	७५	२७
१२	१२ अतिथिसंविभाग	७८	९
मुधर्म	सुधर्म	७८	१६
खुले गये	खुल गये	७९	१०
भिर भी	फिर भी	८३	११
प्रश्न भी	भी प्रश्न	८४	२६
न चल पड़े	चल पड़े	९०	२०
गोशालाक	गोशालक	९५	२३
एक एक	एक	९६	८
बांध कर	बींध कर	९७	२०
भगवान् !	भगवन् !	१०८	२५
असिद्धि	असिद्ध	११०	२०
"	"	"	"
द्रव्यामय	द्रव्यमय	११५	२६
शाश्वत्	शाश्वत	११५	२९
चरित्र	चारित्र	११६	१०
बोला	गोशालक बोला	१३०	१४
चरम	चरमों	१३४	२८
कुश गया	कृश हो गया	१३८	२८
श्रवण	श्रमण	१४४	५
जाज्वल्य	जाज्वल्यमान	१४६	२२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
करने	करने के	१५३	१९
श्रपणोपासक	श्रमणोपासक	१५५	१४
सरिस	सरिसवय	१५९	१७
प्रांशु	पांशु	„	१८
पैशून्य	पैशुन्य	१६७	२७
माया, मृषा	मायामृषा	१६७	२८
त	व्रत	१७७	१
श्रमाणोपासक	श्रमणोपासक	१७९	१८
मिथ्यात्व और शल्य	—और मिथ्यात्वशल्य	१८८	१७
प्रकाशक का	प्रकाश का	१९४	१०
पर	पर भी	१९६	२३
पारभाविक	पारभविक	१९८	२
अगमन्।	अगमन्	२१७	२
पल्पोपम	पल्योपम	२४४	२०
राज के परिवार	राजपरिवार	२४५	५
प्रणतकल्प	प्राणतकल्प	२५४	६,७
निश्चयानुसार	निश्चयनयानुसार	२५५	१०
'करे माणे' कडे'	'करेमाणे कडे'	२५६	१५
ग्रणेयक	ग्रैणेयक	२६४	१४
बोटों का	बींटों का	२६५	२८
चरित्त	चरित	२८२	२६
बाप की	बाप का	२८३	२६
बद्लना	बद्लवा	२९२	६
जिनफल्प	जिनकल्पी	२९२	२२
सने	घसने	२९३	१३
मौक्तिय	मौक्तिक	२९५	६
हुई थी	हुआ था	२९७	३०
ऽप्ययवाइ	ऽप्यपयाइ	२९७	२५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
परतना	परठना	२९९	१४
कल्हिक	कल्पिक	३०७	२१
आओ आओ	जाओ जाओ	३१०	२०
काल, ग्रहण	कालग्रहण	३१७	६
झेलनेवाली	झलनेवाली	३२४	१५
समम	समय	३२५	११
व्रारितो,	वइरितो	३२५	१५
वाणियतो,	वाणियतो	३२५	२०
काडियगणो	कोडियगणे	३२६	२
राया	एया	३२६	६
परन्परा	परम्परा	३२७	२१
कर्मप्रकृति,	कर्मप्रकृति—	३२८	१८
अहार	आहार	३३१	१५
दिम्वर	दिगम्बर	३३०	२
अनुत्तरोपपात्तिक	अनुत्तरोपपातिक	३३४	११
किदिकम्मे	(किदिकम्मे)	३३६	१०
पर्यूषण	पर्युषण	३३६	१४
अर्व्वा	अव्वी	३३९	३
'$\frac{1}{2}$'	$\frac{1}{2}$	३३९	१२
आरधना	आराधना	३४३	२८
श्रोताम्बर	श्वेताम्बर	३४७	३
नौ बार	९ वाँ	३५३	१६
तात्कालीन	तत्कालीन	३५५	८
प्रद्योत वंश	प्रद्योतवंश	३५६	८
तिश्यगुप्त	तिष्यगुप्त	३५८	१९
ऋषभपुरमें	ऋषभपुर	"	"
तात्कालीन	तत्कालीन	३५९	८
पहले पहल	पहले	३६२	९

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
कोस	कोच्छ	३६२	२८
कौशिक कच्छ	कौशिकी कच्छ	३६३	१
अर्य	आर्य	६६३	२१
होता	होता है	३६४	२४
अंग (मगध)	अंग-मगध	३६९	४
—संनिवेश	यह संनिवेश	३७१	११
नन्द्चैत्य	नन्दनचैत्य	३७३	२१
नलंदा	नालंदा	३७४	७
(पत्रकक्कालक)	(पत्रकालक)	३७४	१४
तात्कालीन	तत्कालीन	,,	२३
विन्ध्या	विन्ध्य	३७४	२८
भमि	भूमि	३७६	१९
छमास्थावस्था	छद्मस्थावस्था	३८०	५
मैथिलिया	मैथिलीया	३८३	१२
एक रात ठहरे थे	एक रात ठहरे थे और वर्षावास निकट आने पर फिर आकर वर्षावास ठहरे थे।	३८४	१६
डेढ़ दिन के बाद	पंद्रह दिन के बाद	३८४	१६
मोद्दागिरि	मोदागिरि	३८५	८
साढ़े बारह मील	१२५ मील	३९०	६
गाई थी	की थी	३९१	२६
सर्वतोभद्र का	सर्वतोभद्र	३९२	२६
एक नगर	पट्ट नगर	३९७	१४
पुप्यकरण्डक	पुष्पकरण्डक	३९७	२३

प्रस्तावना तथा विषयसूची

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
नन्दीपिता	नन्दिनीपिता	VI	१५
राजगृहमें	राजगृहसे	XII	१३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति
आघारों	आधारों	XIV	१२
जीवन-जीवन	जीवन	XXIII	१३
गुणागान	गुणगान	XXIV	२४
तिलस्तंत्र	तिलस्तंब	XXV	११
लच्छआड़	लच्छुआड़	"	२६
विदेहं सिकट्टु	विदेहंसि कट्टु	XXVI	१
अथिक	अस्थिक	XXXI	२३
ंगा	गंगा	"	२६
नगरी में	नगरी से	XXXII	१३
कपलि से	कयलि–	"	"
पुरियताल	पुरिमताल	"	२१
साधन और	साधन और निमित्तपठन		२४
मनुप्यत्व	मनुष्यत्व	XXXIII	२९
गांगलि	गागलि	XXXVI	१६
तात्कालीन	तत्कालीन	XXXVII	२१
धर्मश्रुत	धर्म्यश्रुत	XXXIII	१३
अग्निभूत	अग्निभूति	"	२६
